बिन्दु प्रतिबिन्दु

समकालीन आलोचना

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

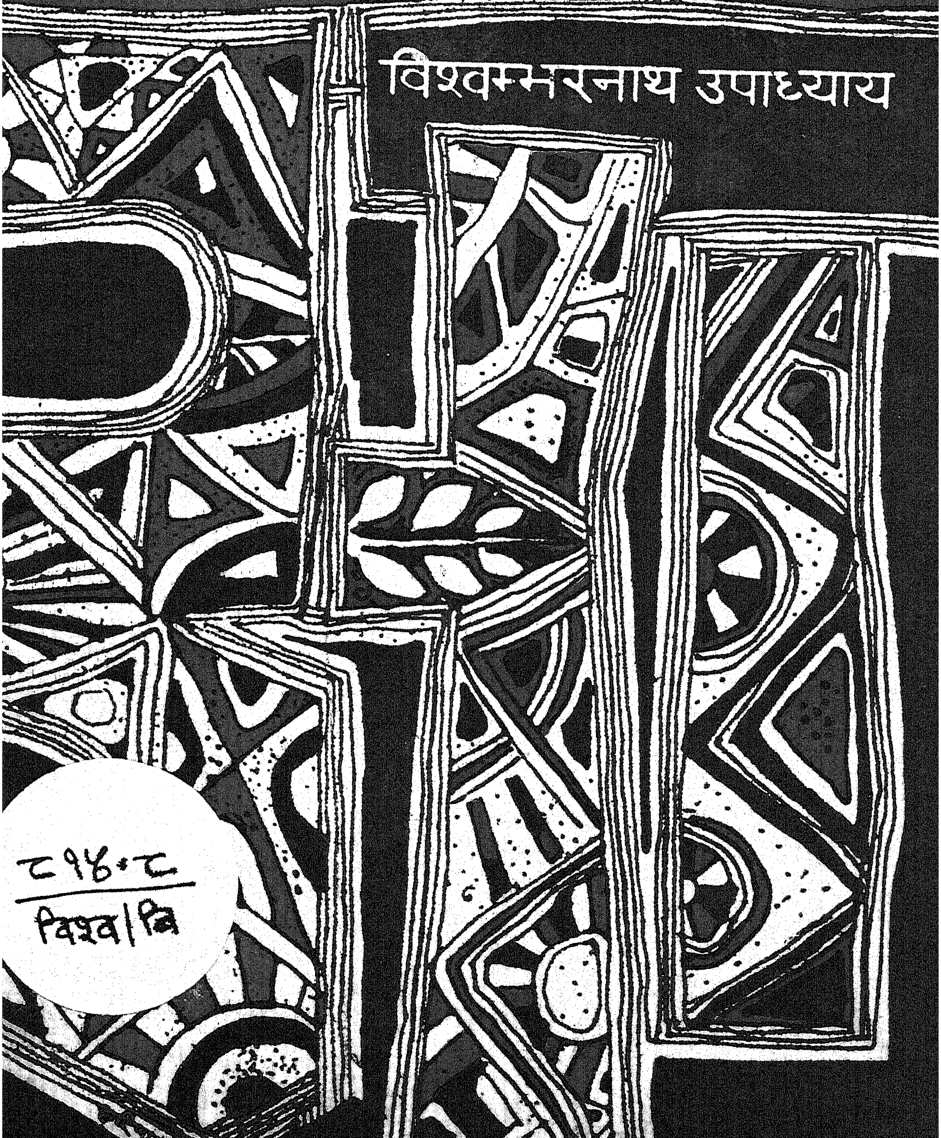

८१४.८
विश्व|बि

बिन्दु प्रति बिन्दु : समकालीन आलोचना

बिन्दु प्रति बिन्दु

समकालीन आलोचना

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पंचशील प्रकाशन
जयपुर : दिल्ली

© विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, जयपुर 302003

संस्करण : प्रथम 1984

मूल्य : पैंतालीस रुपये

मुद्रक :
गोपाल आर्ट प्रिण्टर्स
जयपुर 302003

Bindu Priti Bindu : Samkalin Alochna
(Criticism) Price Rs. 45.00

मार्क्सवादी आलोचना

के

मनीषी

श्री शिवदानसिंह चौहान : डॉ० रामविलास शर्मा

को

सादर

प्राक्कथन

"बिन्दु प्रति बिन्दु" (Point-Counter point) मेरे समकालीन आलोचनात्मक निबंधों का संकलन है । इन निबंधों में कुछ निबंध सर्वप्रथम यहीं प्रकाशित हो रहे हैं किन्तु अधिकतर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं या परिसंवादों में पढ़े जा चुके हैं ।

वस्तुतः हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं या परिसंवादों में प्रकाशित-पठित निबंधों को, पुस्तकाकार-प्रकाशित करने की आवश्यकता इसलिए रहती है कि हमारी पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार अत्यन्त सीमित है और वे केवल कतिपय साहित्यजीवियों या साहित्यिक-बुद्धिजीवियों तक ही पहुँच पाती हैं या अधिक से अधिक पुस्तकालयों में किसी पत्रिका के पहुँच जाने पर, कुछ पाठक पढ़ लेते हैं, जिनमें प्रायः ऐसे पाठक होते हैं, जिनके दृष्टिपात में सरसरापन होता है ।

अभी हिन्दी साहित्य में, ऐसी लोकप्रिय-साहित्यिक-बौद्धिक पत्रिकाएँ नहीं हैं, जिनमें उच्चकोटि के वैचारिक-उत्तेजन में समर्थ, आलोचनात्मक निबंध (Critical Essays) प्रकाशित हो सकें । 'लोकप्रिय' पत्रिकाएँ जिन्हें माना जाता है, उनके सम्पादक अधिकतर चलताऊ-क़िस्म के निबंध प्रकाशित करते हैं, जिनसे बुद्धि पर अधिक दबाव न पड़े और मस्तिष्क से अधिक मनोविलास हो । 'लोकप्रिय' पत्रिकाओं द्वारा जो एक बौद्धिक जागरूकता जगाने-जगमगाने का प्रयत्न होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा है अतः जिन निबंधों में बिन्दु-प्रतिबिन्दुपरकता अधिक होती है, जिनमें नवीनतम धारणाओं और विचार-प्रवाहों का आलोचन-प्रत्यालोचन या दृष्टिकोणों की उच्चस्तरीय स्पर्धा और टकराहट होती है, उनको अधिक गरिष्ठ, अधिकबौद्धिक, अधिक विचारधारात्मक या अधिक पुस्तकीय कह कर, उनके लेखकों को विवश कर दिया जाता है कि वे अपनी इस प्रकार की वैचारिकता को या तो साहित्यिक पत्रिकाओं, शोध जर्नलों या सीमित प्रसार के अन्य पत्रों तक बद्ध रखें या व्यापक प्रचार-प्रसार और पठन-पाठन के लिए पुस्तकों का रूप दें ।

मैं चाहता था कि "बिन्दु-प्रतिबिन्दु" में केवल विचारशीलतापरक निबंध ही न जाएँ, साहित्यसमीक्षात्मक निबंध और आलेख या कृतीक्षापरक टिप्पण भी प्रकाशित हों ताकि चिन्तनप्रधान लेखन में जो दृष्टिबिन्दु और विचारपद्धति स्थापित हो, उसका व्यावहारिक-समीक्षा (Practical criticism) में प्रयुक्त रूप भी सामने आए और यह देखा जा सके कि सिद्धान्त और व्यवहार या प्रयोग की एकता बन

पाती है या नहीं किन्तु प्रकाशक महोदय ने मेरे आलोचनात्मक लेखन में से, ये ही विचारात्मक निबंध चुनें, जिनमें कविता और कहानी पर दो विश्लेषणात्मक समीक्षा के भी निबंध हैं, जिनमें "समकालीन कहानी-अन्तर्वस्तु" शीर्षक निबंध, पूर्व पुस्तक "जलते और उबलते प्रश्न" में भी प्रकाशित हो चुका है किन्तु यह पुस्तक अब प्राप्य नहीं है जबकि इस निबंध में अन्तर्वस्तु-विश्लेषण (Content-Analysis) की पद्धति की स्थापना है और शायद विश्लेषण-प्रविधि के एक विशिष्ट प्रतिरूप (Model) के कारण ही इस निबंध को पुनः चुना गया है। इसके बाद इधर की ताजा कहानियों तथा अन्य रचनाओं की अन्तर्वस्तु का विवेचन इस पद्धति पर हो सकता है, उसी प्रकार, जिस प्रकार "कवितात्मक लेखन-विरोध का नैरन्तर्य और नवीनता" में प्रयुक्त प्रविधि के आधार पर, इधर की नव्यतर कविताओं का विश्लेषण सम्भव है। अतएव इन निबंधों में, खास कर, "समकालीन कहानी-सामाजिक अन्तर्वस्तु" में प्रयुक्त प्रविधि का महत्व यह है कि आलोचना में निगमन-विधि (Inductive-Method) का प्रयोग हो सकता है और होना चाहिए।

प्रविधि की दृष्टि से लुकाच और लूसियें गोल्डमान द्वारा प्रस्तुत और प्रयुक्त क्रमशः संरचनात्मक और "उत्पत्तिमूलक संरचनात्मक प्रविधि" की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जिसकी ओर "बिन्दु-प्रतिबिन्दु" के कुछ निबंधों में ध्यान आकर्षित किया गया है।

सैद्धान्तिक या वैचारिक निबंधों में, इतिहासदर्शन, विशेषकर साहित्येतिहास-दर्शन की समस्या है, जिस पर इस पुस्तक में, "साहित्येतिहासदर्शन की समस्याएँ" तथा "ऐतिहासिक दृष्टि और हिन्दी साहित्य का इतिहास" शीर्षक निबंध दिये जा रहे हैं। प्रविधि (Methodology) से सम्बन्धित समस्या पर "साहित्य की शोध-प्रविधि--समाजविज्ञान से सम्बन्ध" निबंध में विचार किया गया है जो आज एक ज्वलन्त समस्या है।

साधारणीकरण, समकालीन अवधारणाएँ, "भाषा : मिथक और यथार्थ", "आत्मालोचन" और उपर्युक्त अन्य निबंधों में स्पष्टतः द्वन्द्वात्मक-दृष्टि है किंतु स्थान-स्थान पर, साम्प्रदायिकमार्क्सवाद की आलोचना है और ज्ञानात्मक स्तर पर जिज्ञासात्मक मुक्तता है जो बढ़ते हुए ज्ञान-विज्ञान की समकालीन स्थिति में हमें बौद्धिक चुनौती देती है कि हम न केवल वैज्ञानिकभौतिकवाद की मूल संकल्पनाओं की चतुष्कोटि के भीतर नवीनतम ज्ञानानुशासनों की अवधारणाओं और पद्धतियों का प्रयोग करें बल्कि शास्त्रीयमार्क्सवाद (क्लासिकल मार्क्सवाद) के मूल सूत्रों को भी नवीन जिज्ञासाओं के साथ पुनः पुनः परखते रहें ताकि "वैज्ञानिक" कहा जाने वाला, वैज्ञानिकभौतिकवाद, "धर्मदर्शन" (थियोलॉजी) या "संकीर्णसमाजशास्त्र" (Vulgar Sociology) का रूप धारण न कर ले।

इस प्रकार के संकेत हमें नवमार्क्सवादियों, अलथूसर, ग्रामशी और लूसियें गोल्डमान आदि में मिलते हैं। किन्तु यहाँ तथ्यप्रियता और स्वतन्त्र विवेक ही हमें

इन व्याख्याकारों की चकाचौंधक विद्वत्ता से बचा सकता है । वाद या सिद्धान्त, स्वतंत्र मानवविवेक के विकास में सहायता के लिए, तथ्यों के अम्बार में मार्ग बनाने और विचारों को व्यवस्था देने में अन्वेषक-आलोक (सर्चलाइट) का काम दे सकता है पर यदि अन्वेषक या आलोचक या विचारक में स्वतन्त्र सोचविचार की शक्ति नहीं है या वह सामान्यज्ञान (कॉमन सेंस) से रहित है तो कोई भी विचारधारा, चाहे वह "वैज्ञानिक" ही क्यों न हो, उसके वैचारिक विकास में मदद नहीं कर सकती, उसे वह मतान्ध और सूत्रोन्मत्त बना देगी । मार्क्सवाद के विकास का इतिहास प्रमाण है कि एक ओर तो वह मतांधता का शिकार हुआ है, दूसरी ओर विचलन और अति उदारवादिता का । "बिन्दु-प्रतिबिन्दु" में इन दोनों अतियों से बचने का प्रयत्न है, ऐसा मेरा विचार है ।

ज्ञानास्त्र के रूप में विचारधारा, विश्लेषण की एक विशिष्ट प्रविधि देती है या दे सकती है, मतान्धता के रूप में वह केवल पिष्टपेषण की पुनः पुनः पुष्टि करती है और प्रतिपक्ष या प्रतिबिन्दु के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा करती है किन्तु मुक्त मानस और खरे-खुलेपन का यह अर्थ नहीं है कि व्याख्याकारों का अन्धानुगमन किया जाये ।

उदाहरणतः यहाँ लूसिएँ गोल्डमान की इस अवधारणा की ओर ध्यान खींचा जा सकता है कि पश्चिमी योरोप में जरूरत "क्रान्ति" की नहीं, "क्रान्तिकारीसुधार" (Revolutionary Reforms) की है क्योंकि श्रमिकवर्ग, व्यवस्था में व्यवस्थित हो गया है और वह अब अकुशल-श्रमिक नहीं है, वह दक्ष-श्रमिक है । इस दक्ष-श्रमिक-वर्ग और दक्षमध्यवर्ग (वेतनभोगी दक्ष-समुदाय, दक्ष-शिल्पी, लघुव्यवसायी आदि) में अन्तर मिटता गया है अतः दक्षश्रमिक और दक्षमध्यमवर्ग संवैधानिक विधि पर, शासन को अपने हाथ में लेकर आवश्यक सुधार कर सकता है[1] और कंठावरोधक या गलाकाट प्रतियोगिता वाले, साम्प्रतिक पूंजीवादी व्यवस्था का स्वामित्व बदलकर वैषम्य और अ-लगाव (Alienation) को दूर कर सकता है:—

A—Ideas of self management,
B—Salary earning Middle classes
C—Revolutionary—Reformism

अब इस अभिमत पर, मतान्ध मार्क्सवादी तो भड़क कर इसे मार्क्सवादी क्रान्तिकारी दृष्टि के विरुद्ध सुधारवादी विचलन मानकर, इस विचार या व्याख्या की निन्दा करेगा और अति उदारवादी,इसे न केवल स्वीकार कर लेगा अपितु वह इसका सार्वभौमिकीकरण कर देगा ।

---

[1] "It is impossible to continue to rely exclusively on the concept of capitalist society as Marx elaborated it, what is needed is not a critique of Marx's thought but an attempt to extend it"—Reflections on History and class - consciousness"—"Aspects of History and class-consciousness"

किन्तु ये दोनों दृष्टि बिन्दु अविवेकी और असंगत होंगे क्योंकि वैज्ञानिक बुद्धि तो तथ्यों को देखती है, अमूर्त्त अवधारणा मात्र को नहीं अतएव जहाँ पश्चिमी-योरोपीय समाज के नए परिवर्तन या नवीनसमाजसंरचना के लिए विवेकशील व्यक्ति लूसियें गोल्डमान की अन्तर्दृष्टि पर अनुकूल रुख़ अपना सकता है, वहीं वह यह साफ़ साफ़ देख लेगा कि एशिया-अफ्रीका और लेटिन-अमरीका के समाजों में 'सुधार' से काम चलने वाला नहीं है क्योंकि इन देशों में अदक्ष श्रमिकवर्ग तथा अकुशल कृषक वर्ग का बहुमत है जो उच्चवर्ग द्वारा शोषित और प्रवंचित है अतः यहाँ सुधार अपर्याप्त प्रतीत होते हैं और 'क्रान्ति' एक सम्भावनापूर्ण विचार है ।

समकालीन समाजों में इस प्रकार की अवधारणाओं और विचारधाराओं की प्रासंगिकता यह है कि ये समाजसंरचना से जुड़ी हैं और साहित्यिक : कलात्मक रचना इस समाज-संरचना से । समकालीन साहित्य और कला का लक्षण ही यह हो गया है कि वह मनुष्य को उसके काल, कर्म और समाज-विन्यास की स्थितियों : परिस्थितियों : धारणाओं और विचारप्रवाहों से सम्बद्ध करती है । वह मनुष्य की कल्पना और यथार्थ की समानान्तरता को भंग करती है और यथार्थ के रूपान्तरण में, कल्पना का प्रयोग करना सिखाती है । समकालीनता, व्यक्ति के अ-लगाव के संरक्षण या उसे नियति मान लेने में नहीं है अपितु उसके कारणों-आर्थिक-सामाजिक राजनैतिक कारणों और शक्तियों की पहचान और परिवर्तन में है अतः सही समकालीनता रचना और समाजरचना के द्वैत और द्वैध को मिटाने में है, रचना को मात्र, समाजच्युत या समाजातीत व्यक्ति के साथ सीमित कर देना समकालीनता नहीं, पूंजीवादी देशों की, यथास्थितिशीलरक्षक, मिथ्या-चेतनाप्रसारक 'आधुनिकता' है अतः वह मानव-विरोधी है क्योंकि जो कोटि-कोटि मनुष्यों की नियति बदलने के दायित्व से मुख मोड़कर, असंगतियाँ देखकर,निराशावाद में निमग्न होकर,अजनबीपन पाल लेती है, वह मिथ्या और मारक "आधुनिकता" है, संघर्षशीलसमकालीनता नहीं ।

"बिन्दु-प्रतिबिन्दु" में यही दृष्टि है । यहाँ व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और संगठन, व्यक्ति और विचारधारा में अद्वैत और व्यक्ति तथा व्यक्ति में बन्धुत्व की वकालत है ।

समकालीनता की यह क्रान्तिकारी धारणा, उन समकालीनों के "विद्रोह" से भिन्न है जो वर्तमान सत्ता और व्यवस्था के तो घोर आलोचक / विध्वंसक हैं किन्तु जो अतीतजीवी, साम्प्रदायिक, पुनरुत्थानवादी राजनैतिक-दलों के समर्थक या अनुगामी हैं । साहित्य के क्षेत्र में, सप्तमदशक में, "व्यवस्थाविरोध" की जो लहर चली तो उसमें क्रान्तिकारी-प्रतिक्रान्तिकारी और भ्रांतिकारी तथा भोगचारी, सभी प्रकार के नानारूपधर जीव और अनेक योनियों के लेखक शामिल थे किन्तु धीरे-धीरे "समकालीन" व्यापक कोटिसूचक यह शब्द, प्रवृत्तिसूचक न रह कर, कालबोधक लगने लगा अतः अब यह आवश्यक है कि इसके पूर्व या तो कोई विशेषण जोड़ा

जाये या इस शब्द को छोड़ दिया जाये क्योंकि इस शब्द के अन्तर्गत उन्हें भी पनाह मिल गई है जो इस देश में जनमुक्ति- चेतना में बाधक हैं और किसी एक सम्प्रदाय, धर्म, क्षेत्र, भाषा या गिरोह के समर्थक हैं अथवा पूंजीवादी-सामन्तवादी शक्तियों के अभिकर्त्ता (दलाल) हैं।

समकालीन आलोचना-क्षेत्र में कतिपय तत्त्व, आलोचना की विवेचनात्मकता (Analytical Power) को कुण्ठित करने तथा उसे सामान्य-चिंतन और विचार प्रवाह से काटने के लिए सर्जना और आलोचना की भेदक रेखा को मिटा देना चाहते हैं। आलोचना, विचारणा, विवेचना-विश्लेषण और मूल्यमीमांसा एवम् मूल्यांकन है। वह 'सर्जनात्मक' उस अर्थ में नहीं हो सकती कि उसे पढ़ते समय लगे कि कविता हो रही है। वह तर्क, तथ्य और विश्लेषण का मार्ग अपनाकर, रचना के प्रयोजन, प्रक्रिया, परिणति, प्रभाव और मूल्य का निर्णय करती है अतः उसे न मात्र विचारधारा तक सीमित किया जा सकता है, न मात्र भाषा विश्लेषण (शैलीविज्ञान) या संकेत विवेचना (Semiotics) से, न मात्र इतिहासलेखन से, न मात्र मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक ऊहापोह से। वह इन सबका यथास्थान उपयोग करती है। वह सर्जनात्मक होकर भी, अपनी मुख्य विवेचनात्मक-मूल्यांकनपरक भूमिका पूरी करती है अतएव उसे किसी एक विधि-प्रविधि, किसी एक प्रकार या प्रारूप से नहीं बाँधा जा सकता। वह कृति के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी छानबीन भी करती है और मूल्य निर्णय के लिए उसके परे जाकर, सम्पूर्णता (Totality) में सभी ज्ञानानुशासनों से लाभान्वित-आलोकित होती हुई, सबसे ऊपर उठकर, न्याय और निर्णय करती है। वह रचना रूपी हिरण्य से ढँके सत्य का उद्‌घाटन भी करती है और उसके अवयवी या सौन्दर्य का विमोचन भी। वह अवांछनीय को ध्वस्त भी करती है और वांछनीय और उत्कृष्ट का अभिषेक भी।

आलोचनात्मक निबंधों की विशेषता यह होती है कि प्रत्येक निबंध अपने में स्वतन्त्र पुस्तक होते हुए भी, मूल दृष्टि-बिन्दु के अन्तस्सूत्र से संग्रथित होता है या होना चाहिए। विषय वैविध्य, इसी अन्तर्व्यप्ति दृष्टि-धारा के कारण एकान्वित हो जाता है। चूँकि आलोचनात्मकलेखन, समय-समय पर, किसी विचार, कृति या प्रवृत्ति पर ध्यान केन्द्रित करके उपजता है अतः उसमें अपने समय की पगचाप और ध्यान की एकाग्रता अधिक होती है। मैं समझता हूँ, "समकालीन" शब्द इस कारण भी सार्थक होता है।

आलोचना-क्षेत्र में, बौद्धिक-आलोचनात्मक चुनौतियों के कारण ही मैंने अनवरत अध्ययन-मनन और लेखन किया है। मसलन् संकीर्ण समाजशास्त्रीय दृष्टि के विरोध और सही परिप्रेक्ष्य की स्थापना के लिए मैंने पन्त और निराला पर लिखा ("निराला की साहित्य साधना" और "पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन")। इसी तरह "आधुनिक कविता : सिद्धान्त और समीक्षा" में भी यही प्रयत्न किया गया। "सूरदास का भ्रमरगीत", "कबीरदास", "सन्त वैष्णवकाव्य पर तांत्रिक प्रभाव" (शोध), "हिन्दी की दार्शनिक पृष्टभूमि" तथा "हिन्दी की तांत्रिकपृष्ठभूमि"

में, मध्यकालीन साहित्य के पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन विचार प्रवाहों का मंथन कर, उनके प्रगतिशील पक्षों को रेखाँकित करते हुए, उनके विशद मूल्याँकन के सन्दर्भ में, उन व्याख्याओं का विरोध किया गया जो सन्त और भक्त कवियों के साहित्य की सही भूमिका को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करती थीं।

"समकालीन कविता की भूमिका", "समकालीनकहानियाँ" तथा "समकालीन सिद्धान्त और साहित्य" में अपने समय के सृजन और चिंतन का आलोचनात्मक अवगाहन किया गया और यहाँ भी रुख बिन्दु-प्रतिबिन्दुपरक ही रहा। ये आलोचनाएँ एक विचारधारात्मक संघर्ष की जद्दोजेहद और जिहाद की भी एक बानगी पेश करती हैं और वे, सामाजिक-परिवर्तन की कशमकश की अंग हैं, मात्र औपचारिक या सारस्वत आलोचनाएँ नहीं हैं।

इसी प्रकार "भारतीय काव्यशास्त्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन" में यह कोशिश है कि द्वन्द्वात्मक दृष्टि बिन्दु से, भारतीय परम्परा का ऐतिहासिकभौतिकवादी और द्वन्द्वात्मकभौतिकवादी पद्धति पर आलोड़न और मूल्यांकन हो और "निषेध के निषेध" के सिद्धान्त के आधार पर जो परम्परा में वरेण्य है, उस अवधारणात्मक धरोहर का आधुनिक साहित्य और कला के विवेचन-मूल्यांकन में उपयोग के लिए पेशकश की जाए।

किसी दृष्टिकोण के निश्चित हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि वह "पूर्वाग्रह" है। अणुवादी (Atomistic) दृष्टिबोध का प्रचार हमारे देश में, इधर पिछले वर्षों में बहुत हुआ है। इसका एक रूप 'तथ्यवाद' (इम्पिरीसिज़्म) भी है जो 'पूर्वकल्पना' (हायपोथीसिस) को भी 'पूर्वाग्रह' कह देती है। किन्तु पूर्वाग्रह और पूर्वकल्पना में अन्तर यह है कि पूर्वकल्पना में विवेचक तथ्यों के अवलोकन के समय अर्थात् किसी विषय के अध्ययन-विश्लेषण के क्षण में, यह देखता है कि पूर्वनिश्चित संकल्पना या अवधारणा या वाद, व्याख्या से पुष्ट हो रहा है या नहीं है ? जबकि पूर्वाग्रह में यह चेतना जाँच-पड़ताल की प्रवृत्ति ही स्थगित हो जाती है और व्यक्ति अपनी मान्यता पर अड़ जाता है और तथ्यों की काट-छाँट कर, उस पूर्व-मान्य दृष्टिबिन्दु या अभिमत को सही सिद्ध करने लगता है।

अतएव, कार्ल मार्क्स या अन्य किसी विचारक के सूत्र या दृष्टिबिन्दु प्रासंगिक या सम्भावनापूर्ण लगते है तो उन्हें पूर्व कल्पना के रूप में नहीं अपनाया जाना चाहिये, वेदवाक्य के रूप में नहीं। यदि वे विवेचना या प्रयोग से पुष्ट होते है तो उन्हें मानना पूर्वाग्रह नहीं, सत्याग्रह है।

मार्क्स ने जो अपने लिए दस आप्त वाक्य (कमांडमैंट्स) बनाये थे, उनमें प्रथम था कि प्रत्येक बात पर सन्देह करो। अतएव ऐसे मुक्त जिज्ञासु के चिंतनसूत्रों को पूर्वकल्पना के रूप में लेकर, विश्लेषण के समय यह देखते रहना है कि वाद, विवेचना पर आरोपित तो नहीं हो रहा है ?

मैं यह मानता हूँ कि सतत सावधानी से, पूर्वनिश्चित अवधारणाओं या प्रत्ययों का प्रयोग, वैज्ञानिक विधि पर हो सकता है।

'बिन्दु प्रतिइन्दु' में यही प्रयत्न किया गया है।

इस दीर्घ आलोचनात्मक-मनन-मूल्यांकन की कालावधि के मध्य, रचनात्मक और विचारात्मक चुनौतियों और चिन्ताओं की प्रेरणा से, जो समय-समय पर निबंध लिखे गए, उनका प्रथम संग्रह तो "जलते और उबलते प्रश्न" था और अब यह द्वितीय संग्रह "बिन्दु प्रतिबिन्दु" है। यह सिलसिला, आगे के निबंधसंग्रहों में भी चलेगा।

पंचशील-प्रकाशन, जयपुर "बिन्दु-प्रतिबिन्दु" को प्रकाशित कर रहा है अतएव इस संस्था के प्रति लेखकीय आभार व्यक्त करता हूँ।

ईशु दिवस
25, दिसम्बर, 1983

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

अनुक्रम

साहित्येतिहास-दर्शन की समस्याएँ 1

ऐतिहासिक दृष्टि और हिन्दी साहित्य का इतिहास 15

साहित्य की शोध-प्रविधि : समाजविज्ञान से सम्बन्ध 23

साधारणीकरण की प्रक्रिया में द्वन्द्वात्मकता 31

समकालीन काव्यगत अवधारणाएँ 42

प्रगतिशीलता : वामदिशा 50

भाषा मिथक और यथार्थ 57

आत्मालोचन 68

रचना : परिवेश 75

साम्प्रतिक स्थिति और लेखकीय विकल्प 84

व्यक्तित्व वनाम व्यापकता 92

साहित्यकार का अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य 99

डॉ. रांगेवराघव—व्यक्तित्व : चिंतन : लेखन 104

प्रेमचन्द : प्रेमचन्दोत्तरता 119

कवितात्मक लेखन : विरोध का नैरन्तर्य और नवीनता 126

समकालीन कहानी : सामाजिक अन्तर्वस्तु 147

अन्तर्वस्तु और रूप की संगति 159

मार्क्सवाद-कला और साहित्य के सन्दर्भ में 167

भक्तिकाल पुनर्मूल्यांकन: प्रासंगिकता 174

साहित्येतिहास-दर्शन की समस्याएँ

इतिहास क्या है, क्या इतिहास सम्भव है ? यह मूलभूत प्रश्न है । क्योंकि इतिहास मनुष्यों के क्रियाकलाप के विवरण या व्याख्या का नाम है, अतएव वह अनिवार्यत: सब मनस्तात्त्विक और सांस्कृतिक प्रश्नों या उपकरणों को भी समेट लेता है । इस कारण इतिहासदर्शन और संस्कृतिदर्शन एक हो जाते हैं । और समाजदर्शन तो वह है ही, क्योंकि इतिहास में किसी मानवसमूह या समूहों के उद्भव, विकास, ह्रास और अभ्युदय का आलेख रहता है ।

स्पैंगुलर ने "पश्चिम के पतन" शीर्षक ग्रन्थ में इतिहास और संस्कृति को प्राणी के रूप में देखा है । जैसे किसी जीव या प्राणी या पौधे का उद्भव, विकास और ह्रास होता है, वैसे ही मानव संस्कृतियों का भी होता है । इसी अवधारणा के आधार पर टायन्बी ने विश्व की प्रमुख संस्कृतियों के उत्थान-पतन का अध्ययन किया और बताया कि जातियाँ या समाज, चुनौती (चैलेन्ज) और प्रतिक्रिया (रिस्पांस) की लय में विकसित होते हैं और अन्त में चुनौतियों का जवाब देते तथा उन्नति–अवनति के चक्र से गुजरते हुए मानवसमाज क्लान्त हो जाते हैं और उनमें चुनौतियों का जवाब देने की शक्ति नहीं रहती । सभ्यताओं और संस्कृतियों के पतन का यही कारण है ।

उक्त दोनों समाजदार्शनिकों ने सिद्ध किया कि पश्चिमी योरोप की सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुख हो गई है । वह विनाशोन्मुख है क्योंकि वह उन्नति के चरम बिन्दु को छूकर अब नयी चुनौतियों के अनुरूप अपने को अनुकूलित करने या बदलने में असमर्थ हो चुकी है । उसकी आन्तरिक शक्ति के इस ह्रास का ही यह प्रमाण है कि पश्चिमी चिंतन और कला पतनशील अवरोध का शिकार बन गई है । उसमें उल्लास, उत्साह, आशा और आत्मविश्वास नहीं है ।

कार्लमार्क्स ने उक्त निराशावादी इतिहास-दृष्टि से भिन्न, विकासवादी, आशावादी इतिहासदृष्टि की स्थापना की और ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास को समझने की वस्तुगत पद्धति का अनुसंधान किया । मार्क्सवादियों ने

मानवघटनाओं में विन्यास (पैटर्न) खोजने की कोशिश की और घटना के प्रेरक हेतुओं में प्राथमिकता और गौणता की स्थितियों की गवेषणा की ।

उदाहरणत: समग्र मानव समाज के प्रारम्भ से अब तक, इतिहास पर विहगावलोकन से एक विन्यास उभरता है । इस विन्यास की कल्पना नहीं की जा रही है बल्कि यह विन्यास स्वयं घटना या घटने की प्रक्रिया में निहित रहता है और स्वत: उभरता है, सचेत इतिहासकार के अवलोकन में आता है ।

मानव-जीवन का प्राथमिक धरातल आवश्यकताओं का होता है । अन्य प्राणियों में भी यही स्थिति है अतएव विकास का प्रथम प्रेरक हेतु आर्थिक होता है । आर्थिक उत्पादन के साधनों और वितरण के इतिहास का अध्ययन, मानव-इतिहास को समझने की कुंजी है, क्योंकि मानव समाज की चेतना या संस्कृति या विश्वास का भवन (विधि, कला, साहित्य, दर्शन, धर्म. आचार-विचार-व्यवहार आदि) आर्थिक मूलाधार पर खड़ा हुआ है । जैसा आर्थिक आधार होगा, वैसा ही कानून होगा, वैसे ही विश्वास, आदर्श और मूल्य होंगे अतएव समाज की मूलसंरचना (आर्थिक उत्पादन के साधन और वितरण) और अधिसंरचना (सुपर स्ट्रक्चर) में बोधगम्य सम्बन्ध होता है ।

यदि मूल संरचना और अधिसंरचना में समवाय सम्बन्ध है, तब अधिसंरचना का स्वतन्त्र अथवा मूलसंरचना से निरपेक्ष इतिहास नहीं हो सकता ।

इसका अभिप्राय यह है कि विधि, धर्म. साहित्य, दर्शन और कलाओं का स्वतन्त्र इतिहास सम्भव नहीं है, क्योंकि अधिसंरचना मूलसंरचना से **समग्रत**: नियमित (डिटरमिण्ड) होती है । विचार, विश्वास, कला और कानून एक विशिष्ट सामाजिक सोपान को प्रतिबिम्बित करते हैं जबकि प्रतीत यह होता है कि विचार, वास्तविक-जीवन से स्वतन्त्र या अनियमित क्रिया है । यदि यह सही है और मार्क्सवाद के अनुसार यही सत्य है, तब कानून, दर्शन, धर्म, कला या साहित्य का वस्तुगत इतिहास तभी लिखा जा सकता है, जब इतिहासकार पहले समाज के विकास का, मूलसंरचना या आर्थिक उत्पादन और वितरण का इतिहास लिखे और उसके सन्दर्भ में यह देखे कि किस प्रकार उत्पादन के साधनों और वितरण के अनुरूप उस समाज के विचारों या कलाओं का विकास हुआ है ।

कार्ल मार्क्स और एंगिल्स, मानवइतिहास को विकासमूलक मानते हैं, टायन्बी और स्पैंगुलर की तरह ह्रासमूलक नहीं । मार्क्स के अनुसार इतिहास की गति, फैले हुए दूध की तरह होती है, चक्र की तरह नहीं । विकास के आदिबिन्दु (आदिम साम्यवाद या कबीलाई व्यवस्था) से मानवइतिहास ऊर्ध्वगति प्राप्त करता गया है (आदिमसाम्यवाद→ सामंतवाद→ पूंजीवाद→ साम्यवाद) । ऐसा कहीं नहीं हुआ कि कोई समाज ह्रासग्रस्त होकर आदिम व्यवस्था तक पहुँच गया हो, अत: इतिहास की चाक्रिक या जैविक व्याख्याएँ न केवल गलत हैं बल्कि वे मनुष्य में निराशा भी उत्पन्न करती हैं ।

भारतवर्ष के पुराचीन प्रत्ययवादी या आदर्शवादी विचारक (आइडियलिस्ट्स) सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के रूप में, इतिहास की चाक्रिक कल्पना करते हैं। जैसे गाड़ी का पहिया घूमता है, उसी तरह इतिहास घूम रहा है। पहले समाज की उच्चतम अवस्था थी, अब कलियुग में चारों तरफ ह्रास है। स्पष्टत: यह इतिहासदृष्टि अतीतवादिनी, निराशामूलक और विकास विरोधिनी है। टायन्बी और स्पैंगुलर की दृष्टियाँ भी, सार रूप में चाक्रिक ही हैं।

इन इतिहासदृष्टियों का उग्र विरोध तथ्यवादियों (इम्पिरीसिस्ट्स) ने किया है। योरोप और अमेरिका के तथ्यवादियों ने तथ्य और द्रष्टा में पूर्ण पृथक्ता की अवधारणा प्रस्तुत की है। आक्सफोर्ड इंगलिश शब्दकोष में तथ्य की यह परिभाषा की गई है:—

"A datum of experience as distinct from conclusions"[1]

ई० एच० कार महोदय के अनुसार इस तथ्यवाद या अनुभववाद से सामान्य ज्ञानात्मक इतिहास की उपलब्धि होती है। इतिहास ऐसे तथ्यों की उपस्थिति का नाम है जिनकी प्रामाणिकता की परीक्षा हो सके। इतिहासकार को ये तथ्य, दस्तावेजों, सिक्कों, पुरातत्व से प्राप्त सामग्री आदि के रूप में उपलब्ध होते हैं। इतिहासकार का काम यह है कि वह किसी "अपनी" दृष्टि का आरोप किये बिना, प्राप्त तथ्यों का कालक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करे और जो निष्कर्ष निकाले वे तथ्यानुधारित हों, "दृष्टि" के आधार पर नहीं।[2]

तथ्यवादियों के अनुसार इतिहास सम्भव है पर उसमें केवल तथ्य होंगे, किसी "दृष्टि" और "नियम" या "विन्यास" के लिये वहां कोई स्थान न होगा।

तथ्यवाद में कठिनाई यह है कि तथ्यवादी इतिहास मात्र विवरणपरक होते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास (गासाँ द तासी, शिवसिंह, मिश्रबंधु) मूलत: तथ्यवादी पद्धति अपनाकर चले हैं। "मूलत:" इसलिये क्योंकि इन इतिहासों में भी लेखक की दृष्टि या रुचि या पक्षधरता मिल जाती है।

तथ्यपरक इतिहासकार अपने को "वैज्ञानिक" भी कह सकता है किन्तु समस्या यह है कि तथ्यों के अम्बार में निर्णायक महत्व के तथ्य और गौण तथ्यों का "चयन" किस तरह किया जाये। सभी तथ्य एक से महत्व के नहीं होते। लेकिन तथ्य के महत्व की पहचान तो इतिहासकार की "दृष्टि" के ही आधार पर होगी अतएव तथ्यवाद में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाता है। जिस "दृष्टि" या "दर्शन" या "सिद्धान्त" से बेचने के लिए तथ्यवादी चलता है, वह तथ्यचयन और निष्कर्षों के दोहन के क्षण में, अपनी दृष्टि या रुचि का शिकार हो जाता है या हो सकता है।

---

1. E. H. carr, What is History—P. 9
2. Facts are sacred, opinion is free—C. P. Scott.

अतएव इतिहास तथ्य और व्याख्या, दोनों पर निर्भर हो जाता है और व्याख्या का अर्थ ही यह है कि उसमें दृष्टि की सापेक्षता रहती है।

इतिहास, इसीलिए उस अर्थ में "वैज्ञानिक" नहीं हो सकता, जिस अर्थ में भौतिकविज्ञान होता है। भौतिकविज्ञानों में द्रष्टा निस्संग, तटस्थ रहकर तथ्यों या शक्तियों या द्रव्यों के आधार पर अखण्ड नियमों की खोज कर सकता है।

आत्यन्तिक अर्थ में न सही पर तथ्यों को अधिकाधिक महत्व देने के कारण इतिहास को अब सर्वसम्मति से सामाजिक-विज्ञानों के संकाय में शामिल कर दिया गया है। उसे अब "कला" नहीं माना जाता क्योंकि इतिहासकार अब वैज्ञानिक की तरह तथ्यों की प्रामाणिकता के लिए लड़ते हैं, "दृष्टियों" के लिये नहीं।

हालांकि यह तथ्यवाद की दृष्टिवाद पर विजय है किन्तु यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लिया जाये कि इतिहास में समाजशास्त्र की तरह केवल तथ्यों के सर्वेक्षण या खोज पर ही ध्यान दिया जाए और मूल्यपरक निष्कर्षों या निर्णयों (वैल्यू-जजमेंट्स) से बचा जाये तो भी समस्या वही है कि क्या मानवजीवन से सम्बन्धित तथ्यों को मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं एवं मूल्यों से पृथक् करके देखा जा सकता है ?

इतिहास में युद्ध एक तथ्य है। किन्तु युद्ध की घटना के पीछे हेतु क्या हैं या थे ? मध्यकाल में भारत पर जो मध्य एशिया के आक्रान्ताओं ने हमले किये उनका मूल कारण धर्म-आग्रह था या अर्थ-उपलब्धि ? यदि तथ्यानुमोदित अनुमान को "वैज्ञानिक" माना जाये तो इतिहासकार इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि आक्रान्ताओं का मुख्य प्रयोजन आर्थिक था और धर्मविजय उसका गौण या सहायक कारण था। धर्मान्धता के नीचे आर्थिक साधनों पर स्वामित्व की इच्छा काम कर रही थी। पर, मतांध इतिहासकार धर्मविजय को मुख्य कारण और आर्थिक प्रभुत्व को गौण कारण मानेगा और यही इतिहासकार इतिहासकार न रहकर हिन्दू इतिहासकार या मुस्लिम इतिहासकार बन जायेगा। "वैज्ञानिक इतिहास" लिखने का दावा करने वाले भी, मध्य एशिया के कबीलों की आवश्यकताओं (नये चारागहों, उपजाऊ भूमि और आराम के जीवन की खोज) का तथ्यमूलक इतिहास न लिखकर उन्हें मतांध मुसलमानों के रूप में देखते हैं और इस दृष्टि से मध्ययुग का इतिहास, हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक युद्ध के रूप में सामने आता है, जबकि संघर्ष मध्य एशिया के कबीलों और अपेक्षाकृत अधिक उर्वर और सभ्य भारतीयों के बीच था। धर्म, संगठन और शक्ति को बिखराव से बचाने के लिये था, कबीलाई आक्रान्ताओं को प्रेरित करने के लिये था, अलग पहचान के लिए था, आक्रमण का वह मूल कारण नहीं था। यदि ऐसा न होता तो आक्रान्ता और आक्रान्त मानव-समूह कभी सामासिक समाजों का निर्माण न कर पाते, "राष्ट्र" की कल्पना ही गायब हो जाती। यह बात अलग है कि आज भी इतिहासविरोधी और मतांध दृष्टि से लिखने वाले ज़ातियों और धर्मों

के आधार पर ''राष्ट्रों'' की कल्पना करते हैं और मजहबी राज्य बनाने में सफल भी हो जाते हैं (पाकिस्तान, यहूदी राज्य)। परन्तु इतिहास की लम्बी अवधि में ये भटकाव मात्र हैं। मनुष्य इतिहास की अवधि में क्रमश: विश्वासों से विवेक की ओर चलेगा। विश्वास और विवेक का द्वन्द्व पुराना है, अभी भी सक्रिय है, किन्तु विश्वास के आधार पर बनाये गये राज्यों में भिन्न विश्वास के लोगों के साथ निरन्तर संघर्ष से स्वयं मतांध राष्ट्र ही बिखर जाते हैं, या उनकी रक्षा के लिए अल्पमत वालों का समूल विनाश करना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि तथ्यवाद को तथ्यप्रियतावाद के रूप में मानना तो ठीक होगा पर ''दृष्टि'' के बिना न तथ्यों का चयन सम्भव होगा और न चयनित तथ्यों की मुख्यता या गौणता सिद्ध होगी। दूसरे, इतिहास में तथ्यानुमोदित अनुमान या वस्तुनिष्ठकल्पना के बिना काम नहीं चल सकता और इसे इस अर्थ में ''वैज्ञानिक'' भी माना जा सकता है कि अनुमान सदैव तथ्यपरक होगा या होना चाहिए। तथ्यों से अपुष्ट अनुमान से फंतासी की सृष्टि होती है, इतिहासों की नहीं। यह दु:खद है कि अब तक भारतवर्ष का इतिहास अधूरा और आत्मगत है। वस्तुगत इतिहास के दो स्तम्भ होते हैं, तथ्य और तथ्यों के आधार पर उपलब्ध अनुमान या व्याख्या।

व्याख्याओं में अनेक दृष्टियों के प्रवेश हो जाने से जिस अराजकता की सृष्टि हुई है, उससे ऊब कर तथ्यवादियों ने इतिहास को भी समाजशास्त्र की तरह सर्वेक्षण-परक बना डाला। किन्तु इतिहास का सम्बन्ध घटित घटना के साथ होने के कारण, जब कोई नया तथ्य सामने आ जाता है तो पुराने इतिहास प्रामाणिक नहीं रहते। यह प्रक्रिया आगे भी रहेगी।

इतिहास को मानविकी से हटाकर, उसे समाज-विज्ञानों में शामिल करने से जहाँ अतीत के भारतीय जीवन का पूर्ण जीवन्त रूप सामने आना चाहिए था वहां तथ्यवादी अनुसंधानकर्त्ता और इतिहासलेखक ब्यौरों के बोरे एकत्र करते रहते हैं और उनके कलाक्रमानुसार चिट्ठे को ही ''वैज्ञानिक इतिहास'' कहते हैं।

इस तथ्य-दासता से इतिहास दृष्टिहीन, विवेकसंगत-व्याख्याविहीन ब्यौरे का पोथा बन जाता है, वह मानवजीवन के विकास का जीवन्त दस्तावेज नहीं बन पाता। तथ्यवादी इतिहासों, सर्वेक्षणों तक सीमित समाजशास्त्रों की इस अमानवीयता और अबौद्धिकता से चिढ़ कर 1967-68 से सार्बान विश्वविद्यालय के क्रान्तिकारी छात्रों (कोहन बेंदो, जर्मनी-फ्रांस) ने यह मांग की थी कि विश्वविद्यालयों से ''इम्पीरियज्मि'' को बहिष्कृत कर देना चाहिए क्योंकि दृष्टिहीन, मानवविकास और सामाजिक न्याय के प्रति अनुदार दृष्टि रखने वाले कैरियरिस्ट प्रोफ़ेसर लोग विकास की दिशा पर विचार करने से घबराते हैं। उन्हें भय है कि यदि समाज-विज्ञानों को शोषितदलित मानवता के उद्धार अथवा साम्यमूलक समाज-अभियाँत्रिकी से जोड़ा गया तो पूंजीवादी या उपभोक्तासमाजों में समाजविज्ञानों (राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र

अतएव इतिहास तथ्य और व्याख्या, दोनों पर निर्भर हो जाता है और व्याख्या का अर्थ ही यह है कि उसमें दृष्टि की सापेक्षता रहती है ।

इतिहास, इसीलिए उस अर्थ में "वैज्ञानिक" नहीं हो सकता, जिस अर्थ में भौतिकविज्ञान होता है । भौतिकविज्ञानों में द्रष्टा निस्संग, तटस्थ रहकर तथ्यों या शक्तियों या द्रव्यों के आधार पर अखण्ड नियमों की खोज कर सकता है ।

आत्यन्तिक अर्थ में न सही पर तथ्यों को अधिकाधिक महत्व देने के कारण इतिहास को अब सर्वसम्मति से सामाजिक-विज्ञानों के संकाय में शामिल कर दिया गया है । उसे अब "कला" नहीं माना जाता क्योंकि इतिहासकार अब वैज्ञानिक की तरह तथ्यों की प्रामाणिकता के लिए लड़ते हैं, "दृष्टियों" के लिये नहीं ।

हालांकि यह तथ्यवाद की दृष्टिवाद पर विजय है किन्तु यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लिया जाये कि इतिहास में समाजशास्त्र की तरह केवल तथ्यों के सर्वेक्षण या खोज पर ही ध्यान दिया जाए और मूल्यपरक निष्कर्षों या निर्णयों (वैल्यू-जजमेंट्स) से बचा जाये तो भी समस्या वही है कि क्या मानवजीवन से सम्बन्धित तथ्यों को मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं एवं मूल्यों से पृथक् करके देखा जा सकता है ?

इतिहास में युद्ध एक तथ्य है । किन्तु युद्ध की घटना के पीछे हेतु क्या हैं या थे ? मध्यकाल में भारत पर जो मध्य एशिया के आक्रान्ताओं ने हमले किये उनका मूल कारण धर्म-आग्रह था या अर्थ-उपलब्धि ? यदि तथ्यानुमोदित अनुमान को "वैज्ञानिक" माना जाये तो इतिहासकार इस निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि आक्रान्ताओं का मुख्य प्रयोजन आर्थिक था और धर्मविजय उसका गौण या सहायक कारण था । धर्मान्धता के नीचे आर्थिक साधनों पर स्वामित्व की इच्छा काम कर रही थी । पर, मतांध इतिहासकार धर्मविजय को मुख्य कारण और आर्थिक प्रभुत्व को गौण कारण मानेगा और यही इतिहासकार इतिहासकार न रहकर हिन्दू इतिहासकार या मुस्लिम इतिहासकार बन जायेगा । "वैज्ञानिक इतिहास" लिखने का दावा करने वाले भी, मध्य एशिया के कबीलों की आवश्यकताओं (नये चारागहों, उपजाऊ भूमि और आराम के जीवन की खोज) का तथ्यमूलक इतिहास न लिखकर उन्हें मतांध मुसलमानों के रूप में देखते हैं और इस दृष्टि से मध्ययुग का इतिहास, हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक युद्ध के रूप में सामने आता है, जबकि संघर्ष मध्य एशिया के कबीलों और अपेक्षाकृत अधिक उर्वर और सभ्य भारतीयों के बीच था । धर्म, संगठन और शक्ति को बिखराव से बचाने के लिये था, कबीलाई आक्रान्ताओं को प्रेरित करने के लिये था, अलग पहचान के लिए था, आक्रमण का वह मूल कारण नहीं था । यदि ऐसा न होता तो आक्रान्ता और आक्रान्त मानव-समूह कभी सामासिक समाजों का निर्माण न कर पाते, "राष्ट्र" की कल्पना ही गायब हो जाती । यह बात अलग है कि आज भी इतिहासविरोधी और मतांध दृष्टि से लिखने वाले ज़ातियों और धर्मों

के आधार पर "राष्ट्रों" की कल्पना करते हैं और मजहबी राज्य बनाने में सफल भी हो जाते हैं (पाकिस्तान, यहूदी राज्य)। परन्तु इतिहास की लम्बी अवधि में ये भटकाव मात्र हैं। मनुष्य इतिहास की अवधि में क्रमशः विश्वासों से विवेक की ओर चलेगा। विश्वास और विवेक का द्वन्द्व पुराना है, अभी भी सक्रिय है, किन्तु विश्वास के आधार पर बनाये गये राज्यों में भिन्न विश्वास के लोगों के साथ निरन्तर संघर्ष से स्वयं मतांध राष्ट्र ही बिखर जाते हैं, या उनकी रक्षा के लिए अल्पमत वालों का समूल विनाश करना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि तथ्यवाद को तथ्यप्रियतावाद के रूप में मानना तो ठीक होगा पर "दृष्टि" के बिना न तथ्यों का चयन सम्भव होगा और न चयनित तथ्यों की मुख्यता या गौणता सिद्ध होगी। दूसरे, इतिहास में तथ्यानुमोदित अनुमान या वस्तुनिष्ठकल्पना के बिना काम नहीं चल सकता और इसे इस अर्थ में "वैज्ञानिक" भी माना जा सकता है कि अनुमान सदैव तथ्यपरक होगा या होना चाहिए। तथ्यों से अपुष्ट अनुमान से फंतासी की सृष्टि होती है, इतिहासों की नहीं। यह दुःखद है कि अब तक भारतवर्ष का इतिहास अधूरा और आत्मगत है। वस्तुगत इतिहास के दो स्तम्भ होते हैं, तथ्य और तथ्यों के आधार पर उपलब्ध अनुमान या व्याख्या।

व्याख्याओं में अनेक दृष्टियों के प्रवेश हो जाने से जिस अराजकता की सृष्टि हुई है, उससे ऊब कर तथ्यवादियों ने इतिहास को भी समाजशास्त्र की तरह सर्वेक्षण-परक बना डाला। किन्तु इतिहास का सम्बन्ध घटित घटना के साथ होने के कारण, जब कोई नया तथ्य सामने आ जाता है तो पुराने इतिहास प्रामाणिक नहीं रहते। यह प्रक्रिया आगे भी रहेगी।

इतिहास को मानविकी से हटाकर, उसे समाज-विज्ञानों में शामिल करने से जहाँ अतीत के भारतीय जीवन का पूर्ण जीवन्त रूप सामने आना चाहिए था वहां तथ्यवादी अनुसंधानकर्त्ता और इतिहासलेखक ब्यौरों के बोरे एकत्र करते रहते हैं और उनके कलाक्रमानुसार चिट्ठे को ही "वैज्ञानिक इतिहास" कहते हैं।

इस तथ्य-दासता से इतिहास दृष्टिहीन, विवेकसंगत-व्याख्याविहीन ब्यौरे का पोथा बन जाता है, वह मानवजीवन के विकास का जीवन्त दस्तावेज नहीं बन पाता। तथ्यवादी इतिहासों, सर्वेक्षणों तक सीमित समाजशास्त्रों की इस अमानवीयता और अबौद्धिकता से चिढ़ कर 1967-68 से सार्बान विश्वविद्यालय के क्रान्तिकारी छात्रों (कोहन बेंदो, जर्मनी-फ्रांस) ने यह मांग की थी कि विश्वविद्यालयों से "इम्पीरियज्मि" को बहिष्कृत कर देना चाहिए क्योंकि दृष्टिहीन, मानवविकास और सामाजिक न्याय के प्रति अनुदार दृष्टि रखने वाले कैरियरिस्ट प्रोफेसर लोग विकास की दिशा पर विचार करने से घबराते हैं। उन्हें भय है कि यदि समाज-विज्ञानों को शोषितदलित मानवता के उद्धार अथवा साम्यमूलक समाज-अभियाँत्रिकी से जोड़ा गया तो पूंजीवादी या उपभोक्तासमाजों में समाजविज्ञानों (राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र

इतिहास, विधि आदि) की भूमिका यथास्थिति की रक्षा से प्रतिबंधित न रहकर क्रान्तिकारिणी हो जायेगी, यानी प्रत्येक इतिहास, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की पुस्तक को पढ़ने पर स्थापित व्यवस्था के प्रति रोष जाग्रत होगा क्योंकि अमानवीय, वैषम्यग्रस्त, शोषण और अन्याय पर आधारित पूंजीवादी समाजों का वर्तमान और अतीत का इतिहास, पीड़ित और शोषित बहुसंख्यकों पर मुट्ठीभर शासकों-शोषकों का इतिहास रहा है और इस स्थिति को स्थायी बनाने के लिये पूंजीवादी देशों और गैर-समाजवादी विकासशील देशों में, तथ्यवाद को ही "आधुनिक" और मूल्यनिर्णय से स्वतन्त्र कह कर अपना लिया गया है। इतिहास का सही दर्शन ही इस यथास्थितिशीलता को बदल सकता है।

अतएव, कोहन बेंदो ने "पुराना साम्यवाद और वामपंथी विकल्प" नामक पुस्तक में समाजविज्ञानों की शिक्षा और शोध की पूरी संरचना को बदलने की मांग की है।[1]

साहित्य का इतिहास-दर्शन सामान्य इतिहास-दर्शन (फिलास्फी आफ जनरल हिस्ट्री) से भिन्न नहीं हो सकता, समानान्तर नहीं चल सकता। कम से कम साहित्य के इतिहास लेखक को सामाजिक सन्दर्भ का ध्यान रखना होगा जिसमें वह साहित्य प्रादुर्भूत हुआ है। यह हुआ भी है। सर्वप्रथम रामचन्द्र शुक्ल ने किसी युग विशेष की "चित्तवृत्ति" अथवा "प्रवृत्ति" के आधार पर साहित्य को पहचानने, परखने का विचार रखा और इस "दृष्टि" के अनुसार "हिन्दी साहित्य का इतिहास" लिखा गया। यहाँ एक सही और तथ्यानुमोदित दृष्टि और अनुमान को इतिहास-लेखन का आधार बनाया गया।

किन्तु रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में अधूरापन था। साहित्य का इतिहास विज्ञान के गौरव को तभी पा सकता था जब "चित्तवृत्ति" और समाज के मूलाधार के साथ, कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता। सामान्य जनहित या लोकवाद को मानने पर भी शुक्ल जी का इतिहास-दर्शन कमजोर था और वे समाज की संरचना और विकास के विभिन्न प्रत्ययों और अवधारणाओं से शायद परिचित नहीं थे अन्यथा उनका कालविभाजन सामाजिक कोटियों में होता, केवल "शिष्ट जनों" की चित्तवृत्तियों के आधार पर बनी कोटियों में नहीं।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास" लिखा और भौतिक विज्ञानों की वस्तुनिष्ठता को महत्व दिया। यह कोशिश अपने में प्रशंसनीय थी और है, लेकिन इसे हिन्दी साहित्य का वस्तुगत इतिहास कहना अधिक वैज्ञानिक होगा, क्योंकि इस वैज्ञानिक इतिहास में भी, समाज और साहित्य की गत्यात्मकता को संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) दृष्टि से नहीं देखा गया। समाज की संरचना किसी युग विशेष में कैसी है, वर्गों, वर्णों, जातियों-जमातों के सम्बन्ध किस

---

[1] "आब्सोलीट कम्युनिज्म, ए लैफ्टिस्ट आल्टरनेटिव" —कोहन बेंदो

तरह के हैं और विरोध और सामंजस्य की प्रकृति किस प्रकार की है ? जो लोग किसी युगविशेष में लिख रहे थे उनकी चित्तवृत्तियों का तात्कालिक समाज की बुनावट के साथ सामाजिक शक्तियों और मंशाओं-इच्छाओं की टकराहट या अटकराहट के साथ रिश्ते किस प्रकार के थे ? विश्वासों और वास्तविक जीवन का नाता किस प्रकार का था ? "शिष्टजन" और "सामान्य जन" के जुड़ाव और अलगाव का रूप क्या था ? इस सबकी जटिलताओं में गये बिना और साहित्य को समाज की स्थिति, गति और गंतव्य से जोड़कर देखे बिना, वैज्ञानिक इतिहास नहीं लिखा जा सकता। प्रत्येक ऐतिसासिक और वैज्ञानिक तर्क में कारणों की प्राथमिकता और गौणता पर विचार करना ही होगा, तभी वैज्ञानिकता आ सकती है।

समाज विकास के नियम भौतिकविज्ञानों की तरह पूर्णतः अपवादरहित नहीं होते, किन्तु फिर भी वे "नियम" हैं क्योंकि अपवादों और आकस्मिकताओं की भी तथ्यगत व्याख्या की जा सकती है। जिस प्रकार प्रातिभज्ञान (इंट्यूटिव नॉलिज) की व्याख्या सम्भव है उसी प्रकार ऐतिहासिक आकस्मिकताओं और संयोगों की भी। उदाहरण के लिए आदिम जीवन और आदिम कला और साहित्य के अध्ययन से यह नियम प्राप्त किया जा सकता है कि विकास के प्रारम्भ में कला भौतिक जीवन को प्रत्यक्षतः प्रतिबिम्बित करती है। इसी प्रकार समाजविकास के अन्य सोपानों में तात्कालिक जीवन-प्रणाली और तजन्य मानसिकता और विचारात्मकता से महान् से महान् साहित्यकार प्रतिवर्तित (कंडीशंड) हैं। अतः महत्ता, अनुपमता, अद्वितीयता और रचना की चमत्कारात्मकता के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वह असाधारण लेखक, किसी भी रूप या मात्रा में अपने युग से, समाजस्थिति से, प्रभावित नहीं है। महान् से महान् रचना के अपने समय की अन्य रचनाओं से रिश्ते होते हैं। रचना एक रचना-प्रवाह में होती है। इस प्रवाह को पुरानी साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित तथा उस समय के दबावों-तनावों से ग्रस्त लेखक अपनी रचनाओं और रचनासमीक्षा या सैद्धान्तिक चिंतन से नया जल देते हैं। इस नये जल की किसी भी बूंद को, दूसरी बूंदों या धाराओं से असंबंधित समझना और इस बात को नकारना कि इतिहास, विशेषकर साहित्य का इतिहास, सम्भव नहीं है (क्योंकि साहित्यकार कल्पित संसार रचता है या "महान्" साहित्यकार युगातिक्रमण करता है, वह मात्र युग का प्रतिबिम्बक नहीं होता) न केवल अनैतिहासिक है, बल्कि अबुद्धिसंगत भी है क्योंकि प्रकृति में जिस तरह प्रत्येक कृति या पदार्थ में अनूठेपन के बावजूद संरचनात्मक सामान्यता है, (सभी पदार्थ परमाणुनिर्मित हैं और परमाणुओं की संरचना में द्वन्द्व और संगति है) उसी प्रकार मानव की संरचना में विशिष्टता और सामान्यता, व्यक्ति और जाति की विद्यमानता है। किसी लेखक की 'चित्तवृत्ति' के घटक और तरंगों को कारणकार्य दृष्टि से तात्कालिक स्थितियों और गतियों से जोड़ा जा सकता है और ऐसे जोड़ की खोज ही साहित्य और सन्दर्भ में कारणकार्यसम्बन्ध या नियम की खोज है। सन्दर्भ और कृति के इस जोड़ का प्रमाण यह है कि कवि द्वारा रचित कल्पना का संसार

(मनोराज्य, यथा तुलसी का रामराज्य) भी अपने समय के विकास से प्रतिवर्तित होता है। तुलसीदास, रामराज्य में, राजाविहीन राज्य की कल्पना नहीं कर सके, किन्तु महाभारत में भीष्म पितामह को "वैराज्यों" का स्मरण है, जहाँ सारी जनता मिलकर शासन करती थी। महाभारत के लेखकों को उस आदिमसाम्यवाद या कबीलाई समाज की एकता, कलहहीनता और समानता की याद थी। किन्तु सामन्त-युग में कवि कलाकारों को भी यह कल्पना नहीं सूझ सकी कि लोग सारे विश्व को एक परिवार की तरह चला सकते हैं। यह युग का, सामन्तयुग का, "महान्" कवियों की "आत्मा" पर प्रभाव था, युगसीमा थी। "आत्मा" देश, काल और सामाजिक-व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर पाती।

समाज की संरचना, उसमें होने वाले परिवर्तन, उसके तनाव और द्वन्द्व, व्यक्ति की अपनी सत्ता और समाज के साथ उसके टकराव या सामञ्जस्य के इस लम्बे संघर्ष और संगतियों में स्वतः एक विन्यास उभरता है, नियम सूझते हैं। ये नियम कृति और स्थिति, कृति और समाजगति एवम् कृति और सामान्य मानवइच्छा आदि में खोजे जा सकते हैं। ये आरोपित इसलिए नहीं होंगे क्योंकि इतिहासकार का ध्यान सदैव तथ्यों पर रहेगा। तथ्य के अभाव या अपर्याप्तता में इतिहासकार को कोई सन्देह-लाभ नहीं मिल सकता। वह मनमानी करने पर, तुरन्त "वैज्ञानिक" से कलाकार के कर्म पर पहुँच जायेगा।

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के वैज्ञानिक इतिहास में, मूल्य-निर्णयों की भरमार है। वैज्ञानिकों की औपचारिक कोटियों की खैर खबर लेना अच्छा है, पर अपर्याप्त है। साहित्य के इतिहास का विज्ञान कृति, कर्त्ता और कृतियों के समूह और समाज-संरचना और उसकी गति में सम्बन्ध खोजकर उन नियमों की गवेषणा करेगा और ये नियम इस अर्थ में वैज्ञानिक होंगे कि उनके अपवादों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सकेगी।

कार्ल पॉपर ने, "इतिहासवाद की दरिद्रता" और "मुक्त समाज के शत्रु" नामक पुस्तकों में हीगेल को इस बात का दोषी ठहराया है कि उसने ऐतिहासिक अनिवार्यता का मिथक गढ़ा और उसे ऐसा लगा जैसे इतिहास के माध्यम द्वारा विश्वचेतना (आइडिया या कांशसनैस) अपने को चरितार्थ कर रही है और उसके क्रमशः विकास को या विश्वचेतना के प्रस्फुटन को एक पूर्वनिश्चित योजना या प्रारूप की तरह समझा जा सकता है। कार्ल पॉपर ऐतिहासिक घटना को कारण-कार्य शृंखला में रखकर देखने का विरोधी है क्योंकि उसकी समझ में घटना संयोगज होती है। दो सेनाएँ बराबर की होने पर कौन हारेगा, यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार विकास के अध्ययन के आधार पर मनुष्य या उसकी व्यवस्था या विकास के बारे में कुछ भी कहना अनैतिहासिक है। यह पॉपर का मत है।

यदि "घटना" के विषय में उसकी अनुपमता या आकस्मिकता के कारण किसी नियम या पैटर्न की खोज अनैतिहासिक है तब "रचना" तो घटना से भी

विचित्र और आकस्मिक होती है। साधारण रचनाओं का युग-प्रवृत्ति से सम्बन्ध हो सकता है पर "अद्भुत" रचनाओं के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध लगाना मानव-प्रतिभा की अद्वितीयता और अतिक्रमणशक्ति (ट्रान्सैन्डैन्स) को न समझना है। कार्ल पॉपर के मत से यही नतीजा निकल सकता है।

लेकिन कार्ल पॉपर की नीयत खराब थी क्योंकि वह इतिहासवाद की दरिद्रता दिखाकर, उसके आधार पर, साम्यवादी समाज की माँग करने वालों का खण्डन कर रहा था। यदि यह साबित हो जाये कि हीगेल का इतिहासवाद गलत है तो उसके आधार पर विकसित मार्क्सवादी इतिहासबोध भी खण्डित हो जायेगा। इस उद्देश्य में कार्ल पॉपर इसलिए सफल नहीं हुआ क्योंकि विशिष्ट घटना या रचना में केवल विशिष्टता नहीं होती।[1] सामान्यता के बिना विशिष्टता का अधिष्ठान ही लुप्त हो जायेगा। व्यक्ति होगा तो जाति अवश्य होगी और जाति है तो व्यक्ति में वह अवश्य बोलेगी। प्लेटो और अरस्तू के सार्वभौमिक या "यूनिवर्सल" को तर्कशास्त्र में सभी मानते हैं किन्तु अनेक तर्कशास्त्रियों ने जाति या यूनिवर्सल का निषेध किया है। हमारे बौद्ध दार्शनिक "जाति" नहीं मानते। कार्ल पॉपर इसी तरह का सार्वभौमिक या सामान्य (जाति) का विरोधी विचारक था।

यदि इतिहास के विकास की लय को सामग्रिक दृष्टि से देखा जा सकता है तो साहित्य के इतिहास को भी वैदिकयुग से अब तक, समाज के विकास के साथ देखा जाए और समूचे समाज के महासागर के मंथन से उभरे हुए नवनीत के रूप में कृतियों और कृतिकारों को परखा जाए।

डा० सुमन राजे ने साहित्येतिहास पर दो ग्रन्थ प्रकाशित कराए हैं। इसके पूर्व, अनेक सम्पादित इतिहास छपे हैं पर वे इतिहास नहीं, रचनाओं और प्रवृत्तियों के विवरण मात्र हैं। उनका इतिहासदर्शन या इतिहास-शास्त्र की दृष्टि से सीमित मूल्य है। सुमन राजे के इतिहासग्रन्थों में यद्यपि दृष्टि सम्बन्धी निश्चितता नहीं है फिर भी उन्होंने पहली बार भारतीय इतिहास में जागरण और अजागरण या जड़ता की लय देखी है। सुमन राजे ने बौद्धयुग को "रिनेंसा" या पुनर्जागरणकाल माना है और उसके बाद गुप्तकाल को द्वितीय जाग्रतयुग कहा है। उसके बाद हिन्दीसाहित्य के भक्तिकाल को पुनर्जागरण युग के रूप में समझा है।

भक्तिकाल को पुनर्जागरणकाल के रूप में देखा जाए, यह कथन कई विदेशी विद्वानों का भी है। सोवियत रूस के मास्को विश्वविद्यालय की हिन्दी प्रोफेसर श्रीमती सज्जानोवा का मत है कि भारत का भक्तिकाल योरोप के रिनेंसा से कम

---

[1] The historian is not really interested in the Unique, but in what is general in the Unique—E. H. Karr P. 63

सशक्त नहीं है। डा० सुमन राजे ने इस रिनेंसा की धारणा को बौद्ध और गुप्तकाल में भी देखने की कोशिश की है। मैं समझता हूँ, इससे भारतीयों के समाज और साहित्य का सारा संगीत सामने आता है और इस संगीत में कहाँ और कब लय बनती-बिगड़ती है, इसे साफ-साफ देखा जा सकता है।

लेकिन "मूल्यों" के आधार पर काल-विभाजन और साहित्येतिहास-लेखन का सिलसिला बैठाने की वकालत डॉ० सुमन राजे में बहुत है। मानवदशा और मानवबोध के उन्नयन की कोशिशें धारा रूप में जिस युग में होती हैं, उसे निश्चय ही जागरणयुग कहा जा सकता है। पर ये जागरण की तरंगें या प्रवाह, मूलसमाज-संरचना के भीतर आते हैं। मसलन् डी०डी० कोशाम्बी ने हर्षवर्धन तक के युग को साम्राज्ययुग और बाद के युग को सामंतकाल कहा है जो सही है। दरअसल, महाभारत के बाद का पूरा काल सामंतकालीन है किन्तु केन्द्रीय शक्ति की प्रबलता से व्यापारसंतुलन के बदलने पर और सारे देश में आवागमन बढ़ने से भाषाओं और साहित्य पर असर पड़ता है, अतएव "साम्राज्ययुग" शब्द का प्रयोग किया गया है। साम्राज्यों के विघटन के बाद बीच में सामंतों का प्रभुत्व बढ़ जाता है और स्वतन्त्र राज्यों में पारस्परिकता कम हो जाती है। जागरण इसी सामन्तीसमाज-संरचना के भीतर हुए हैं। मूल ढाँचे में औद्योगिक युग के पूर्व तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ अतः भारत के जागरण युग, रिनेंसा की तरह, देश और समाज को मूल से नहीं बदल पाए। योरीपीय रिनेंसा से युग बदल गया पर हमारे यहाँ युग नहीं बदला सिर्फ धाराएँ बदलती रहीं, जागरण और सुषुप्ति के प्रवाह आते-जाते रहे। रिनेंसा-काल में योरोप में व्यक्ति की महत्ता और स्वतन्त्रता बढ़ी पर भारतीय रिनेंसा में ऐसा नहीं हो सका।

यह अन्तर रेखांकित न होने से सुमन राजे का इतिहासदर्शन अधूरा लगता है लेकिन इसमें सदेह नहीं कि इस प्रयत्न से हिन्दी में इतिहास-चेतना ने एक पग आगे उठाया है।

अमृतसर में गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा दिसम्बर, 1976 में आयोजित परिसंवाद में डॉ० सुमन राजे द्वारा पठित निबंध पर होने वाली बहस में मैंने सुमन के इतिहासचिन्तन में इस कमी की ओर ध्यान खींचा था कि सुमन राजे के साहित्येतिहास में अवधारणाओं और कोटियों का घपला है। वह कहीं मार्क्सवादी कोटियाँ अपनाती हैं, कहीं मूल्यवादी। अवधारणाओं में चयन और समन्वय हो सकता है पर यह बताना जरूरी है कि अमुक कोटि या धारणा किस सीमा तक अपनाई जा रही है और कहाँ इस धारणा में दूसरे पक्ष की धारणाओं का मिश्रण है। मार्क्सवादी इतिहासदर्शन संरचनावादी है, यानी वह समाज की मूलसंरचना और अधिसंरचना में कारण-कार्य-सम्बन्ध प्रमाणित करता है। मानव-मूल्य तभी चरितार्थ होते हैं, जब उन मूल्यों के प्रयोगयोग्य सामाजिकसंरचना हो

अतएव संरचनात्मक दृष्टि से डी० डी० कोशाम्बी का काल-विभाजन ही साहित्य के इतिहासकारों को अपनाना चाहिये, मेरी समझ यही है।

इसके साथ ही ई० एच० कार महोदय के इस सुझाव पर भी विचार होना चाहिये कि क्या वर्गीकरण या कालविभाजन की कोटियों (वीरगाथाकाल, भक्तिकाल आदि) को अवधारणाओं के रूप में नहीं अपनाना चाहिये? इसका मतलब यह है कि "वीरगाथाकाल" केवल "चित्तवृत्ति" पर आधारित कोटि (कैटागरी) नहीं है, अपितु यह अवधारणा है, एक पूर्वकल्पना (हायपोथीसिस) है। वीरगाथाकाल रासो-साहित्य की अप्रामाणिकता के कारण गलत युगनाम हो सकता है पर धारणा या पूर्व-कल्पना के रूप में वह उस सामन्तीसमाज के वीरतापूर्ण युद्धों के रासों के अस्तित्व की ओर हमारा ध्यान खींचता है। हम तत्कालीन रासों की खोज में हैं। उनका मूलरूप यदि न भी मिले तो भी यह तथ्यगत अनुमान "वैज्ञानिक" है कि वीरगाथाओं का अस्तित्व था और उन्हीं का भट्टभणन्तीकरण कालान्तर में होता गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत कुरुक्षेत्र-युद्ध का समकालीन सृजन न होने पर भी "वीरयुग" का प्रामाणिक दस्तावेज है, इसमें से अतिशयोक्तियों को झाड़ कर सामाजिक सत्य को देखा जा सकता है। इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो, खुम्माण रासो और आल्हा "वीरयुग" (हीरोइक एज) के युद्धसाहित्य के रूप में देखे जाने चाहियें। गाथाओं में सामन्तों के वीरतापूर्ण युद्धों, उस समाज के अंतस्सम्बन्धों की बुनावटों, मौज-मजों, अहंकारों और मूर्खताओं का कवित्वपूर्ण चित्र है। ऐतिहासिक दृष्टि तथ्य के ऊपर ही निर्भर न रह कर, उस युग के लोगों के मानसिक जगत् का भेदन करती है और इसी "अन्तर्दृष्टि" के बल पर इतिहासकार तथ्य को सत्य बनाता है। "वीरगाथाकाल" एक अवधारणा है। वह चुनौती देती है कि उसे जाँचा जाए, उसके आलोक में तथ्यों को परखा जाए। इन तथ्यों में "मानसिकतथ्य" भी शामिल हैं। वीरगाथाएँ भारत के बूढ़े और कलही सामन्तयुग के उच्चवर्ग का हुलिया पेश करती हैं।

इसी तरह "रीतिकाल", "मध्यकाल" आदि को पूर्वकल्पना के रूप में ग्रहण किया जाए। तब जो हिन्दी-साहित्येतिहास के क्षेत्र में कालविभाजन को लेकर कटाजुज्झ चल रहा है, वह असंगत हो जाता है। स्वागत नए नामों का होना चाहिये, पुराने नामों का तिरस्कार अवैज्ञानिक है क्योंकि वे हमें युगबोध में मदद करते हैं, उधर देखने को बाध्य करते हैं जिधर हमारी नजर नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं कि निश्चित कालविभाजन न हो, वह हो (और वह उक्त आधार पर हो) परन्तु कोटियों को अवधारणाओं के रूप में अपनाने पर यह विवाद शाँत हो सकता है।

हिन्दी में कुछ ऐसे "महान्" इतिहास लिखे गये हैं जिनमें प्रत्येक पृष्ठ के बाद सम्पादक की महत्वहीन रचनाओं की प्रशस्ति मिलती है। इन्हें हिन्दी साहित्य

के व्यक्तिगत या 'सम्पादकी इतिहास' कह सकते हैं क्योंकि ऐसे इतिहास में सम्पादक अपने प्रभाव और पद का दुरुपयोग कर कृतज्ञ लोगों से लेख लिखवाता है और कृतज्ञ शिक्षक और लेखक शिष्टाचार या व्यवहार-कुशलता दिखा जाता है। समीक्षा और प्रोत्साहक या निन्दक आलोचना में, यह चल सकता है पर आलोचना की पुस्तक को इतिहास क्यों कहा जा रहा है ?

इन अभिनन्दनग्रन्थात्मक इतिहासों से हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की मेधावी-जमात हीन दृष्टि से देखती है, जहाँ सत्य का नहीं, आत्म-स्थापना का राज्य है। लेखकों-शिक्षकों में यह क्षम्य हो सकता है पर इतिहासकार होकर इतिहास-विज्ञान को भ्रष्ट करना आगामी पीढ़ी पर अपने को बिला वजह आरोपित करने का षड्यंत्र है।

डॉ० महादेव साहा ने मुझे एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा है कि हिन्दी के आलोचक कहाँ हैं ? इस तरह के कैरियरवाद पर प्रहार क्यों नहीं होते ? आत्मगत इतिहासलेखक साम्प्रदायिक इतिहासकारों की तरह सत्य को विकृत करते हैं।

इतिहासलेखन में दृष्टि से भी अधिक महत्व मनोवृत्ति का है। यदि मनोवृत्ति या नीयत खराब है तब इतिहास प्रामाणिक न होगा।

हिन्दी में विभिन्न वादों या दृष्टियों के अनुरूप इतिहास लिखे जाने चाहिए। ये एक-दूसरे के पूरक होंगे क्योंकि जो तथ्य या व्यक्ति एक वाद के इतिहास में नहीं आएँगे वे दूसरी विचारधारा के इतिहास में आ जाऐंगे।

यह समझना गलत है कि दृष्टिसम्पन्न इतिहासकार "वैज्ञानिक" नहीं हो सकता। मानवचेतना इतनी विकसित हो चुकी है कि वह अपनी "दृष्टि" को भी तटस्थ होकर देख सकती है। लम्बी मगजपच्ची के बाद लोग जिस वाद या सिद्धान्त (कोई वाद न मानना भी एक दृष्टि या वाद है) पर पहुंचते हैं, उस वाद या दृष्टि पर बराबर निगाह रहती है कि वह तथ्यों के विपरीत तो नहीं जा रही।

इस अपनी दृष्टि, पद्धति और अभिव्यक्ति पर स्वचेतना के केन्द्रीकरण से ही, आदमी अपने ही सिद्धान्त या दृष्टि पर विचार करता रहता है और इतिहासलेखन में अपने वाद को भी परखता है कि कहीं वह एकांगी या अप्रासंगिक तो नहीं है ? इसी स्वचेतना की शक्ति से मनुष्य ने मतान्धता के विरुद्ध युद्ध किया है और इसी शक्ति से वादों का शोधन-संशोधन-परिवर्तन जारी रहता है। वैज्ञानिक होने का दावा करने वाले वाला मार्क्सवाद कोई धर्ममत नहीं है जो मात्र पूज्य और मान्य हो, जो बहस का विषय न हो।

यह मतों की अंधता वामपंथ में भी है और दक्षिणपंथ में भी। इस मतांधता-जन्य मूढ़ता के आवेग में "विश्व इतिहास" तक लिख डाले गये हैं पर उनमें अन्धमतवाद के कारण अथवा राजनैतिक अनिवार्यताओं के कारण पिछड़े हुए मगर बहुसंख्यक देशों के साथ अन्याय हुआ है। अब वे इसका बदला प्रतिपक्ष को नकार

कर ले रहे हैं। दोनों तरफ इतिहास विकृत हो रहा है या यह कहें कि भावी वैज्ञानिक इतिहास के लिए ये केवल घटनाएँ हैं और घटनाएँ एक पक्षीय हो सकती हैं। सारे पक्षों की गवाहियाँ सुन लेने के बाद ही इतिहास लिखा जा सकता है। जो इतिहास लिखे जा रहे हैं, वे सिर्फ ऐतिहासिक घटनायें हैं, शोध के उपकरण हैं, वे अपने में सत्य नहीं हैं, यों अपने पक्ष के प्रति वे सच्चे हैं।

इतिहास-विरोधी लेखक और विचारक जिस प्रकार किसी काल, देश और समाज के अन्तस्सम्बन्धों, घटनाओं के प्रेरक हेतुओं की प्राथमिकताओं-गौणताओं और बुनियादी और ऊपरी स्थितियों-निर्मितियों का रहस्य नहीं समझते उसी प्रकार वे कालों के आपसी रिश्तों को नहीं समझ पाते। मसलन् इतिहास शब्द का सम्बन्ध अतीत या व्यतीत काल से माना जाता है, पर जो व्यतीत है, क्या वह वर्तमानकाल में किसी रूप में जीवत नहीं है ? क्या भूत में वर्तमानकालीनता नहीं होती ?

मैं क्रोचे और कालिंगवुड के इतिहासदर्शन को अधिदार्शनिक (आइडियलिस्टिक) मानता हूँ लेकिन कालिंगवुड का यह मत मुझे युक्तिसंगत लगता है कि इतिहासदर्शन केवल अतीत से सम्बन्धित नहीं है, न वह अतीत पर इतिहासकार के सोच-विचार से प्रतिबंधित है, अपितु इतिहासदर्शन में इन दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध होता है या होना चाहिये। अतीत या भूतकाल, जिसका अध्ययन इतिहासकार प्रस्तुत करता है, कोई मृत भूतकाल नहीं होता बल्कि वह एक सीमा तक वर्तमानकाल में जीवित रहता है (सामूहिकमानस का नैरन्तर्य ऐतिहासिक स्मृतियों, ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं के साथ किसी मानव समूह का तादात्म्य)। अतएव कालिंगवुड प्रत्येक भूतकालिक घटना के पीछे स्थित विचार की समझ को इतिहासदर्शन के लिए अनिवार्यतः वांछनीय मानता है। इस अर्थ में वह इतिहास को विचार का इतिहास कहता है।[1]

लेकिन भूतकालिक घटना की पृष्ठभूमि में स्थित विचार को वैज्ञानिक तटस्थता के साथ समझने से ही इतिहास इतिहास बन सकता है। भूतकाल में वर्तमानकालिक विचार के प्रक्षेपण या आरोपण से इतिहास विकृत होगा। अंधमतवाद से इतिहास भूतकालिक विचार का इतिहास न रह कर इतिहासकार के अपने प्रिय विचारों के प्रचार का इतिहास बन जाता है।

आप क्रोचे और कालिंगवुड के विचारवादी इतिहासदर्शन को मानें या मार्क्स के भौतिकवादी या समाजसंरचनावादी इतिहासदर्शन को, इतिहासदर्शन में

---

[1] "The Past which a historian studies is not a dead Past but a past in some sense is still living in the present. But a past act is dead, meaningless to the historian unless he can understand the thought that lay behind it. Hence, all history is the history of thought."
—E. H. Carr, P. 22.

इतिहासकार की दृष्टि के अलावा उसकी वस्तुनिष्ठता, पूर्वाग्रहों के प्रति निस्संगता और तथ्यप्रियता से ही इतिहासलेखन स्तरीय और प्रामाणिक हो सकता है।

अभी तक हिन्दी के इतिहासलेखन-क्षेत्र में इतिहासदर्शन की विभिन्न अवधारणाओं और बोधों का परिचय भी पूरा नहीं हुआ है। इन अभिमतों और दृष्टियों पर विचार करते समय हिन्दी के लोग किसी एक या दूसरी मान्यता के प्रति पक्षधरता तो दिखाते हैं किन्तु इतिहासदर्शन से पूरी तरह परिचय पक्षधरता से भी अधिक आवश्यक है क्योंकि उससे पक्षधरता का भी स्तर ऊँचा उठता है। इतिहासकार की पक्षधरता भी उसे वैज्ञानिक की तरह इस बात के लिए तैयार रखती है कि वह स्वपक्ष के परीक्षण के लिए भी सन्नद्ध रहे अन्यथा बलात् प्रतिपक्ष का खण्डन शास्त्रार्थ हो सकता है, इतिहास नहीं।

मैंने "हिन्दी वाङ्मय बीसवीं सदी" (सम्पादक डॉ० नगेन्द्र) में बीसवीं-शताब्दी के हिन्दी साहित्य के एक सामग्रिक विहंगावलोकन में मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवादी अथवा संरचनात्मक दृष्टि को परखने की कोशिश की हैं और यह दिखाने की कोशिश की है कि सामाजिक सन्दर्भ में रखकर साहित्य के इतिहास को किस प्रकार देखा जा सकता है, किस प्रकार स्थिति और कृति में सम्बन्ध खोजा जा सकता है।

हिन्दी में प्रबुद्ध और निरन्तर संवाद, बहस और विश्लेषण के बिना न इतिहासदर्शस को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया जा सकता है, न वस्तुनिष्ठ इतिहासलेखन के बिना साहित्य और आलोचना को उपजाऊ बनाया जा सकता है। जैसे जिस मानवसमूह का इतिहास नहीं होता वह स्मृतिहीन होकर नष्ट हो जाता है, मानव समूह निर्मूलता (रूटलैसनैस) से ग्रस्त होकर वर्तमानकाल में अपनी जड़ें जमाये नहीं रह सकता, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास के बिना चीजें, प्रवृत्तियाँ, रचनाएँ और लेखक हमें एक निरन्तरता में न दिखाई देकर आकस्मिक और अद्भुत लगने लगेंगे। साहित्य और समाज के अन्तस्सम्बन्ध को समझे-समझाए बिना न साहित्य को समझा जा सकता है न समाज को। साहित्य समाज का गुणात्मक विकास होता है, अतः दोनों का कल्याण अन्तरावलम्बन के बोध में है जो इतिहासदर्शन हमें सिखाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि और हिन्दी साहित्य का इतिहास

क्या इतिहास सम्भव है ? तथ्यवादी (इम्पिरीसिस्ट) तथ्य तक सत्य को रखना चाहते हैं । जब-जब तथ्यों में कोई कार्यकारण सम्बन्ध ढूँढ कर, मानव इतिहास में किसी को कोई विकासक्रम या विकास योजना दृष्टिगत होती है तो तथ्यवाद उसे तथ्य पर दृष्टि का आरोपण अथवा ठोस तथ्यों में पूर्वानुमान या पूर्वाग्रह का आक्रमण मान बैठता है ।

इसके विपरीत मैकाले जैसे विचारक अन्तर्दृष्टि के आधार पर यह घोषित करते हैं कि भूतकाल की किसी घटना का अपने में कोई मूल्य नहीं है । उसका ज्ञान मानव समाज के भविष्य ज्ञान या घटनाओं के पूर्वानुमान के लिए ही आवश्यक होता है । यदि इतिहास से भविष्य बोध नहीं होता तो वह व्यर्थ का तथ्य–वृत्त संग्रह है ।[1]

इसके दूसरे ध्रुव पर कार्ल पॉपर की पुस्तकें “इतिहासवाद की दरिद्रता” (The poverty of Historicism) तथा “स्वतन्त्र समाज और उसके शत्रु” (The open society and its enemies) हैं, जिन्हें आधार बनाकर आज भारतीय विश्वविद्यालयों में इतिहासवाद और विशेषकर ऐतिहासिक भौतिकवाद के विरोधी, इतिहास को विज्ञान या समाजशास्त्र के संकायों में इसलिए स्थान दिला रहे हैं ताकि समाजशास्त्रीय क्षेत्रों में प्रचलित तथ्यवाद से इतिहास भी अनुरंजित रहे और ऐतिहासिक तथ्यों में कोई परिलक्षित होने वाली प्रवृत्ति या कोई कार्यकारण संबंध, कोई विन्यास (पैटर्न) या भविष्य के लिए मिलने वाले संकेत के साथ इतिहास का

---

[1] No past event has any intrinsic importance. The knowledge of it is valuable only it leads us to form just calculations with regard to the future. A History which does not serve this purpose, though it may be filled with battles treaties and commotions, it is useless as the series of turnkike tickets.

—Essay on History maeaulay

सम्बन्ध समाप्त कर दिया जाये और इतिहास-ज्ञान, सामाजिक-परिवर्तन से असंबंधित होकर सिर्फ तथ्यों के सर्वेक्षणों और रपटों तक सीमित हो जाये।

हीगेल ने इतिहास की सम्पूर्णतापरक विश्वदृष्टि प्रस्तुत की थी और विकास की द्वन्द्वात्मकता का सत्य उजागर किया था अतएव कार्ल पॉपर ने सर्वाधिक प्रहार हीगेल पर किये हैं, इसलिए भी कि हीगेल के इतिहासवाद से आध्यात्मिक चेतना की अवधारणा निकालकर, उसके स्थान पर भौतिकता को निर्णायक महत्व देकर कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। अतएव हीगेल के खण्डन से मार्क्स स्वयं खण्डित हो जाता है।

कार्ल पॉपर हीगेल की दार्शनिक पद्धति को अमान्य करता हुआ उस पर आरोप लगाता है कि हीगेल अपनी मनोगत योजना को, इतिहास में प्रतिष्ठित करता है। वह ऐतिहासिक नियति को अन्धविश्वास कहता है और न वह इतिहास-ज्ञान के आधार पर भविष्यानुमान को सम्भव मानता है।[1] वह मानवज्ञान को ऐतिहासिक विकास में निर्णायक मानता है, भौतिक जीवन पद्धति अथवा मूल समाज-संरचना (आर्थिक आधार) को नहीं। वह सैद्धान्तिक इतिहास को अस्वीकार करता है। वह इतिहास में सीमित अथवा समाजदशाओं में सम्भव कार्यकारणवाद को नहीं मानना चाहता।

इतिहास में विश्वचेतना आत्मानुभूति में संलग्न है, यह अध्यात्मवादी दृष्टि भले ही मनोगत (Subjective) लगे किन्तु मानवसमूह, वास्तविक जीवन अनुभव और घटनाओं-अनुभवों की स्मृतियों से यह जानते हैं कि भूतकाल के परिदृश्य या घटनाओं और अनुभवों के चलचित्र में आधारभूत संघर्ष, आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के साथ-साथ स्वतंत्रताओं के लिए हुआ है। मानव-विकास की अन्य चैतन्य (काँशस) संरचनाएँ मूलतः वास्तविक जीवनसंघर्ष से जुड़ी हुई हैं अतः आधेय-आधार-सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है लेकिन इस सामाजिक-विधि या सामाजिक नियम और प्रवृत्तियों को याँत्रिक ढंग से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि मानव-चेतना, नींव से जुड़ी रहने पर भी, विकास की लम्बी अवधि में स्वतंत्र हो चुकी है अतः वह चेतनागत धरातलों पर अपेक्षाकृत मुक्त हो जाती है यों उसकी कल्पनाओं और फंतासियों में वास्तविक जीवन और इतिहास या सामूहिक अवचेतन की प्रतिध्वनियाँ और आभास प्रतीत होते हैं।

कार्ल पॉपर की यह बात सही है कि भौतिक विज्ञान के नियमों की अटलता इतिहास में असम्भव है किन्तु इतिहासवादी की यह बात भी सच है कि समान

---

[1] The belief in Historical destiny is sheer superstition.
—The poverty of Historicism—

Karl R. Popper—1957

स्थितियाँ, काल के विभिन्न प्रवाहों में तुलनीय हैं क्योंकि घटनाओं में आवृत्तियां इसलिए होती हैं क्योंकि मानव जीवन और सामाजिक प्रकरण में ऐसा बहुत कुछ है जो आवृत्त या रिपीट हो रहा है, प्रकृति और परम्परा इसमें स्थायी भूमिका अदा करती हैं, फिर भी मनुष्य समाज परिवर्तन के क्रम में किसी घटना को यथावत् नहीं दुहराता। उसकी अंतर्वस्तु में कालावधि के अनुरूप या प्रयुक्त जीवनविधि के अनुकूल नवीनताएँ आती हैं, फलतः सृजन और चिंतन में भी गुणात्मक विकास होता है और ऐतिहासिक उपलब्धियों का चेतनागत विकास में सचेत उपयोग शुरू हो जाता है।

यह सच है कि सामाजिक एकरूपताओं को नियम नहीं कहा जा सकता। घटनाओं और उनके कलात्मक प्रतिबिम्बों में एकरूपता का एक पक्ष दिखाई पड़ता है किन्तु विकास की अगली सीढ़ी पर एकरूपता से अधिक विशिष्टताएं या भिन्नताएँ उभरी हुई जान पड़ती हैं। इतिहासकार और साहित्य का इतिहासविद्, घटनाओं की पुनरावृत्ति और भिन्नता को एक साथ, एक सिलसिले में देखता है और निष्कर्ष निकालता है अथवा मत प्रकट करता है।

समाज अपनी उन्नति के क्रम में, अनुभव करता है, उस अनुभव-धारा की स्मृति रहती है। मानवसमाज इस स्मृति से प्रभावित प्राणियों का समुदाय है। इन स्मृतियों में घटनाएँ, मिथक, विश्वास (धर्म), मान्यताओं, मर्यादाओं के विन्यास और सृजन तथा विचार होता है। यह किसी भी देश की अक्षय थाती है, लेकिन इसका अध्ययन और व्याख्या, उसके सारतत्व की पकड़ मात्र अन्तर्दृष्टि और अचेतन के नैरन्तर्य से नहीं हो सकती, इसके लिए यह निर्धारण जरूरी है कि किस तरह इस धरोहर की व्याख्या की जाए, इसे समझा कैसे जाए ?

इतिहास की पद्धति यदि आधेय-आधार सम्बन्ध मान कर चले तो कृति, रचनाकार की चेतना, बाह्य शक्तियों और प्रभावक तत्व या जीवन की बुनियादों के सम्बन्धों की बुनावट का पता चल सकता है। असम्बन्धित रूप में, राजनैतिक, सामाजिक-आर्थिक घटनाओं या प्रक्रियाओं का बखान, साहित्येतिहास को अपर्याप्तता देना है। पर्याप्तता तो चीजों, घटनाओं, प्रक्रियाओं और उनकी चिंतनात्मक या कलात्मक अभिव्यक्तियों में अंतस्सम्बन्ध की खोज से आ सकती है और हिन्दी में जो विराट इतिहास इधर छपे हैं, उनमें ब्यौरों का, परिवेश और सामाजिक जीवन तथा सामाजिक शक्तियों के द्वन्द्वों और संगतियों का अन्वेषण करता हुआ मस्तिष्क नहीं है। यह भी अपर्याप्तता है कि संस्थाओं और व्यक्तिशः सम्पादित इतिहासों में विभिन्न प्रकार और विभिन्न स्तरीय लेखकों का योगदान है अतः इन इतिहासों में इतिहास के लिए कच्चा माल तो है पर इन्हें पूर्ण इतिहास कहना कठिन है।

इतिहासवाद पर एक अन्य स्रोत से आक्रमण हुआ है। कहा गया है कि कृति अनुपम और स्वतन्त्र रचना होती है अतः ऐतिहासिक विधि पर उसका अध्ययन असम्भव है, न साधारण को लेकर विशिष्ट को एक शृंखला में रखकर मूल्यांकित किया

जा सकता है। 'आधुनिकतावादी' और "कला कला के लिए" वाले इसी मत को मानते हैं। अध्यात्म और साधना के मर्मी दार्शनिक तथा मानसिक प्रत्ययवाद (बिशप बर्कले) आदि क्षेत्रों के बौद्धिक चेतना को प्रकृति का विकास नहीं, प्रकृति-गुणातीत, दिक्कालोत्तीर्ण चिन्मय शक्ति मानते हैं, अत: वह परिवेश, समाज, राजनीति, वास्तविक जीवन प्रभाव आदि की छलांग कर स्वतन्त्र सृष्टि रचती है। उसको जीवनसन्दर्भ में रखकर व्याख्या का प्रयत्न ऊपरीपन है, यह उनका अभिमत है।

किन्तु ज्ञान के समाजशास्त्र ने अधिदार्शनिकों का यह मत अमान्य सिद्ध कर दिया है कि चेतना अप्रभावित होकर अनुपमता प्राप्त करती है। इस वाद-युद्ध में वे साम्यवाद और भौतिकवाद विरोधी, ज्ञान के समाजशास्त्री भी शामिल हैं जो व्यक्ति की चेतना पर संस्थाओं (परिवार, शिक्षालय, क्लब, दल, संगठन, कार्यक्रम, व्यावसायिक प्रतिष्ठान, कार्यालय आदि) के प्रभाव, व्यक्ति और संस्थाओं के द्वन्द्व और सामंजस्य पर लिख रहे हैं। "निराश्रित मस्तिष्क" (The Homeless Mind) में पीटर बर्गर और हैंसफ्रेड कैलनर आधुनिक व्यक्ति की चेतना पर संस्थाओं का प्रभाव और तजन्नय कशमकश दिखाते हैं। अधिदार्शनिक इसे स्वीकार भले ही न करें किन्तु जीवन वास्तव और सृजन-चिंतन में अनिवार्यत: स्थित सम्बन्ध का अन्वेषक अनुपम या अद्भुत कृति के गठन पर विचार करते हुए संघटक अवयवों के सन्दर्भों को टटोलेगा।

आधुनिकीकरण की जटिल प्रक्रिया और उसके मध्य ऐतिहासिक प्राणी के रूप में द्वन्द्वमग्न मनुष्य की वास्तविक स्थितियों और समाज संरचनाओं को समझे बिना आधुनिक और अनुपम कृति की व्याख्या नहीं हो सकती। साहित्य के इतिहास में लेखक की मनोगति के कारण और सूत्र, वास्तविकता में खोजे जाएँगे और कई अनुपम कृतियों के किसी विशिष्ट कालावधि में, एक सामान्य मनोदशा में रचे जाने से, एक विशिष्ट शिल्प और रूप में ढलने से, एक सामान्य प्रवृत्ति अवश्य उभरती है जैसाकि अनुपमता के अभ्यासी नए काव्य में हुआ। 'अंधायुग', 'आत्मजयी', 'संशय की एक रात' वगैरह में एक सामान्य प्रवृत्ति है, रुझान है, चयन है, उसी तरह, जिस तरह युद्धोत्तर अस्तित्ववादी चिन्तन और सृजन में एक सामान्य प्रवृत्ति है और जिसके ठोस राजनैतिक सामाजिक कारण हैं, युद्ध जिनका अवश्यम्भावी परिणाम था।

मानव समाज के ऐतिहासिक विकास और उसकी प्रक्रिया के ब्यौरे में गए बिना सामान्य नियमों, आवृत्तियों और श्रृंखलाबद्ध गति को नहीं समझा जा सकता। इसी अर्थ में इतिहासलेखन में वैज्ञानिकता अथवा वस्तुगतता लाई जा सकती है। समाजशास्त्र ने ऐतिहासिक क्षेत्रों में हुई खोज के अलावा, समाज गति की प्रक्रियाओं की पहचान की महत्वपूर्ण जानकारियाँ और अवधारणाएँ प्रस्तुत कर दी हैं। उन्हें प्रयुक्त किए बिना इतिहास के स्थान पर आलोचना या वृत्त संग्रहों का अम्बार लगता रहेगा।

आधुनिक समाज संरचना और उसके अनाम, मानव सम्बन्धहीन और मूर्त्त होने पर भी अमूर्त्त सी लगने वाली जीवनपद्धति ने, पूंजी और उसके उत्पादन-वितरण की आधिपत्यवादी प्रतियोगिता ने, कलाकार और लेखक को पाश्चात्य पूँजीवादी देशों में यथार्थ के अमूर्त्तन के लिए विवश किया। यह न देखने वाला इतिहासकार अमूर्त्त कला और कविता का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से नहीं जोड़ सकता और इस जुड़ाव की तलाश के बिना सिर्फ रचनाओं की विचित्रता का वर्णन होगा, उस वैचित्र्य या मौलिकता के सन्दर्भ अनदेखे रह जाएंगे, यह मांग भी कि इस अलगाववर्धक जीवन पद्धति में मौलिक परिवर्तन करने होंगे। कार्ल पॉपर ऐसे महान संकल्पों की संभावना को मुक्त समाज का शत्रु घोषित कर देता है। उसे संकल्पों के कारणों के अनुसंधान का धैर्य व्यर्थ लगता है और वह इस प्रकार इतिहास की सम्भावना से या तो इन्कार कर देता है या सिर्फ तथ्यवादी इतिहासों को इतिहास मान लेता है।

जैसा कि "कार" ने "इतिहास क्या है" (What is History) में बताया है कि इतिहास, विशिष्टों की पहचान करके भी, विशिष्टों में सामान्यताओं या सादृश्यों का बोध है और इन सामान्यताओं और विशिष्टताओं की बुनियादों के साथ रिश्तेदारी की तलाश भी। साहित्य के इतिहास में युग या काल इसी पहचान के आधार पर बनते हैं।

"द होमलैस माइंड" में आधुनिकता को समझाने के पूर्व लेखक के कौफी अवूनर की कविता का एक अंश उद्धृत किया है और कवि की मानव चिंता, प्राकृतिकता और लगाव के लिए मानववेदना (Agony) को, उस व्यवस्था से सम्बन्धित किया है, जिसे आधुनिक-व्यवस्था कहा जाता है। आधुनिक सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था की चर्चा न कर, उसके अन्तर्विरोधों-खतरों और अमानवीयताओं पर न सोच कर सिर्फ आधुनिकता को अमूर्त्त रूप में समझना अधूरा कार्य है, जिज्ञासाओं को सीमित करना और यथास्थिति की रक्षा करना है।[1]

---

[1] On this dirty patch
a Tree once stood
Shedding incense on the infant corn
its boughs stretched across a heaven
brightened by the last fires of the tribe
They sent surveyors and builders
Who cut that tree
Planting in its place
A huge senseless cathedral of doom.

—Kofi awoonror

एक विचार यह भी है कि साहित्य के इतिहास सिर्फ कलात्मकतागत विभिन्नता के आधार पर लिखे जाएँ, शैलियों के वैभिन्नय के अनुसार संकलित किए जाएँ। यह होना चाहिए। ऐसे इतिहास, वास्तविक इतिहास के लिए अमूल्य सामग्री देंगे। उदाहरणतः अमूर्त कला और साहित्यिक रचनाओं का एक जगह एकत्र विवरण, इतिहासकार को कलाबोध देकर वास्तविकता के साथ उसके सम्बन्ध को खोजने के लिए उसे मुक्त कर देगा अतएव पूरक इतिहासों, तथ्यों के संकलन-आकलन और कृतियों की सूचियों-संग्रहों का आधारभूत महत्व है।

इतिहासवादी, शब्द से जीवनसंदर्भ की ओर चलता है और जीवन सन्दर्भ और वास्तविक आशा-आकांक्षाओं-मूल्यों-मान्यताओं, बुनियादी सम्पूर्त्तियों की तरफ से साहित्यिक शब्द की ओर बढ़ता है। वह एक वैज्ञानिक की तरह कृति के दिक्कालसमाजगत संगठक अवयवों और उनके सम्मिलित प्रभावों और प्रेषणों को परीक्षित करता है और मानव प्रयत्नों के सिलसिले में रखकर उस कृति या कृतियों के महत्व को आंकता है।

यह कहना गलत है कि कृतियों का इतिहासकार सबसे अन्त में उनकी कलात्मकता और प्रभाव को जान पाता है। यदि वह ऐसा है तो वह मात्र स्थूलताओं का संग्राहक और सर्वेक्षक है। इतिहासवेत्ता में व्यक्ति और युग की कृति और वास्तविकता की अचूक बुद्धि होती है। यह आदर्श है और विभिन्न इतिहासकार अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसी दिशा में सक्रिय हो सकते हैं। इतिहासकार यदि आलोचक से बड़ा नहीं है तो वह रचनाओं की विशिष्टता की पहचान में भूल करेगा और आलोचक यदि इतिहासबोध रहित है तो वह मानव प्रगति की शृंखला भूलकर किसी प्रिय या किसी कारण प्रसिद्ध कृति का अति-मूल्यांकन करेगा। आलोचना में अति-मूल्यांकनों और अवमूल्यनों का भी, अन्तिम मूल्य निर्धारण में महत्व हो सकता है किन्तु इतिहासकार के असन्तुलित तथा अबोध निर्णयों से भावी पीढ़ी का मूल्यांकन बोध धुंधला हो सकता है।

अन्त में हिन्दी साहित्य के नवीन इतिहासों और उनकी समस्याओं के विषय में बहस के लिए कुछ सूत्र छोड़कर मैं अपनी बात समाप्त करूंगा। इधर के इतिहास में या तो सामग्रिक इतिहास दृष्टि का अभाव है, एक संग्रथित बोध की कमी है या फिर वे "सारस्वत सामंतवाद" के प्रभाव में लिखाए गए इतिहास हैं, जिनमें सम्पादक और उसकी प्रियताओं-अप्रियताओं का ध्यान रखकर लेखकों ने विभिन्न अध्याय लिखे हैं। आत्मबिम्बप्रिय प्रभावशाली सम्पादकों ने साहित्य के इतिहास में अपने को अमर करने के लिए जो इतिहास सम्पादित किए हैं, उनका महत्व कच्चे माल से अधिक नहीं है।

अतएव हिन्दी साहित्य के इतिहास को पंडित रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास से आगे बढ़ाने के लिए पहले हिन्दी विभागों को अपने-अपने क्षेत्रों के साहित्य का पूर्ण

ब्यौरा तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपनी होगी। सामग्री की कमी और बिखराव के अभाव में कोई एक व्यक्ति या तो इधर उन्मुख नहीं होता या अधूरी सामग्री से काम चलाता है। साहित्य रचना और प्रकाशन के व्यवस्थित संग्रह के बिना साहित्येतिहास से सम्बन्धित परिसंवादों में कालविभाजन जैसे विषयों पर चर्चा केन्द्रित हो जाती है किन्तु इस विषय में निवेदन है कि इतिहासकारों द्वारा किए गए काल विभाजन को अवधारणाओं के रूप में लिया जाना चाहिए जैसे "वीरगाथा काल" शब्द का मतलब सामन्ती वीरता की प्रवृत्ति से है। फिर भी यह प्रश्न विचारणीय है।

राजस्थान में आने पर मुझे महसूस हुआ कि वीरगाथायें अधिकतर भक्तिकाल में लिखी गई हैं जिसकी शृंखला रीतिकाल में भी चलती रही है, अतः भक्तिकाल का नाम "वीर भक्तिकाल" या "वीरता भक्तिकाल" हो सकता है। "आदिकाल" नाम "वीरगाथाकाल" से अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि यह युग भाषा के विकास का युग था और अनेक प्रवृत्तियां काम कर रही थीं।

भक्तिकाल में एक ओर तो भक्त और सन्त कवियों का कृतित्व सामने आता है तो दूसरी ओर चारण और भट्ट कवियों द्वारा राजस्थान में गाथा-निर्माण का कार्य होता है जो रीतिकाल में भी चलता रहता है। अधिकतर वीरगाथायें महाभारत की तरह लगातार बढ़ाई जाती रही हैं और उनमें एक पूरी चारण-परम्परा का योगदान है।

रीतिकाल के विषय में भी अनेक भ्रम टूट रहे हैं। केशवदास के काफी पहले आचार्य कुशललाभ ने "पिंगलसिरोमणि" ग्रंथ लिख कर रीतिकाल का प्रवर्त्तन किया। इन आचार्य-कवियों की स्थिति और भूमिका के विषय में भी मतभेद की गुंजाइश है। उदाहरणतः रीतिकाल के कुलपति मिश्र, सोमनाथ, हरिचरणदास (किशनगढ़ के राजा बहादुरसिंह, नागरीदास के भाई के आश्रित) जान कवि, कृष्ण-भट्ट कलानिधि, सूरति मिश्र और रसिक गोविन्द की स्थिति राजस्थान के राजाओं या राजकुमारों के कला गुरुओं जैसी थी। वह संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा का समर्थ फारसी प्रभाव का सामना करने के लिए कर रहे थे। उनका उद्देश्य और भूमिका परम्परारक्षक की थी, राजाओं और सामन्तों के विलास के सहायक के रूप में नहीं। सूरति मिश्र की तरह अनेक आचार्य कवि मानुषी कवित्त न कर भक्ति परम्पराओं का पालन किया करते थे। अर्थात् वे सामन्ती जीवनपद्धति को आदर्श न मानकर मनोराज्य या युटोपिया का विरोधी रंग प्रस्तुत कर शासकों से अपना मूल्य-धरातल उच्चतर रखा करते थे।

आधुनिक काल में सामन्तकालीन धर्म (विश्वास) वीरता और शृंगार की जगह सामाजिक चेतना और वैयक्तिक चेतना का विकास हुआ, जिसमें इन दोनों चेतनाओं के द्वन्द्व और समानांतर विकास का एक प्रवाह मिलता है और जिसमें अनेक धाराएं विशेष और उसके सामाजिक-वैयक्तिक अन्तस्सम्बन्धों की खोज की जा

सकती है । सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास का विभाजन दो बृहत्तर कोटियों में ही होगा-सामन्तकाल और आधुनिक काल । सामन्तकाल में वीरता, भक्ति, शृंगार और रीतिबद्धता के युग आये हैं और आधुनिक काल में सामाजिक चेतना के विभिन्न प्रवाहों के । इनका आकलन नए सिरे से करना होगा ।

सही ऐतिहासिक दृष्टि से मानवचेतना के किसी भी प्रयत्न और उसके प्रवाह का विच्छिन्न या निरपेक्ष इतिहास नहीं हो सकता । किसी भी मानवविद्या या कला का इतिहास, किसी समाज के सामान्य इतिहास के ऊपर निर्भर करेगा और जब तक भारतवर्ष के सामाजिक विकास का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा के साहित्य का इतिहास भी पूर्ण नहीं हो सकता । फिर भी इस दिशा में किये गये प्रयत्नों से ही हम पूर्णता की ओर बढ़ सकते हैं ।

काम्ते का यह कथन कि मानव हृदय की अभिलाषाओं को पूर्ण करने का कार्य मानवबुद्धि का है, हमें हमेशा याद रखना होगा ।[1] मानवबुद्धि तथ्यों अथवा साहित्य के इतिहास में रचना-तथ्यों की भरमार से विवेक धुन्धला न हो, यह जरूरी है, से विकसित बुद्धि सत्य को अन्ततोगत्वा देख ही लेती है और कृतियों की श्रेष्ठता और उनके मानवीय प्रभाव को सामान्य मानव प्रगति और चुनौतियों के सन्दर्भ में मूल्यांकित करती चलती है । यह एक गत्यात्मक कार्यकलाप है और सामान्य इतिहासकारों तथा साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए यह बौद्धिक चुनौती है कि वे शुद्ध जिज्ञासा से इस क्षेत्र में सक्रिय हों और इतिहास की सामान्य मीमाँसा और लेखन पद्धति के विषय में बुनियादी बहस के लिए तैयार रहें तभी हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की पेशकश हो सकती है अन्यथा संस्थागत अथवा सारस्वत सामंतवाद से इतिहासलेखन विकृत होता रहेगा ।

---

[1] "It is for the heart to suggest our problems; it is for the intellect to solve them...the only position for which the intellect is primarily adapted it to be the servant of the social sympathies."

साहित्य की शोध-प्रविधि : समाजविज्ञान से सम्बन्ध

यदि साहित्यकृति और जीवनसन्दर्भ की समानान्तरता मान ली जाए तो वस्तुगत शोधप्रविधियों का प्रश्न ही असंगत हो जाता है किन्तु "कला कला के लिए है" की अवधारणा के जन्म और विकास का भी जब सामाजिक सन्दर्भ सिद्ध हो जाता है,[1] तब साहित्यिक कृतियों के जीवन और समाज के गत्यात्मक यथार्थ के सन्दर्भ में विश्लेषण की प्रविधि का प्रश्न सम्मुख आता है।

पारम्परिक काव्यशास्त्र में या तो आत्मगत स्तर पर, मनोवैज्ञानिक तादात्मय के आधार पर कृतियों में अंतरस्थित मूलतत्व (रसादि) की खोज की गई है, अथवा कृति को एक अंशी मान कर, उसके विभिन्न अंशों की सौंदर्यबोधात्मक संगति पर विचार किया गया है जैसा कि कोलरिज के सृजनात्मक-कल्पना के सिद्धान्त में हुआ है। अवयवों की अवयवी के साथ संगति का सिद्धान्त भरत और अरस्तू जैसे प्राचीनों द्वारा भी सत्किंचित संकेतित-विवेचित हुआ है। इसके सिवा काव्यशास्त्रियों ने कृतियों के पाठ-विश्लेषण के लिए शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति आदि काव्यांगों के विश्लेषण के लिए अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि पर विचार किया है।

पर्यवेक्षण और भागीदारी के आधार पर प्राचीनों ने सहृदयों या प्रेक्षकों पर काव्य-नाटक आदि के प्रभावों और कलाकृति के सम्प्रेषण-समस्या (साधारणीकरण) पर भी चिंतन किया है और इन मूल धारणाओं और अंतर्दृषियों के विकास का एक सिलसिला आधुनिक युग तक चला आ रहा है।

आत्मतत्त्वमीमांसको में प्लेटो ने यदि साहित्य और कला की प्रकृति को पराज्ञान के आधार पर अतात्विक या अनुकरणशील सिद्ध किया तो क्रोचे ने उसे मात्र आत्माभिव्यंजना के रूपों में प्रस्तुत किया, यहां तक कि इसकी बाह्य-अभिव्यक्ति भी गौण घोषित कर दी गई। इधर अस्तित्ववादियों ने साहित्य को अस्तित्वमीमांसा का पर्याय बनाकर जिज्ञासा को चेतना मात्र तक ही सीमित कर दिया।

---

[1] अनएड्रैस्ड लैटर्स—प्लखानोव

साहित्य को एक विचार व्यवस्था और सामाजिक संस्था के रूप में सर्वप्रथम कार्ल-मार्क्स और एंग्गिल्स ने देखा था। इस सम्बन्ध में दो आपत्तियाँ की गई-प्रथम यह कि मार्क्सवादी विचारक, लेनिन, प्लेखानोव आदि'साहित्य को समाज के वर्गगत स्वरूप का उपतत्त्व (epiphenomenon) मानते हैं और उनके विश्लेषणों में कृति गौण और सन्दर्भ या सामाजिक-ऐतिहासिक विवेचन प्रधान हो जाता है। ये दोनों आपत्तियाँ विश्व के प्रत्येक देश में मार्क्सवादी साहित्य-मीमांसा के विरुद्ध दुहराई जाती रही हैं। समाज के आर्थिक आधार पर स्थित उपरि-आधार (superstructure) के रूप में संस्कृति, साहित्य, विधि, दर्शन, धर्म आदि को मान्यता देने के कारण मार्क्स ने यह स्थापित किया था कि उपरि-आधार का स्वतन्त्र इतिहास नहीं हो सकता। धर्म, विधि, साहित्य, दर्शन आदि का इतिहास, समाज के मूलाधार (आर्थिक उत्पादन के साधन + वितरण) के साथ सम्बन्ध दिखाते हुए ही लिखा जा सकता है क्योंकि चेतना का नियमन या कंडीशनिंग भौतिक जीवन से होता है, चेतना भौतिक जीवन की नियामक नहीं होती।

मार्क्सवादियों द्वारा प्रस्तुत उक्त आधार-आधेय सम्बन्ध को दृष्टिगत रखकर, साहित्य के विश्लेषण और इतिहास लेखन के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, उनमें न केवल उक्त दोनों आपत्तियों की पुनरावृति होती है अपितु साहित्यिक व्यक्ति या कलाकार और उसकी कृति को निरपेक्ष, अनुपम, अविश्लेश्य, अद्‌भुत और अनिर्वचनीय कहकर साहित्य के वस्तुगत और समाजवैज्ञानिक विश्लेषण की संभावना को ही काट दिया जाता है।

इस सम्बन्ध में तथाकथित "नयी समीक्षा" या नवकवितावाद की भूमिका के विषय में "साहित्य और नाटक के समाजशास्त्र" नामक पुस्तक के सम्पादकों का निरीक्षण उद्‌धृत करने योग्य है :—

"Ortega, Levis, Eliot, Pound,etc. of traditional humanism revolted against Marxism.......Their writings and perhaps the whole Anglo-American school of the New Criticism, which they fathered, can now be seen partly, even largely as a response and counter attack to tbe Marxist understanding of the autonomy of literature."[1]

वास्तविकता यह है कि मार्क्स और एंगिल्स के सिद्धान्त में साहित्य को वास्तविकता की समग्र संरचना (STRUCTURE) का अंग मानकर भी उसकी अपेक्षाकृत स्वायत्तता का तथ्य स्वीकृत है जैसा कि एंगिल्स के पत्रों द्वारा प्रमाणित होता है। स्टेनर ने अपने एक लेख में इसे दिखाया है।[2] एंगिल्स साहित्यकार

---

1. Edt. *Elizabeth and Tom Burns, Sociology of Literaturc Drame*, Panguin Education.
2. Steiner, वही

द्वारा विचारधारा के आरोप के स्थान पर कृति के भीतर से उभरे हुए विचार की परख पर बल देते हैं और पक्षधरता (टेन्डेन्शियस) का समर्थन करते हुए भी वह साहित्य की स्वायत्तता की ओर ध्यान खींचते हैं। इसी प्रकार लेनिन के प्रसिद्ध लेख "दल और साहित्य" का सम्बन्ध राजनैतिक लेखन या दल साहित्य के साथ प्रमाणित हुआ है जैसाकि क्रुप्सकाया ने बताया है कि लेनिन दल-साहित्य और ललित साहित्य में अन्तर करते थे। साहित्य में वस्तु और रूप की संगति के प्रसिद्ध मार्क्सवादी सिद्धान्त के विषय में भी वस्तु और रूप की द्वन्द्वात्मक संगति अथवा साहित्यिक-कृति की संकुलता के समर्थन में अब बुख़ारिन का यह मत उद्धृत किया जा रहा है कि वस्तु और रूप की एकता तो ठीक है परन्तु यह एकता वस्तु और रूप के द्वन्द्वों में होती है। अतएव यह एकता सरल नहीं, संकुल होती है—

Form and content consttiute a unity but a unity of contradictions.[1]

जहाँ तक मार्क्सवादी प्रविधि में साहित्य-विवेचन के स्थान पर, सामाजिक पृष्ठभूमि या ऐतिहासिक-विवरण प्रधान हो जाने की शिकायत का प्रश्न है, इस संबंध में लुकाच और लूसियाँ गोल्डमान की विवेचन प्रविधि से, मार्क्सवादी शोध प्रविधि अब पृष्ठभूमि या ऐतिहासिक-प्रविधि-प्रयोग के साथ-साथ कृति के पाठ-विश्लेषण में भी प्रासंगिक सिद्ध हो चुकी है और यह कार्य अपने देश में भी एक सीमा तक नव प्रगतिशील-आलोचकों ने किया है। जडानोव-स्तलिन से गोल्डमान तक मार्क्सवादी शोधप्रविधि या व्याख्या-प्रकार के विकास से साहित्य और बाह्ययथार्थ या सामाजिक सन्दर्भ के संकुल सम्बन्ध को रेखाँकित करते हुए, किसी भी कृति के आंतरिक तत्वों और उसकी रूपात्मक संगति की पहचान का आधार तैयार हो चुका है। इस नवीनतम प्रयत्न में रचना मात्र दस्तावेज नहीं मानी जाती बल्कि गत्यात्मक सामाजिक-प्रसंग में सर्जनात्मक सक्रियता के प्रतिफलित रूप में उसे परखा जाता है ? रचना शून्य या अनंकित धरातल (टेबुला रसा) पर अजूबे की तरह नहीं उपजती, उसकी उत्पत्ति और निष्पत्ति के वस्तुगत जीवन प्रसंग और सामाजिक कारण होते हैं। वह यथार्थ का प्रतिबिम्बन और पुनर्निर्माण साथ-साथ करती है, और मनुष्य और समुदायों के जीवन संघर्ष और विकास में, एक विशिष्ट काल-क्रम में एक विशिष्ट भूमिका पूरी करती है या विशिष्ट प्रभाव डालती है।

कृति और बाह्य यथार्थवृत्त के अन्तस्सम्बन्ध और परस्पर प्रभाव का परीक्षण ही साहित्य की शोध-प्रवृत्ति को समाज वैज्ञानिक बनाने के लिए प्रेरित करता है और प्रविधि की समाजवैज्ञानिकता का प्रश्न आते ही, मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय शोध-विश्लेषण प्रविधि की वरेण्यता की चुनौती उपस्थित होती है।

---

[1] Steiner, in *Sociology of Literature and Drama* p. 167.

नार्थोप फ्राय ने सभी प्रविधियों के प्रयोग की असंगतियों को बताते हुए यह स्थापना की है कि जीवनपरक और ऐतिहासिक प्रविधियां साहित्यिक रूप या फार्म की परवाह कम करती हैं कि वे लेखकीय भाषा को विश्लेषण का विषय नहीं बनातीं और यह कि इतिहासवादी और जीवनपरक विधियों में, सन्दर्भ के साथ कृति के निषेधात्मक सम्बन्ध से जन्म अनुपमताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। नार्थोप फ्राय नयी-समीक्षा-विधि को भी अपर्याप्त मानता है क्योंकि नयी समीक्षा कविता के अलंकार या अभिव्यक्तिरूपों के विश्लेषण तक ही सीमित थी।[1] दूसरे, नयी समीक्षा में आलोचक विदग्ध वक्ता (औरेटर) की तरह पाठकों को पछियाने की कला का प्रदर्शन करते हैं[2] जो गम्भीर शोध और विश्लेषण-प्रविधि में नहीं चल सकती। नयी समीक्षा ने फ्राय के अनुसार कविता की अलंकृति और मुहावरे की समीक्षा की और जीवनपरक आलोचना को अमान्य किया। उसमें काव्यभाषा की समझ पर आकर्षक कार्य हुआ लेकिन उसने सामाजिकपृष्ठभूमिवादी आलोचना का विरोध किया, मार्क्सवादी-शोध-प्रविधि के विरुद्ध जिहाद छेड़ा:—

"It simply explicated one work after another paying little attention to any larger structural principles connecting the different work explicated. In general, the movement at least in America, was anti-Marxist"[3]

नार्थोप फ्राय साहित्य के भीतर ही साहित्य का सन्दर्भ खोजना चाहता है। मसलन् एक लेखक की कृति को उसके सम्पूर्ण लेखन के सन्दर्भ में समझना। उसका विचार है कि इससे फ्रायडवादी प्रविधि-भ्रम से छुटकारा मिलेगा। उसके अनुसार कविता सम्प्रेषण की तकनीक है और यह चेतनमन को जितना आकर्षित करती है, उतना ही वह अचेतमन को मोहक लगाती है। यह भी होता है कि रचना का सम्प्रेषण-समस्या में सफल होना जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही असफल या अंशतः सफल होना।

नार्थोप फ्राय का कहना है कि पहले सन्दर्भ और रचना से विश्लेषण शुरू हो, जहां केन्द्रीय बिम्बों और अर्थ-आवर्तों का मूल है। वह मार्क्सवादियों जैसा साहित्य का इतिहास नहीं चाहता, वह साहित्य के इतिहास में परम्पराओं-रूढ़ियों (conventions) बिम्बगुच्छों या आर्कोटायप्स और विधाओं का इतिहास चाहता है। वह साहित्य परम्परा को इतिहास से अधिक प्रभावक मानता है:—

"Conventions seemed to be force even stronger than history,"[4]

---

1. This was a Rhetorical form of criticism.
2. Persuasive power of an orator—The Social Context of Literaty Criticism.
3. वही
4. वही

फ्राय का विचार है कि रचनाकार का सम्बन्ध रचनाजगत और उसकी परम्परा से उसी तरह है जैसे कि वैज्ञानिक का विज्ञान के साथ है। इस ऐतिहासिक उपरिदृष्टि (Historical overview) से साहित्य के भीतर क्या हुआ है, इस पर आलोक-प्रक्षेपण ही सही शोधप्रविधि है। इससे, फ्राय के अनुसार, किसी इतिहास-सिद्धान्त (यथा, मार्क्सवादी) की सिद्धि के लिए साहित्यिक तथ्यों को विन्यस्त करने का प्रयत्न अयुक्त है क्योंकि साहित्य को विज्ञान की तरह, एकान्वित, शृंखलाबद्ध तथा स्वायत्त सर्जनात्मक रूप समझना चाहिए। नार्थोप फ्राय मिथक को मानव-चेतना के मूल में पाकर साहित्य की मिथवीयता की खोज करता है और आधुनिक युग के साहित्य में चिंता की मिथक (myth of concern) को बुना हुआ पाता है। फ्राय के लिए मार्क्सवाद भी एक चिंता-मिथक है।

लेकिन साहित्यरूपों और परम्पराओं के परिवर्तन और नैरन्तर्य को, वास्तविक जीवन और समाज की स्थिरता और गति, सहयोग और संघर्ष, सामंजस्य और वर्ग द्वन्द्व, यथास्थिति और परिवर्तन एवं समाज के चैतन्य व्यक्तियों और समुदायों की सक्रियता और आशा-आकाँक्षाओं-आवश्यकताओं के संघर्ष को दरकिनार कर साहित्य के इतिहास का लेखन अधूरा और पंगु होगा। उस इतिहास की भूमिका, सामान्य परिवर्तनपरक चिंतन में गतिशील न होकर सीमित और जड़ होगी।

मार्क्सवाद इतिहास और समाजशास्त्र में अविरोध मानता है। नार्थोप फ्राय की तरह वह साहित्यरूप, आर्कीटायप या मिथ और वास्तविकता को समानान्तर नहीं मान सकता क्योंकि व्यक्तियों के गूढ़ातिगूढ़ अनुभवों-अनुभूतियों-कल्पनाओं और उड़ानों में जो रूप उभरते हैं, वे जीवन और समाज के प्रक्षेपण (प्रोजेशन) होते हैं। साहित्य की शोध प्रविधि, इन चेतन या अचेतनस्थित रूपों-मिथकों-फंतासियों-स्वप्नों का जीवनवास्तव के साथ कारण-कार्य परम्परा स्थापित करें, तभी उसे वैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक माना जा सकता है। तत्व से रूप को अलग करके समझना, गलत समझना है। समग्र समाज के वृत्त के भीतर, उसकी संरचना और समुदायों के प्रयन्न और जीवनविधि के अन्तर्मंथन से उत्पादित साहित्य को मात्र उसकी पूर्व परम्परा से पूर्णतः कंडीशंड रूप नहीं माना जा सकता।

लूसियाँ गोल्डमान ने सामाजिक-ऐतिहासिक पहुँच (अप्रोच) और प्रविधि को सर्वाधिक वैज्ञानिक सिद्ध करते हुए कहा है कि मानवविज्ञान में पूर्वानुमान (Assumptions) के बिना गति नहीं है।

गोल्डमान का उत्पत्तिमूलक संरचनावाद (Gondu Structurecism)नार्थोप फ्राय तथा अन्य मार्क्सविरोधियों को निरुत्तर करता है। "द सोशियोलॉजी आफ लिटरेचर" के सम्पादक, गोल्डमान के संरचनावाद को सनकी (इडियोसिन्क्रैटिक) कहते हैं क्योंकि गोल्डमान की व्याख्याओं में कई बार वह प्रतिपक्षी विचारकों से सहमत हो जाता है और उसकी मार्क्सवादी प्रविधि में अस्पष्टता या अमूर्तता आ

जाती है। यह कह कर भी डायना लारेन्सन और एलन स्विगवुड ने लुकाच और गोल्डमान को विस्तार से प्रस्तुत किया है। समाजशास्त्रीय विशेषकर मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय प्रविधि की दृष्टि से गोल्डमान का योगदान यह है कि वह कृति की संरचना पर ध्यान केन्द्रित करता है और लेखक के विश्वबोध को कृति का एक घटक मानकर, अन्य अवयवों के साथ उसकी संगति पर विचार करता है।

गोल्डमान के अनुसार कृतिकार के माध्यम से सामूहिक चेतना या संवेदना अधिक पूर्णता और संगति प्राप्त करती है। वह यथार्थ का मात्र प्रतिबिम्बक नहीं, एक विशिष्ट अन्विति या संगति (कोहरैन्स) का निर्माता है:—

"Thus the work constitutes a collective achievement through the individual consciousness of its creator, an achievement, which will aferwards, reveal to the group, what is moving towards without knowing it, in its feelings its ideas and its behaviour."[1]

गोल्डमान का मत है कि सर्जकों के बिना समुदाय अपनी अभिलाषाओं के प्रति जागरूक नहीं हो सकता। इसी तरह सर्जक-चिन्तक भी अपना कार्य सामूहिक-चेतना के साथ सम्बद्ध हुए बिना नहीं कर सकता। वह मानव व्यवहार को तीन प्रकारों में बाँटता है। मानवीय व्यवहार या प्रयत्न, सार्थकता और विवेकशीलता की ओर उन्मुख रहता है, व्यक्ति और समूह, अवयवों से एक निश्चित विन्यास का विकास करते हैं (यथा, सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद) और सभी मानव-समूहों की प्रवृत्ति अतिक्रमण (ट्रान्सैन्डंस) की ओर होती है।

गोल्डमान क्षणिकसंरचनाओं को नहीं बल्कि संरचनात्मक प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं को ही "स्ट्रक्चर" कहता है। यह अन्वितिहीनता (डिसआर्डर) का विरोधी शब्द है। संरचनात्मक प्रक्रियाएँ अधिकतम सन्तुलन की ओर बढ़ती हैं, पर युद्ध, अकाल, बाह्य प्रभाव आदि से बाधाएँ या नयी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। उच्च-कोटि की या महान् रचनाओं में वातावरण के प्रति अनुकूलन, सर्वोपरि सामंजस्य तथा संरचितरूपोपलब्धि एवम् ऐसी गत्यात्मक प्रकृति होती है जो अंशी या सावयव (होल) का संशोधन या विकास करती है। इस संरचनात्मक प्रविधि से कृति और सामाजिक सन्दर्भ का गत्यात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और कृति के अंदरूनी घटकों की अलग-अलग और एकान्वित खोज संभव हो जाती है। इस प्रविधि से कृति की भूमिका भी स्पष्ट हो जाती है। व्यक्ति की तरह कृति की निश्चित भूमिका होती है। जैसे व्यक्ति में इच्छा और बाह्य यथार्थ का द्वन्द्व रहता है, उसी तरह रचना में व्यक्तिगत और सामाजिक सत्य एक साथ, परस्परविद्ध या समन्वित रूप में विद्यमान होता है। साहित्य की समाजशास्त्रीय प्रविधि ही इस व्यक्तिगत की सामाजिकता

---

[1] The Sociology of Literature and Drama.

और सामाजिकता की वैयक्तिता की परख कर सकती है और साथ ही अंशों के उस योगदान को भी पहचान सकती है, जिससे किसी महत्वपूर्ण कृति में अंशों की सृष्टि होती है।

निषेध और आकांक्षा के बल पर रचनाकार वर्तमान का अतिक्रमण करता है और एक समंजस संरचना की ओर बढ़ता है। यह संरचना, मूलसंरचना या मूल्य-विरोध के रूप में अन्तरस्थित होती है। जैसे कि आवाँ-गार्द-साहित्य और कला में मूल्यों का निषेध है किन्तु वहाँ व्यक्ति का अतिक्रमण है। अतः निषेध व्यक्तिमात्र तक सीमित नहीं है।

लुकाच और उसके समर्थक गोल्डमान मार्क्सवाद और बूर्ज्वा-चिंतन में यह अन्तर नहीं मानते कि मार्क्सवाद, समाज की व्याख्या में आर्थिक मंशाओं को प्रधानता दे देता है। वे मार्क्सवाद में, सामाजिक संरचनात्मक दृष्टि से, सम्पूर्णता (totality) की अवधारणा को, मार्क्सवाद की उपलब्धि मानते हैं:—

"The domination of the whole over parts is the essence of the method which Marx took over from Hegel and....transformed into a basis of an entirely new science".[1]

अतएव, अंश-अंशीपरक शोध-प्रविधि में अवयवों से अवयवी और अवयवी से अवयवों की ओर अन्वेषक-आलोचक का ध्यान दोलित होते रहना चाहिए, अन्यथा एकांगिताओं की वृद्धि होगी जैसा कि अणुवादी (एटोमिस्टिक) या मात्र तथ्यवादी (इम्पिरीकल) या अंशवादी दृष्टि से किये गये अनुसंधानों में दिखाई पड़ता है।

साहित्य, समाज की तरह एक सम्पूर्णता है। प्रत्येक साहित्यिक कृति एक जीवन-पूर्णता है जो अपने भीतर के अवयवों के साथ ही समझा जा सकता है। लुकाच इसके लिये "सार्थक: गत्यात्मक संरचना" शब्द का प्रयोग करता है।

गोल्डमान, रचनाओं में रमे हुए विश्वबोध या विचारणा को बुनियादी महत्व देता है और महान और उत्कृष्ट रचनाओं को, विश्वबोध के आधार पर, साधारण और निकृष्ट रचनाओं से पृथक करता है। उसके अनुसार महान लेखकों में एक भरापूरा विश्वबोध मिलता है। गोल्डमान इस विश्वबोध को विचारधारा (आइडियालाजी) से भिन्न मानता है जो रचना में परिव्याप्त रहता है। वह विश्वबोध को तथ्यपरकता (इम्पिरीकल) से अलग करता है और उसे विचारों की संरचना कहता है, जिसमें विचारणा, भावना और आशा-आकांक्षा आदि रहते हैं। इस विश्वबोध से रचना, समुदाय को व्यक्ति से और समुदाय को समुदायों से जोड़ती है अतएव रचना की संघटना में विश्वबोध की संरचनात्मक भूमिका रहती है, आरोपित नहीं:—

"A world vision, then determines the internal structure of a text....Valid literary works are thus characterized by an inner coherence which allow them to express a true universe and a rigorous and unified **genere** "[2]

---

1. The Sociology of Literature, p. 64
2. वही

इस प्रकार, गोल्डमान को शोध-प्रविधि में किसी कृति की आन्तरिक संरचनाओं की पहचान, उनका परम्पर सम्बन्ध, अंशी को उनके योगदान तथा निश्चित ऐतिहासिक-सन्दर्भ से उसके सम्बन्ध को स्थापित किया जाता है। पास्कल, आन्द्रे मालरो, रैसीन आदि के अध्ययनों में गोल्डमान ने इसी उत्पत्तिमूलक संरचनावाद का प्रयोग किया है जो मार्क्सवादी होकर भी बाह्यप्रतिमान न होकर, आन्तरिक और बाह्य में संगति स्थापक प्रविधि और प्रतिमान है।

साहित्य की शोध-प्रविधि का समाजशास्त्र के साथ यह जो विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि जीवनपरक, मनोवैज्ञानिक, शैलीतात्विक, सामूहिक मनोविज्ञानपरक, काव्यशास्त्रीय आदि शोध-प्रविधियों का कोई महत्व नहीं है या यह कि उनका प्रयोग नहीं होना चाहिए। साहित्य की शोध-प्रविधि में सर्वेक्षणपरक, प्रायोगिक, मनोवैज्ञानिक (विशेषरूप से 'गैस्टाल्ट' मनोविज्ञान) प्रविधियों को उपर्युक्त सम्पूर्णतावादी संरचनात्मक प्रविधि के पूरक और सहायक रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। मात्र तथ्यसंग्रह व्यर्थ है यदि उसे सावयवी के साथ जोड़ा नहीं जाता।

स्टैनले एडगर हेमन ने अपने ग्रन्थ "सशस्त्र-दृष्टि" (आर्मडविजन) में आधुनिक शोध-प्रविधियों को एक महाशोधप्रविधि के साथ सम्बद्ध करने के विषय में यह महत्वपूर्ण मत प्रकट किया है।

"आधुनिक आलोचनात्मक प्रविधियों का एक महाप्रविधि में आदर्श संग्रथन …………स्थापत्य के सादृश्य पर हो सकता है, जिसमें एक पूर्व योजना के अनुसार किसी नींव के ऊपर एक ढाँचे के सहारे, भवन रचना की जाती है। मार्क्सवाद इस नींव और ढाँचे के लिए सर्वाधिक उत्साही प्रत्याशी है। उसके प्रवक्ताओं ने अनवरत रूप से इस तथ्य पर बल दिया है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही ऐसा संग्रथक आधार और ढाँचा है जो ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के नवीनतम विकास का प्रयोग कर सकता है। वस्तुतः मार्क्सवाद का यही कार्य होना चाहिए।"

साहित्य की शोध-प्रविधि के समाजवैज्ञानिक स्वरूप का एक आधार तो बन चुका है परन्तु अभी भी यह प्रारम्भिक अवस्था में ही है। इसमें विकास और संग्रथन (इन्टीग्रेशन) की अमित सम्भावनाएं हैं। अभी तक हुआ शोधकार्य और विवेचन तथ्यसंग्रह और बहुतत्ववादी (Plunderstic) दृष्टियों का परिणाम है। जरूरत यह है कि इन्हें उपर्युक्त महाशोध प्रविधि के साथ संग्रथित किया जाये तभी साहित्य की शोध प्रविधि में एकान्विति आ सकती है।

साधारणीकरण की प्रक्रिया में द्वन्द्वात्मकता

सीमित और व्यापक साधारणीकरण की धारणा की स्वीकृति सम्प्रेषण की प्रक्रिया के लिये आवश्यक है किन्तु विभावादि का साधारणीकरण होता है या भाव का या कविगत अनुभूति का अथवा इन सब तत्त्वों का—यह विचारणीय है ।

अभिनव भारती में उद्धृत भट्टनायक के मत से लगता है कि वह केवल विभावादि का ही साधारणीकरण मानते थे । किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकार के अनुसार भट्टनायक सम्पूर्ण सामग्री—विभावादि तथा स्थायी, संचारी का भी साधारणीकरण स्वीकार करते थे । विभाव राम-सीतादि, सामान्य रूप में उपस्थित होते हैं और स्थायी भावों तथा संचारियों के साधारणीकरण में इनके साथ विशिष्ट सम्बन्धों का बन्धन समाप्त हो जाता है ।[1]

विश्वनाथ ने भी विभावानुभावसंचारीस्थायी—सभी तत्वों का सामान्यीकरण प्रतिपादित किया है[2] किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ तादात्मय की धारणा पर विशेष बल दे दिया है, इससे तादात्म्य के विषय कौन हैं, यह विवाद का विषय हो गया है । विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता, अभेदज्ञान से, समुद्रलंघनकर्त्ता हनुमान आदि के साथ अपने को एक मान लेता है ।[3]

---

[1] भावकत्वं साधारणीकरणम् । तेन हि व्यापारेण विभावादय: स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थिति: । स्थाय्यनभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन, काव्यप्रकाश, निर्णय सागर प्रेस, पृ. 66

[2] साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते
परस्य न परस्येति, ममेति न ममेति च
तदास्वादे विभावादे : परिच्छेदो न विद्यते – साहित्यदर्पण 3–11

[3] तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादय:
प्रमाता तदभेदेन, स्वात्मानं प्रतिपद्यते—सा० द० 3–10

यहाँ साधारणीकरण प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मकता उल्लेखनीय है। इस स्थिति में, सामाजिक को हनुमान द्वारा समुद्रलंघन आदि कार्य न अनुकार्यगत प्रतीत होते हैं, न ऐसा लगता है कि ये अनुकार्यगत नहीं हैं। न तो उन्हें यह अनुभव होता है कि काव्य-नाट्य के वर्णन-चित्रण से उनका कोई सम्बन्ध है और न यही कि उनसे सामाजिकों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस द्वन्द्वमयी, विलक्षण मनोदशा का रहस्योद्‌घाटन मनोविज्ञान भी नहीं कर सका है।[1] यह भी वैचित्र्य है कि विशेष, साधारणीकृत हो जाने पर भी अपनी संज्ञा बनाए रखता है यथा रामादि का शोक, साधारणीकृत होने पर भी शोक ही कहलाता है। यदि कहें कि यह कला का शोक है तो इसका नाम परिवर्तन क्यों नहीं किया जाता ?

पंडितराज जगन्नाथ ने शांकर वेदान्त का आश्रय लेकर इस द्वन्द्वात्मक साधारणीकरण की क्रिया की व्याख्या की है। उनके मतानुसार रामदुष्यन्तादि की भ्रम-कल्पना (दोष) का आरोप सहृदय की आत्मा पर हो जाता है अतः वह अपने को राम-दुष्यन्तादि समझ लेता है। जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं तब शकुन्तला का प्रेमी बनने में कोई बाधा नहीं रह जाती अतः रति भी प्रभासित होने लगती है। यह बोध शुक्ति में रजत के भ्रमज्ञान जैसा होता है।[2]

किन्तु शुक्ति में रजत या रज्जु में सर्प का भ्रमज्ञान कलानुभव से भिन्न प्रतीत होता है। भ्रम अबाधित अज्ञान होता है, बाधित होते ही भ्रम नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत सामाजिक जानते हैं कि वे नाटक देख रहे हैं और फिर भी वे अपने पर रामादि का अभिमान आरोपित कर लेते हैं पर यह भी पूर्ण आरोप नहीं होता।

फिर भी पंडितराज, विश्वनाथ के सदृश आश्रय के साथ तादात्म्य का निर्णय नहीं करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पूर्णरस परिपाक के लिए इस प्रकार के विभाव-विधान पर बल देते हैं, जिससे सामाजिक तादात्म्य कर सके। जन-साधारण के लिए वही काव्य भोग्य हो सकता है, जिसमें प्रचलित नैतिक गुणों की अवहेलना न हो अन्यथा लोकविरुद्ध गुणों और मूल्यों के कारण, असामान्य पात्रों का साधारणीकरण सम्भव

---

1. प्राब्लम्स इन ईस्थैटिक्स—पृष्ठ 204
2. हिन्दी रसगंगाधर—बदरीनाथ झा, पृष्ठ 110

नहीं होगा।[1] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी आलम्बनत्वधर्म का साधारणीकरण मानते हैं।[2]

शुक्लजी के खंडन में विवेचक यह भूल जाते हैं कि वह व्यक्तिवादी साहित्य के विरोध में उस लोकपरक महाकाव्य-परम्परा को स्वरूप सम्मुख रख कर लिख रहे थे, जिसमें आलम्बनों का रूप, लोक प्रसिद्धि के अनुकूल था और उनमें उन्हीं धर्मों या गुणों (नैतिकता, न्यायप्रियता, पाप के पक्ष का विरोध आदि) का विधान किया जाता था जो जनता की चित्तवृत्ति में बद्धमूल थे। इसके विपरीत तात्कालिक छायावादी मुक्तकों और मेघनादवध जैसे नवीन महाकाव्यों में रचनाकार स्वगत दृष्टियों और निजी भावों को अधिक महत्व दे रहे थे। स्वाभावत: ऐसी रचनाओं में, लोक हृदय पूर्णत: मग्न नहीं हो पाता था। इसी से शुक्लजी उनमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं पाते थे। पूर्ण साधारणीकरण के लिए यह लोक हृदय की पहचान को एक प्रमुख आवश्यकता मानते थे। तुलसीदास इसी आधार पर उनके प्रियतम कवि थे।

रामायण, महाभारत के नायक पुण्यपक्षी हैं, वे असत्य, अन्याय और मर्यादा-हीनता के विरुद्ध संघर्ष करते हैं किन्तु नवीन मनोविश्लेषण और समाज शास्त्र तथा इतिहास-चेतना ने मूल्य सम्बन्धी सनातन दृष्टि को अप्रमाणित सिद्ध कर दिया है। फ्रायड का मनोविश्लेषण तो अधिक संयम और त्याग आदि को विकृतिउत्पादक मानता है अत: इस स्थिति में नवीन शास्त्रों से परिचित, शिक्षितवर्ग और लोक हृदय में दृष्टिभेद तथा आचरण भेद भी उत्पन्न हो गया है। श्रेणीमूलक, शिक्षित-अशिक्षित के स्तरों में विभाजित भारतीय समाज में प्रबुद्ध वर्ग के आदर्शों और रुचिगत वैशिष्ट्य पर शुक्ल जी ने अधिक विचार नहीं किया था अत: छायावाद का व्यक्ति-वैचित्र्यवाद,

---

1. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है—चिन्तामणि, "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद" शीर्षक लेख।

2. (क) कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को श्रोता के मन में जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है—वही

   (ख) व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की होती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है—वही

प्राचीन, सामूहिक अवचेतन के विरुद्ध पढ़ने से उन्हें घातक प्रतीत होता था। उससे पारम्परिक जीवन विधि को भय था किन्तु मानवस्वच्छन्दता की धारणा ही आधुनिक साहित्य में व्यक्त हो रही थी, इस तथ्य की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया था।

यही कारण है कि शुक्ल जी, असामान्य आलम्बनों के स्थान पर, एक ओर तो प्रकृति के आलम्बत्व पर बल दे रहे थे, तो दूसरी ओर ऐसे पात्रों के विधान पर, जिनमें सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा की गई हो।

शुक्लजी को स्वच्छन्दतापरक साहित्य अपने परिमित साधारणीकरण के कारण व्यक्ति वैचित्र्यवादी लगता था। इसके विपरीत, प्रबुद्धों का दल स्वच्छन्दतावाद का समर्थक था क्योंकि सामन्ती नैतिकता, मर्यादा आदि से मुक्त समाज के विकास में बाधा और मानसिक विषम जाल की सृष्टि होती थी। स्वभावतः प्रबुद्धों का तादात्म्य स्वच्छन्दतावदी पात्रों के साथ होता था। विशिष्ट कला और काव्य के लिए प्रबुद्ध दल यह मानना नहीं चाहता था कि प्रत्येक कृति की श्रेष्ठता का आधार, लोक हृदय की पहचान हो। क्या स्वच्छन्दता के बोध और गतानुगतिक रूढ़ियों के विरोध का प्रयत्न लोकविरोधी होता है ? यदि नहीं, तो कालान्तर में लोकहृदय भी शिक्षित होकर, स्वच्छन्दतावादी साहित्य का आस्वादन कर सकता है। माइकेल मधुसूदन दत्त राम-रावण के प्रति प्रचलित मान्यताओं का विरोध करने के लिए ही लिख रहे थे, शुक्लजी की परम्परा-प्रियता इससे क्षुब्ध होती थी। कबीर का क्रान्तिकारी फक्कड़पन भी उन्हें कहीं चुभता था।

पूर्ण और व्यापक रसानुभूति के लिए सर्व स्तरों पर अविरोध आवश्यक है किन्तु संक्रान्तिकालीन रुचि और दृष्टि, रस के साथ परम्परागत दृष्टि का सम्बन्ध होने से, रसपरक काव्य का ही विरोध करने लगती है अथवा रस को व्यापक अर्थ देती है। इसी नवीन चेतना से, शुक्ल जी के रस और साधारणीकरण की व्याख्याओं का संघर्ष आज भी चल रहा है।

शुक्ल जी की, मुक्त हृदय, प्रकृति का आलंबनगत चित्रण आदि धारणाएं प्रबुद्ध वर्ग के अनुकूल पड़ती हैं, परन्तु आलंबन में सामान्य धर्मों का विधान परम्परागत काव्यों का समर्थन मात्र है, उसमें अपने युग की चेतना को सहानुभूति से समझने की प्रवृति कम ही है।

आचर्य केशव मिश्र ने शुक्ल जी के सिद्धान्त का सादृश्य भट्टनायक के साथ दिखाया है क्योंकि इसमें काव्य को नैतिक-अनैतिक द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वादन किया जाता है।[1] इसके विपरीत, साधारणीकरण के प्रति

---

1. साहित्यलोचन—श्यामसुन्दरदास

अभिनवगुप्त की दृष्टि थी, जिसे मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है, जिसमें नैतिकता का प्रश्न नहीं रहता। प्रथम में विभावादि के साधारणीकरण पर बल है तो दूसरे में कवि या भावक की चित्तवृत्ति का साधारणीकरण माना गया है—चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।[1]

किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कर के अनुसार भट्टनायक भी पूरी रस सामग्री और स्थायी भाव का साधारणीकरण मानते थे। सम्भवत: केशवमिश्र ने अभिनव भारती में प्रस्तुत भट्टनायक के मत को ही ध्यान में रख कर अपना मत दिया होगा। फिर शुक्ल जी रसावस्था में, रस का तारतम्य स्वीकार कर लेते हैं और निजकांतास्मृति की सम्भावना पर भी विचार करते हैं जबकि भट्टनायक के यहाँ सामाजिक स्वगत, परगत के भेदभाव से स्वतन्त्र हो जाता है। शुक्ल जी ने साधारणीकरण की स्थिति में शास्त्रों के अखण्ड रसक्षण की सम्भावना मान कर भी श्रोताओं की मानसिक दशाओं के विभिन्न स्तरों की ओर प्रथम बार ध्यान दिया था और इस तथ्य के आधार पर रस का तारतम्य भी स्वीकार कर लिया था जो शास्त्रज्ञों के मध्य एक साहसिक विचार था, उन्होंने शास्त्र को भार न बनाकर उसका मौलिक उपयोग करना चाहा था।

तादात्म्य का प्रश्न भी अनेक सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्राचीन साहित्य में प्राय: आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य हो जाता है यथा रामायण, शाकुन्तल, मेघदूत, नैषधीय जैसी रचनाओं में यही प्रवृति है किन्तु "शेखर एक जीवनी" में माता पिता की रति के द्रष्टा शेखर तथा अमरीकी उपन्यासों के अकारण हत्या के प्रेमी असामान्य नायकों से क्या सभी का तादात्म्य सम्भव हो सकता है ? ऐसी रचनाओं में कारणकार्यपरम्परा मन को सचेत कर देती है और पाठक यह सोचता है कि अंतत: यह नायक ऐसा आचरण क्यों कर रहा है ? कारण जान लेने पर भी नायक के साथ तादात्म्य होना सम्भव है और यह भी कि पाठक थोड़ी सहानुभूति देकर भी तटस्थ बना रहे और कृति की चित्रण-शक्ति; भावनाओं के विश्लेषण-सामर्थ्य आदि से, उसे मानव चेतना के नए आयामों को देख कर लेखक की बुद्धिमता पर हर्ष हो। लोलिटा उपन्यास के नायक के साथ बहुत से प्रौढ़ों का तादात्म्य हो सकता है और कुछ गंभीर प्रबुद्धों को यह अनुभूति हो सकती है कि यौनाचार की स्वेच्छा का यह चित्रण प्रकृतवादी है, अत: नग्न यथार्थवाद के कारण जुगुप्सा भी हो सकती है। लेखक का उद्देश्य वस्तुस्थिति की प्रस्तुति मात्र है, यह पाठकों में जुगुप्सा या आकर्षण जागृत नहीं करना चाहता।

---

[1] वही, साधारणीकरण का प्रसंग

डॉ० नगेन्द्र ने आश्रय के साथ सर्वत्र तादात्म्य की धारणा में कठिनाइयों का उल्लेख किया है ।[1] वह सहृदय की चेतना के साधारणीकरण की स्वीकृति द्वारा भी इस समस्या की समाधान प्राप्ति सम्भव नहीं मानते क्योंकि सहृदय की चेतना का सामान्यीकरण तो साधारणीकरण की क्रिया का फल है । अतएव, वह कवि भावना का साधारणीकरण मनोविज्ञान के अनुकूल मानते हैं और पात्रों के साथ तादात्म्य के स्थान पर कवि के साथ तादात्म्य का सुझाव प्रस्तुत करते हैं । "जहां उसका कवि कर्म सफल हो जाता है, जैसे कि मेघनादवध में, वहाँ साधारणीकरण हो जाता है और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्मय कर लेता है ।[2]

इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य और साधारणीकरण का आधार रचना की श्रेष्ठता मात्र है, कवि और भावक की दृष्टिगत या भावगत अनुकूलता प्रतिकूलता आदि अन्य तत्व उसी पर आधारित हैं । किन्तु इस मान्यता में भी सरलीकरण है । कारण यह है कि रचना की श्रेष्ठता का निर्णय निरपेक्ष रूप में नहीं होता । निर्णय की पृष्ठभूमि में अनेक अंतर्विरोध सक्रिय रहते हैं । समाजवादी देशों में अधिकाँशतः पूंजीवादी देशों की अनेक श्रेष्ठ रचनाएं श्रेष्ठ नहीं मानी जातीं, यह विधिजन्य अंतर्विरोध है अतः उनके रचनाकारों को तादात्म्य का नहीं, क्रोध या वितृष्णा का भाजन बनना पड़ता है । उधर किसी अप्रिय सत्य को कलाहीन ढंग से कह देने पर भी कभी-कभी रचनाएँ श्रेष्ठ मान ली जाती हैं । गिंसवर्ग की रचनाओं में कलात्मक अनुशासन का अपेक्षाकृत अभाव है पर अमरीकी सभ्यता के भ्रमों को भंग करने के कारण वे कालजयी अनेक रचनाओं से अधिक तादात्म्य उत्पन्न करती हैं क्योंकि मानव-स्वच्छन्दता के लिए गिंसवर्ग पूँजीवादी देशों की युद्धप्रियता और मूल्यहीनता पर आक्रोश प्रकट करता है ।

अंतर्विरोधों से भरे भारतीय संस्कृत व्यक्तियों पर, कबीर के आक्रमण, तादात्म्यजनक होते हैं पर वे श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण हैं, यह विवादास्पद विषय है । निर्णय की द्वन्द्वात्मकता में काल या इतिहास का योगदान भी होता है । सूरदास, तुलसीदास के अनेक पद्य सामान्य कोटि के हैं किन्तु कालविजय के कारण ही वे

---

[1] संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था····किन्तु आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है, जिसके साथ तादात्म्य सहृदय के लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय—रससिद्धान्त, पृष्ठ 207

[2] रससिद्धान्त, पृष्ठ 211

श्रेष्ठ माने जाते हैं। विगत के प्रति आक्रोश के कारण प्राय: श्रेष्ठ रचनाएँ निकृष्ट घोषित हो जाती हैं और फिर उनमें न कवि के साथ तादात्म्य हो पाता है, न उसका व्यापक साधारणीकरण ही सम्भव होता है। यदि यह कहें कि यह मानवीय सम्भावना का प्रश्न है और ऐसे बौद्धिक सहृदय हो सकते हैं जो रचना की उत्कृष्टता को अवश्य पहचान लेते हैं किन्तु सुधी आलोचक कभी-कभी सामयिक रचनाओं की श्रेष्ठता नहीं पहचान पाते। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डॉ० नगेन्द्र सामयिक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं को अश्रेष्ठ से पृथक नहीं करते और न अपने समय में यह कार्य शुक्ल जी कर सके थे—उन्हें रहस्यवादी रचनाओं से एक वितृष्णा सी थी। दूसरे उन्होंने स्वयं निर्मित साधारण कविताएँ उद्धृत की हैं, और उनकी प्रकारान्तर से प्रशंसा भी की है अथवा उनकी निन्दा नहीं की है।

शेक्सपयिर के विषय में प्रसिद्ध मतभेद[1], रुचि, बोध, समाज संरचना, शिक्षा-विधि, साहित्यिक वातावरण, कला आन्दोलन, शासन का स्वरूप, परम्परा और उसके प्रति दृष्टि आदि अनेक तत्त्वों का द्वन्द्व कृति की श्रेष्ठता के निर्णय में परस्पर विरोधी निष्कर्ष देता है। उदाहरणत: परिवर्तन की गति तीव्र होने पर कालजयी कृतियों के विषय में प्रतिक्रियाएं भी तीव्रतर होने लगती हैं क्योंकि उन कृतियों से अधिक प्रभावित व्यक्ति सामयिक साहित्य और कला के साथ नहीं चल पाते। अत: पीढ़ियों का संघर्ष भी साहित्य में कटुता का रूप धारण करने लगता है। कटुता और नवीनता-प्रेम के कारण उत्पन्न अधैर्य, रस और कवि के साथ तादात्म्य जैसी समस्याओं को अप्रासंगिक मानने के लिए प्रेरित करने लगता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि कवि के साथ तादात्म्य बिना हुए, रचना उत्कृष्ट प्रतीत हो। बौद्धिक पाठक या प्रेक्षक कवि की रचना-प्रक्रिया के प्रति सावधान रहता है—कवि क्या चाहता है, कहाँ वह प्रभावशाली है, कहाँ वह असफल हो जाता है, क्यों वह असफल होता है, मेरे ऊपर प्रभाव क्यों पड़ रहा है, इस स्थल में रचनाकार पागल सा लगता है—इस प्रकार की चिंतन-प्रक्रिया आस्वाद और कहीं-कहीं ऊब में बराबर चलती रह सकती है और थोड़ा बहुत, किन्हीं क्षणों में तादात्म्य भी होता चल सकता है। इस प्रकार साधारणीकरण और तादात्म्य की प्रक्रियाओं में देश, काल, पात्र विचारधारा आदि की द्वन्द्वात्मकता के आधार पर ही निर्णय सम्भव है, सरलीकरण से विवेचन और मूल्याँकन वैज्ञानिक या वस्तुगत नहीं हो सकता।

---

[1] शेक्सपीयर उपेक्षित रहा। इलिजाबेथ युग में उसे जनता मानती थी, साहित्यिक नहीं, अब सभी प्रभावित हैं किन्तु शेक्सपीयर में जनता जिन बातों से हर्षित होती थी, उनसे हम आनन्दित नहीं होते—द सोश्योलोजी आफ़ टेस्ट, एल. एल. शूकिंग, लंदन, तृतीय संस्करण, 1950, पृष्ठ 3

सामाजिक और कृतिकार का द्वन्द्व : पूंजीवाद व्यवस्था में, कला-कविता के क्रय-विक्रय की वस्तु बनने, आश्रयदाता सामन्तों के स्थान पर प्रकाशकों, साधन सम्पन्न सम्पादकों तथा संस्थाओं का ध्यान आकर्षित करने और प्रतिष्ठित होने की बाजारू-प्रतियोगिता के कारण, कृतिकार प्रत्येक स्थिति में प्रशंसा चाहने लगता है, रुचि का निरंकुश राज्य स्थापित होता है,[1] और कवियशः प्रार्थियों के संगठित दल, प्रत्येक सनक की स्वीकृति के लिए, सामाजिकों को संत्रस्त करके उससे चाहता है कि वह चुपचाप कलाकार के गौरव की उपस्थिति में मौन रहे। अपनी पत्रिका, अपना घोषणा पत्र, अपना परिप्रेक्ष्य, अपनी रचनाएँ लेकर उपस्थित होने वाली इन प्रतिभाओं में वास्तविक और व्यर्थ के मिश्रण से सामाजिक ऊबने लगता है। ऐसी स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य में बाधा पड़ती है और तादात्म्य सम्भव भी हो तो कवि के गूढ़ अभिप्राय (इन्टेशन) के जानने में वह भूल कर सकता है। उदाहरणतः विद्रोही चेतना की घोषणा करने पर भी, पिछले दो दशकों के भविष्य के प्रहरी या अवांगार्द नवीन साहित्य में विद्रोह यौनस्तर पर अधिक हुआ है अतः इस प्रकार की रचनाओं के पाठन के समय जागरूक सामाजिक के मन में यह आता है कि राजनैतिक स्तर पर शासन अथवा प्रभुवर्ग के ऊपर आक्रमण से ये लेखक भय खाते हैं अतः रुद्ध आक्रोश सुरक्षित स्तरों पर व्यक्त होता है और इसी कारण रचना में सैक्स का अतिवाद, कृतिकार, की कायरता को भी छिपाए हुए है। निस्सन्देह, परम्परागत नैतिकता और मध्यवर्गीय रुचि की शालीनता पर प्रहार का क्रान्ति की दृष्टि से एक मूल्य होता है लेकिन कवि की मंशा जाने बिना, रचना का स्वरूप ही अस्पष्ट रहेगा। इसी प्रकार हृदयहीनता के कारण भी, रचना में कहीं भी स्पष्ट न होने का आग्रह हो सकता है जो कवि के साथ तादात्म्य से, एक गम्भीरता का भ्रम उत्पन्न कर सकता है। फिर, आदर्श सामाजिक, तादात्म्य करके भी यत्किंचित् तटस्थ रह सकता है किन्तु सभा-समाजों में, कवि की मंशा से अपरिचित, सर्वसाधारण जन तो केवल विस्मित या संत्रस्त ही हो सकते हैं। और यह विस्मय अद्भुतरसउत्पादक न होकर ऊब, आक्रोश या हास्योत्पादक होता है, जब कि कवि का लक्ष्य गंभीर हो सकता है।

सामंती युग के बाद कलाकार, सामाजिकों पर कुरुचि का दोष लगा कर आत्मविश्वास के लिए असफलता की कष्टकर भावना और संदेहों से बचना चाहता है। जनता की चिंता न करके कलाकार केवल सम्मुख आदर्श सामाजिक या समर्थक-विशेषज्ञ को रख कर रचना करता है, वह अब केवल अपनी रुचि की चिन्ता करता है।....साधारण व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता।

---

[1] द क्रियेटिव आरटिस्ट डिमाण्ड्स रिकागनीशन आफ़ हिज़ टेस्ट अण्डर ऑल सरकम्स्टांसिस. ए कम्प्लीट डिक्टेटरशिप आफ़ टेस्ट प्रिस्क्राइब्ड दैट वि शैल एक्सैप्ट द एक्सप्रेशन आफ़ एनी वन....द सोश्योलॉजी ऑफ टेस्ट, पृष्ठ 58

यदि कहें कि इन्हें कलाकृति ही नहीं कहना चाहिए तो तादात्म्य-सिद्धान्त की रक्षा में, उपलब्ध आकर्षक रचनाओं की उपेक्षा होगी, दूसरे पाठन-मनन द्वारा वास्तविक साहित्य को, अवास्तविक से अलग करने के लिए विचार तो करना ही होगा।

फिर सामाजिक के सम्मुख तो कृति है, कवि नहीं। श्रेष्ठ कृति होने पर, तादात्म्य कृति के साथ अधिक आवश्यक लगता है। चित्रित या वर्णित विश्व में अपने को निमग्न करने से साक्षात्कार और साधारणीकरण में सफलता मिल सकती है। इस रचना संसार में प्रदेश की दशा में सामाजिक कवि की दृष्टि से भिन्न दृष्टि भी रख सकते हैं, और कवि के साथ तादात्म्य करके भी देख सकते हैं। कभी यह भी सम्भव है कि सामाजिक, कवि के मतव्य को समझ ही न सके और फिर भी अपने अहसास के बल पर वह रचना में डूबा रहे। वह कवि से भिन्न मंतव्यों की भी कल्पना कर सकता है और रचना को एक नए आलोक में देख सकता है। उदाहरणतः प्रकृति को रचना मान कर उसमें विचरण होता है परन्तु हम उसके कर्त्ता को नहीं जानते, न उसके मंतव्य से परिचित हो पाए हैं। लेकिन इससे विभिन्न दृश्यों के साथ तादात्म्य में कोई बाधा नहीं पड़ती। प्रकृति या ईश्वर ने पदार्थों की सृष्टि आवश्यकता और नियम के अनुरूप की है किन्तु प्रेक्षक उसे अपने परिपेक्ष्य से देख सकता है। इसलिए, पाठक या प्रेक्षक किसी प्रिय रचना का वह रूप देख लेता है या देख सकता है जो कदाचित् उसके कर्त्ता ने भी न देखा हो।

किसी अपूर्व जीवन दर्शन के अनुरूप लिखी गई रचनाओं में भी कवि के साथ तादात्म्य और कृति के साथ तादात्म्य से भिन्न फल प्राप्त हो सकते हैं। ज्यांपाल सार्त्र के उपन्यास वमनेच्छा (नौसिया) में जीवन की नीरस पुनरावृत्ति और अंधता देख कर सार्त्र में उत्पन्न वितृष्णा ही, कारणों की शोध के साथ, चित्रित हुई है किन्तु सामाजिक में यह उपन्यास जीवन के साथ प्रयोग करने की भावना जगा सकता है। इस रचना में अनुभव की गहराई आकर्षक लगती है और लेखक के सिद्धान्त या उसके परिप्रेक्ष्य के स्थान पर, सामाजिक सिर्फ गम्भीर विश्लेषण के क्षणों में भोग या भोग के क्षणों में आत्म विश्लेषण की प्रेरणा ग्रहण करता है या कर सकता है।

सामाजिकों और रचनाकारों के द्वन्द्व और तादात्म्य का प्रश्न कितना जटिल है, यह नीत्शे की इस पंक्ति से प्रमाणित होता है कि वे तालियाँ बजा रहे हैं, मैं कौन सी मूर्खतापूर्ण बात कर रहा हूँ ?[1]

अतः जनकवाटिका जैसे स्थलों में कवि के साव तादात्म्य में कोई बाधा नहीं होगी। किन्तु दृष्टिकोण या विश्वदर्शन (वर्ल्ड व्यू), मूल्यगत और रुचिगत अन्तर्वि-

---

[1] दे आर क्लैपिंग, ह्वाट नानसैंस हैव आई बीन टॉकिंग ?

रोधों की स्थितियां भी अनेक बार आती हैं।[1] भाव के स्थान पर वर्तमान युग में प्रमाणिक अनुभव पर बल अधिक दिया जा रहा है और अनुभव, किसी स्थायी भाव की सीधी अभिव्यक्ति से अधिक संकुल होता है। उसमें अनेक पृथक और पूर्ण अनुभूतियों के गुच्छों का विधान होता है और यत्र तत्र संक्षिप्त स्थलों को छोड़ कर उसमें किसी एक भाव की प्रधानता भी नहीं होती।

अतएव कवि के साथ तादात्म्य का मत किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में ही उपयुक्त लगता है।[2] किन्तु कवि के साथ पूर्ण तादात्म्य के अभाव में भी, कृति में निहित कला सामर्थ्य से, परिमित या अपरिमित साधारणीकरण हो सकता है। श्रेष्ठ किन्तु केवल विशेषज्ञों तक ही सीमित रचनाओं के मर्मउद्घाटन और क्रमशः प्रचार की वृद्धि के पश्चात् रचना का, प्रभाव क्षेत्र बढ़ता जाता है। आदर्श सामाजिक या अभिनवगुप्त के शब्दों में वस्तु स्थिति का विवेचक, विभिन्न दृष्टियों से रचना का परीक्षण कर सकता है, वह कवि तथा कृति को पृथक पृथक अवधान में ला सकता है, एक साथ रख कर देख सकता है, उन स्व पर के भेदों से ऊपर उठ सकता है, जिनसे साधारण पाठक नहीं बच पाता। भावमुग्ध करने वाली पारम्परिक कविता और कला का जिन पर आवश्यकता से अधिक प्रभाव होता है, वे कवि तथा सामाजिक रचना में विरोधी स्थितियों को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते। हमारे प्राचीन आचार्य तो काव्यादि के सर्वभोग्यत्व पर सर्वाधिक बल देते हैं, वे वस्तुतः काव्य को

---

[1] इफ द नेचर आफ़ सम आफ़ हिज़ (कमिंग्स) पोयम्स लीव्स मैनी रीडर्स अनमूव्ड ऑर एल्स विगरसली एंटागोनिस्टिक, स्टिल द फ़ोर्स एण्ड वेट आफ़ हिज़ पोयटिक इफ़र्ट एण्ट पोयटिक एचीवमैण्ट हैव बीन टुवर्ड एक्सपीरियन्स एण्ड अवे फ्राम मियर क्राफ्टमैनशिप—

—स्टडीज़ इन अमेरिकन लिटरेचर, इ. एस. ओलीवर, नई दिल्ली, 1965 अध्याय–कमिंग्स, पृष्ठ 156

[2] श्री शंकरदेव अवतरे ने डा० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित कवि की अनुभूतियों के साधारणीकरण का विरोध किया है और शुक्ल जी के मत का समर्थन किया है :—

"क्या ऐसा भी कोई आलम्बन या आश्रय होता है जो कवि की अनुभूतियों का संवेद्य रूप न हो? तो जिस रूप में कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होगा, उसी रूप में उन अनुभूतियों के संवेद्य रूप आलम्बन का भी साधारणीकरण हो सकता है"—साहित्य वाराणसी, 1957 पृ०— वास्तविकता यह है कि अवतरे जी का ध्यान शुक्ल जी के पक्ष समर्थन पर है, आधुनिक साहित्य के कारण उत्पन्न समस्याओं पर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

व्यक्तिगत आत्म-अभिव्यक्ति न मान कर सामाजिक-उत्पादन मानते थे, उसके रंजनात्मक और शिक्षात्मक मूल्यों को स्वीकार कर, वे भावात्मक प्रेरणा जागृत करना चाहते थे अतः कवि और सामाजिक में वहां अविरोध है जब कि आधुनिक काव्य और कला प्रयोगोन्मुखी, जीवन बोधात्मक, नीतिनिरपेक्ष (अमॉरल) असहमतिपरक तथा असामाजिक है। उधर समाजवादी देशों में समाजवादी यथार्थवादपरक रचनाओं में तो साधारण व्यक्ति तादात्म्य कर लेता है किन्तु अतियथार्थवादी कलाकार भी अपने को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मानते हैं लेकिन उनकी स्वप्न विधि की रचनाओं में, कवि के साथ तादात्म्य नहीं, स्वप्नों का स्मरण कहीं अधिक सहायक होता है।

निष्कर्ष यह है कि तादात्म्य और साधारणीकरण की प्रक्रिया एक दूसरी से टकराती अन्तर्धाराओं से युक्त होती है। इन्हें कवि, रचना, सामाजिक, देश, काल, रुचि, प्रचार के साधन, साहित्यिक वातावरण, आदि तत्वों के सन्दर्भ में ही समझना होगा—निरपेक्ष, सार्वभौमिक, सार्वकालिक नियम के रूप में उन्हें तभी स्वीकार किया जा सकता है जब आचार्यों के शब्दों में विघ्नरहित या द्वन्द्वरहित स्थिति हो। लेकिन ऐसी निर्द्वन्द्व स्थिति केवल मनोराज्य में ही हो सकती है।

समकालीन काव्यगत अवधारणाएँ

सामान्य और काव्यशास्त्रीय साहित्य-विश्लेषण में अवधारणात्मक संरचना की समझ को यत्किंचित सदैव महत्व मिलता रहा है। बोध या बुद्धितत्व के रूप में इसे राग और कल्पना के साथ ज्ञान का विषय बनाया जाता रहा है। भारतीय रसवाद के व्याख्याकार भी किसी-न किसी रूप और मात्रा में भाव को भावचक्र या भाव-क्षेत्र मानकर उसमें बोध-वृत्त को शामिल करते आये हैं, क्योंकि धारणाएँ भाव को जाग्रत करती हैं, प्रतिबन्धित करती हैं, उन्हें दिशा देती हैं और प्रायः नये भावनाकेन्द्रों को उत्तेजित करती हैं, किन्तु प्रश्न तो शैली शास्त्र का है, जहाँ काव्य-भाषा की विशिष्टताओं की पहचान होती है, और अर्थ और मूल्यों की चिन्ता नहीं की जाती।

रोगर ब्राउन ने सिबौक (Sebeok) द्वारा सम्पादित पुस्तक "स्टायल इन लैंग्वेज" में एक लेख लिखा है। इस लेख में वह साहित्य की भाषा के अध्ययनकर्त्ता भाषा वैज्ञानिकों को सुझाव देता है कि उन्हें काव्यभाषा के अध्ययन में मूल्य से नहीं बचना चाहिए, क्योंकि मूल्य का विश्लेषण भी वस्तुगत विधिपरक हो सकता है। इसके लिए वह किसी मानव-समुदाय या ग्रुप के अध्ययन पर बल देता है—

"Value can be objectively treated—
It is only necessary to specify a group for study, an objective way of determining what the value is."

विश्लेषणकर्त्ता की अपनी कोई भी मूल्य-व्यवस्था हो सकती है, पर यदि वह तटस्थ रहे तो वह कृति के मूल्यों-अवधारणाओं-अर्थों आदि का वस्तुगत विश्लेषण कर सकता है, उसी तरह जिस तरह, रक्त-चाप के विषय में कोई भी मत रखने वाला चिकित्सक रोगी के रक्त-चाप का वस्तुगत निदान कर सकता है।

बहरहाल, अभी तक भाषाशास्त्री और आलोचक मिलकर कोई समान विश्लेषण-धरातल नहीं पा सके हैं, यों यह काम होना चाहिए, यह सभी महसूस कर रहे हैं।

कृतियों में शब्द ही हमारी पकड़ में आते हैं। लेकिन शब्द अपने में लेखक या कवि की सम्पूर्ण मानसिकता और परिवेश के साथ सम्बन्धों और संघर्षों के

स्वरूप को समेटे रहते हैं। यदि एक दौर में कई कवियों की कविता को लें तो उनमें कुछ केन्द्रीय शब्द मिलेंगे, और कुछ सामान्य शब्द होंगे।

केन्द्रीय शब्द वे होते हैं, जो किसी काल खण्ड में व्यक्ति या समूहों की बुनियादी आकांक्षाओं और विचारों को व्यक्त करते हैं। ये केन्द्रीय शब्द कवियों के कृतित्व को समझने के लिए बीज-मंत्र या मूल-सूत्रों की तरह होते हैं, जिनमें कवि की सारी मानसिक-स्थिति, स्पन्दन या छलांगों का रहस्य बन्द रहता है। शैली-शास्त्री हो या काव्य-शास्त्री, इन केन्द्रीय शब्दों के बिना कृति के मूल को नहीं समझ सकता। इसके बिना, वह सिर्फ सतह पर शब्द-गणना या प्रचलित से भिन्न तत्वों का संग्रह करता रहेगा।

ये केन्द्रीय शब्द या पद, अपने प्रचलन–काल में, अनेक कृतिकारों की रचनाओं में दुहराये जाते हैं, अतः पुनरावृत्तियों के आधार पर भी इन्हें पहचाना जा सकता है।

समकालीन कविता में 1965 के पूर्व वितृष्णा या घृणा (Disgust) से सम्बन्धित शब्दों का बाहुल्य है। राजकमल चौधरी के "मुक्ति प्रसंग" में इसे देखा, जा सकता है। इसके पूर्व "नयी–कविता" के वृत्त में अन्तः संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व से सम्बन्धित शब्द अधिक मिलते हैं, अवसाद, पीड़ा, घुटन, मूल्य-द्वन्द्व आदि। 1962 के बाद हिन्दी कविता में,. प्रतिबद्धता, समाँतरता, आक्रोश, पक्षधरता, क्रान्ति, सम्बद्धता (एंगेजमेण्ट), चिन्ता, आम आदमी, सर्वहारा, गुरिल्ला–चेतना, प्रगतिशीलता, ध्वंस, नव-वामपंथ, वाम संस्कृति, विद्रोह, समकालीनता जैसे शब्दों का प्रयोग बढ़ता है, और 'अजनवीपन', 'प्रमाणिक अनुभव' जैसे पिछले दशक के शब्दों का प्रयोग कम होता है।

स्पष्टतः ये शब्द अवधारणात्मक हैं। वे कवि की मनोदशा को ही नहीं बताते, बल्कि उसके विचार-पक्ष को या उसके सामाजिक-दर्शन को भी संकेतित करते हैं। मैं वास्तविक गणना यहां नहीं दे रहा हूँ, पर मोटी गणना के आधार पर मैं यहां यह निष्कर्ष दे सकता हूँ कि सप्तम–दशक के उत्तरार्द्ध में जनान्दोलनों के तीव्र होने और सारे विश्व में, नव वाम-पंथी लहर के कारण, हिन्दी कविता में अस्तित्ववादी शब्दावली कम प्रयुक्त हुई हैं, और नववामपंथी, मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग बढ़ा है। कविता पर लिखे हुए लेखों में भी यही क्रम दिखायी देता है। सामाजिक परिवर्तन के आवेश में उन कवियों को असमकालीन, पिछड़ा हुआ, अप्रगतिशील और जन-विरोधी तक कहा गया है, जो इस नव-मार्क्सवादी और नववामपंथी शब्दावली का प्रयोग नही करते, जैसे श्रीकाँत वर्मा, अज्ञेय जैसे कवियों को प्रतिक्रान्तिवादी कहा गया है।

वामोन्मुख रैडिकल राजनीति के शब्दों का निश्चित अर्थ होता है, पर यह सन्देहपूर्ण है कि सभी हिन्दी कवियों, विशेषकर युवाकवियों का सामाजिक-राजनीतिक

बोध स्पष्ट है। उक्त शब्दों के अस्पष्ट प्रयोगों का भी सांख्यिकी विधि से आकलन हो सकता है, परन्तु यह सुरक्षित ढंग से कहा जा सकता है कि अस्पष्ट प्रयोगों की संख्या, स्पष्ट प्रयोगों से अधिक है, यह निष्कर्ष, कवियों की सामाजिक चेतना के अन्तर्विरोध को रेखांकित करती है।

मसलन धूमिल की कविता में संसदीय स्थितियों के विडम्बनात्मक चित्रणों के बाद कोई अन्य स्पष्ट विकल्प नहीं उभरता, यों नक्सलवादी या सशस्त्र क्रान्ति का विकल्प यत्र–तत्र गूंजता है, पर उस पर भी कवि को अभी पूरा भरोसा नहीं है। यही डांवाडोल स्थिति लीलाधर जगूड़ी में है। व्यवस्था का अनावरण (एक्सपोजर) और उस पर व्यंग्य खूब है, पर क्या किया जाये, इस ओर कवि का ध्यान जाता ही नहीं। वह कहीं यह अवश्य कहता है कि वह कहीं से भी इस विराट् कारागार में सुरंग बना लेगा, और पार हो जायेगा।

दरअसल, इस चित्तवृत्ति का निर्माण नववामपंथ के "स्वतः स्फूर्त क्रान्ति" के प्रत्यय से हुआ था। 1967-68-69 में नववामपंथी कोहन बेंदो, तारिक अली, चिगुवेवारा, रेविस दिब्रे आदि सभी का मत था कि पारम्पपिक साम्यवादी-राजनैतिक पार्टियां संसदीय मिथक की शिकार हो गयी हैं, और श्रमिकों को वे किसी भी क्रान्ति-उत्तेजक कार्यवाही में भाग नहीं लेने देतीं। कोहन बेंदो ने बहुत विस्तार से, "अब्सोलीट कम्यूनिज्म, ए लैफ्टिस्ट आलटरनेटिव" पुस्तक में इस प्रवृत्ति का विश्लेषण किया है। वह क्रान्ति के लिए युवकों या छात्रों पर अधिक विश्वास करता है, और सामाजिक चेतना सम्पन्न बौद्धिकों पर भी।

नववामपंथियों का मत यह था कि विश्व भर में बूर्ज्वा या पूंजीवादी पद्धति के शिकार समाजों में क्रांति के सभी उपादान मौजूद हैं, अतएव प्रचार, मानसिक तैयारी और भ्रष्ट चुनाव-पद्धति में भाग न लेकर किसी सामाजिक प्रश्न को उठाकर व्यवस्था पर हमला करना चाहिए। अग्नि प्रज्वलित करो, फिर पीड़ित और पक्षधर तत्व स्वतः इस अग्निधारा में खिंच आयेंगे। यदि धारा नहीं भी बने, तो भी व्यवस्था पर आक्रमण व्यवस्था को जितना एक्सपोज करेगा, उतना प्रोपेगैन्डा नहीं कर सकता। बलिदान सबसे बड़ा प्रचार होता है।

इस तरह क्रांति शब्द का अर्थ सामाजिक-परिणति की दृष्टि से तो मार्क्सवादियों और नव वामपंथियों के लिए एक ही अर्थ रखता है, क्योंकि वर्ण-वर्गहीन समाज की स्थापना और श्रमिक-राज्य ही दोनों का लक्ष्य है, किन्तु प्रक्रिया की दृष्टि से दोनों में अन्तर है।

किन्तु क्रान्ति शब्द को दिनकर, बच्चन और मध्य-पंथी राजनीति के लोग भी इस्तेमाल करते रहे हैं। क्रान्ति शब्द यहाँ यत्रतत्र सुधार का पर्याय है।

इसी तरह 'प्रतिबद्धता' शब्द का अस्पष्ट प्रयोग चलता रहा है। जो साम्यवादविरोधी लेखक हैं, लेकिन नवीन साम्यवादी लहर से प्रभावित हैं, वे अपने मत को

अलगाने के लिए 'सम्बद्धता' शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे 'मधुमती' की परिचर्चा में नन्द चतुर्वेदी ने किया। इधर, प्रतिबद्धता की वर्गीयता या वर्ग-धारणात्मकता से बचने के लिए कुछ पत्रों में "सरोकार" शब्द का प्रयोग हो रहा है। ऐसे सरोकारी सम्पादक "प्रतिबद्ध कहानी" शब्द का प्रयोग न कर 'समान्तर कहानी' शब्द का प्रयोग करते हैं, ताकि उन पर कम्यूनिस्ट होने का आरोप न लग जाये।

साहित्यिक बौद्धिकों में पिछले दशक में, अजनबी या 'आउट साइडर' शब्द लोकप्रिय था, और अनेक रचनाओं में लेखकों ने इस शब्द को खूब पीटा था। किन्तु ऐसे लेखकों ने अल्वेयर कामू का अनुकरण किया, ज्याँ पालसार्त्र का नहीं, क्योंकि सार्त्र में अस्तित्ववाचक धारणाएँ अन्त में 'मानववाद' और उसमें भी क्रान्तिकारी-मानववाद में परिणत हो जाती हैं,अतः सार्त्र में वरण, वैयक्तिकता और वितृष्णा आदि अवधारणाएँ अन्त में सामाजिक-संघर्ष की ओर ले जाती हैं, पर इसके लिये हिन्दी के लिए रचनाकार उतने तैयार नहीं थे। वे जनशक्ति के स्रोतों के पास नहीं जाना चाहते, अपने बिल या वर्ग (निम्न मध्यवर्ग : मध्यवर्ग) में ही, अजनबी बनकर आक्रोश उगलते रहना चाहते हैं।

इस मनोवृत्ति को तोड़ने के लिए 'पक्षधरता' (पार्टीजनशिप) की अवधारणा का अभ्युदय हुआ। पक्षधरता, प्रतिबद्धता, मार्क्सवाद, ये सब एक पक्ष के शब्द हैं। जब साम्यवादी दल की संवैधानिक गतिविधियों को अपर्याप्त मानकर कोई व्यक्ति रचना में हिंसात्मक युद्ध का विकल्प अपनाता है, या व्यवहार में मार्क्सवादी लेनिनवादी दल जैसे किसी अग्रगामी दल को सहानुभूति देता है, तब वह गुरिल्ला या पक्षधर लेखक या कार्यकर्त्ता बनता है। वियतनाम, क्यूबा आदि के जन-संघर्ष उसके लिए नमूने बनते हैं, और ऐसे व्यक्ति साहित्य में सुधारवादी राजनीति को जन-विरोधी सिद्ध कर पाठकों में उग्र क्रान्तिकारिता की आग पैदा करते हैं, अतः इस पक्षधरता की अवधारणा को ठीक समझने की जरूरत है।

यह गौरतलब बात है कि प्रतिबद्धता कम खतरनाक चीज थी। प्रगतिशीलता तो फायदे की चीज बन गया है, अतएव पक्षधर रचनाओं को भी 'प्रोटैस्ट' या मनमाने अंध विरोध की कोटि में डालकर, हिन्दी के प्रगतिशील सम्पादकों-आलोचकों ने उनकी उपेक्षा की है। अपनी स्थिति खतरे में न पड़े, इसलिए ऐसे साहित्य के कर्त्ताधर्त्ताओं ने अब धूमिल जैसे प्रखर सामाजिक चेतना के कवि को भी राजकमल चौधरी जैसा साबित करना शुरू कर दिया है। इनके लेखों, सम्पादकीयों और पत्रिकाओं में पक्षधर-साहित्य की साम्यवादी चेतना और मनोदशा के निर्माण में सहायक मानकर भी विश्लेषित नहीं किया गया। ये वियतनाम और क्यूबा की जन-क्रान्ति के समर्थक हैं। पर वही मनोदशा यदि हमारे साहित्य में बनती है तो इन्हें त्रात्स्कीवाद सताने लगता है। ऐसे विचारक, सारे व्यवस्था-विरोधी आन्दोलन को, एक साथ रख कर समग्र दृष्टि से नहीं देखते और न उसके सम्भावनापूर्ण अन्त-

विरोधों का लेखा-जोखा करते हैं। वे मध्यपंथी मानसिकता को वामोन्मुख करने में सफलता के रोमांचों से रोमांचित होते रहते हैं, जबकि मध्य-पंथ स्वयं उन्हीं को अपनी व्यवस्था में व्यवस्थित कर, उन्हें प्रमुखता या पद देकर क्रान्तिपथ से विचलित कर देता है। पिछले वर्षों में इस विचलन को साफ देखा जा सकता है, और यह विचलन, वामपंथी शक्तियों की कमजोरी से बढ़ रहा है।

इसी प्रकार "आम आदमी" की अवधारणा में अस्पष्टता है। आम-आदमी एक वर्ग-धारणा है, वह 'सामान्य मानव' या सामान्यीकृत मानव का पर्याय नहीं है। जो शोषित हैं, वह आम आदमी है। शोषण सिर्फ आर्थिक प्रकार का नहीं होता, वह अनेक प्रकारों का है, पर मुख्यत: वह आर्थिक किस्म का होता है। समकालीन साहित्य में आम-आदमी के चित्रण हुए हैं, पर उसमें शोषक वर्गों का असली हुलिया गायब है। स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में कतिपय स्थलों को छोड़कर "खास आदमी" के समानान्तर समाज और संसार का भूगोल नहीं मिलता। सिद्धान्तहीन राजनीति, सत्ता की छीन-झपट, अवसरवाद, दलबदल, कर्ज के धन का दुरुपयोग—इन सब पर अमूर्त्त प्रहार हुए हैं, किन्तु इनका ब्यौरा-उपन्यासों में भी गायब है, भ्रष्ट ठेकेदार, इंजीनियर, राजनेता, धनपति, बौद्धिक आदि के टिपीकल चरित्रों की पूरी तरह पहचान नहीं हो सकी, अमूर्त्त आक्रोश अधिक व्यक्त हुआ है। अतएव 'आम आदमी' अपने शत्रु 'खास आदमी' की तस्वीर के बिना अमूर्त्त होता गया है। इसी वजह से, आम आदमी से सम्बन्धित रचनाओं में लेखक के आक्रोश के स्वरूप और मात्रा को जितनी आसानी से समझा जा सकता है, उतनी आसानी से आदमी के व्यक्तित्व और चरित्र को नहीं समझा जा सकता। धूमिल के 'मोचीराम' में भी मोची धूमिल के वाग्वैदग्ध्य को अपनाता है, वह अपने मोची-मुहावरे में नहीं बोलता। इस उलझन में सर्वहारा और 'आम आदमी' की अवधारणाओं में गडमगड्डता आयी है, जिससे मध्यवर्ग के लेखक को लाभ यह होता है कि वह अपने को 'आम आदमी' कहकर सर्वहारा वर्ग से अलग-अलग रहने के सुख में निमग्न रहता है। वह अपने आत्म-अपराध को आवृत करने के लिए रैडिकल शब्दों का प्रयोग करता है।

विकल्पहीन आक्रोश, ध्वंसवाद या अराजकतावाद का पर्याय बनता है, लेकिन इसे हिन्दी कविता में विद्रोह का समानार्थक शब्द मान लिया गया है। अकवियों के घृणावाद और अंध-आक्रोश में, कोई समाज-दृष्टि निहित नहीं थी, अत: वहीं अराजकतावादी था। वह स्वस्थ विद्रोह नहीं था, जिसकी वकालत अपनी पुस्तक 'द रिबैल' में अल्बेयर कामू करता है। कामू के अनुसार लेखकों को क्रान्तिकारी नहीं, विद्रोही होना चाहिए, क्योंकि क्रान्ति सर्वदा व्यवस्था का निर्माण करती है, जैसे फ्राँस की राज्य-क्रान्ति से पूँजीवादी व्यवस्था बनी और सोवियत रूस की राज्य-क्रान्ति से एक दल की तानाशाही का जन्म हुआ। कामू के अनुसार लेखक की नियति अभिशप्त सिसिफस की नियति है, जो आजीवन बोझ ढोता है, और अन्त में थककर मर जाता है।

फिर भी कामू का विद्रोही, अकवियों के विद्रोही साथियों से अधिक दृष्टि-सम्पन्न है, क्योंकि वह व्यवस्था के अन्तर्विरोधों पर निगाह रखता है, और उन्हें रचना में रेखांकित करता है। व्यवस्था के वस्तुगत अध्ययन-पर्यवेक्षण के लिए बुद्धि का प्रयोग करना पड़ेगा, किन्तु हिन्दी के विकट विद्रोही, मात्र उद्वमन को ही पर्याप्त मान लेते हैं, और सोचने का काम सामाजिकों पर डाल देते हैं।

लेकिन यह न कहना न्यायहीनता होगी कि अकवियों ने काव्यात्मक विरोध द्वारा, व्यवस्था के औचित्य के आगे प्रश्न-चिन्ह अवश्य लगाया है। सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' में भारतीय-समाज और राजनीति की स्थितियों का जो सवाक् चित्र है, वह कम्यूनिस्ट कवियों में भी दुर्लभ है। इसका कारण यह है कि जहाँ दलबद्ध लेखक, दल की कार्यनीति को साहित्य में लाता है और उस घेरे में घिर जाता है, वहाँ मुक्तविरोधी लेखक अपनी काव्यात्मक प्रतिक्रिया में स्थिति के पूरे बिगड़ाव को फंतासियों में बाँधता है, वह किसी का लिहाज नहीं करता। अतः उसके सर्वसंहारक स्वर के बावजूद मानव-वास्तविकता की विकृति का नक्शा 'लुकमानअली' में पूरे असंयम के साथ उभरता है। अकवि, अति पर पहुँची हुई विकृति या वैषम्य को, अतिवादी मुहावरे के जरिए भास्वरित करता है। औघड़ अकवियों की इस शक्ति को यदि नजरअन्दाज कर दें तो राजीव सक्सेना की कविता 'आत्मनिर्वासन' को 'लुकमान अली' से ज्यादा प्रभावक होना चाहिए था, लेकिन सच यह है कि सौमित्र मोहन, व्यवस्था के एक्सपोजर में कम्यूनिस्ट कवियों से ज्यादा कामयाब हुए हैं। यह अवश्य है कि राजीव सक्सेना में दृष्टि-सम्पन्न क्रान्तिकारिता है, और सौमित्र में वह नहीं है।

व्यावसायिक कृति से अलग करने के लिए 'समानान्तर या समान्तर कृति' को अलग किया गया है, किन्तु समानान्तर और साम्यवादी कृति में भी अन्तर होता है, यानी सामानान्तरवादी, यथार्थवादी होने का तो दम भरते हैं, पर यथार्थवादी यदि सच्चा है, जनविरोधी किसी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों से यदि वह पर्दा उठाता है, तो वह वर्गहीन समाज की ओर ले जायेगा, लेकिन इस अनिवार्य गति या परिणति का कोई विचार या विश्लेषण, समान्तरवाद में नहीं हुआ, अतः 'समान्तर' आन्दोलन पाठकों को कन्फ्यूज, कर रहा है।

जिस तरह 'प्रमाणिक अनुभव' की अवधारणा को स्पष्ट रखा गया था, और अनुभव और बोध के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को काट कर देखा गया था, उसी तरह समान्तरवादी अवधारणा के प्रचार में हो रहा है। इस रहस्य को समझे बिना रचनाओं की संरचना अस्पष्ट रहती है। लेखक, अपने हितों की रक्षा के लिए भी, अनुकूल अवधारणा चुन सकता है, इस ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। फलतः रचनाओं के अर्थ और मर्म नहीं खुलते, उनके प्रभाव की प्रकृति का पूरा परीक्षण नहीं होता। कोई रचना सिर्फ नयी होने पर ही प्रासंगिक नहीं हो जाती, उसे "सही" भी बनना पड़ता है।

अन्त में यह कहना चाहता हूँ कि रचनाएँ ऐसी हो सकती है, जहाँ शब्दों के प्रयोग और शब्दों की बुनावट में कोई भेदक भिन्नता न हो, लेकिन रचना में गुँथी हुई केन्द्रीय अवधारणा की उपस्थिति और उसके व्यंजक शब्दों से रचना के प्रभाव का अन्दाजा लग सकना संभव है। अतएव हिन्दी की समकालीन कविता में अवधारणात्मक शब्द-विन्यासों के निकटतम अध्ययन की आवश्यकता है। रचना वस्तु-स्थिति का बोध प्रकट करती है या नहीं, इसका वस्तुगत ज्ञान, मात्र कुछ पुन:पुन: प्रयुक्त शब्दों से नहीं होता बल्कि संदर्भबोध से होता है। संबोधक कवि, किसे सम्बोधित कर रहा है, और उसका सम्बोधित कथ्य क्या है, यह जानना जरूरी है, तभी उसका शब्द-विन्यास और प्रचलित से भिन्न प्रयोगों के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

उदाहरण के लिए दो कविताएँ उद्धृत करने की अनुमति चाहूँगा। एक कविता है, कवि बसन्त बसु की (सम्पादक, नीरा, जयपुर) और दूसरी कविता है श्री शेषेन्द्र शर्मा की (ये दोनों कविताएँ ताजा हैं और 1976 की लिखी हुई है) इनमें बसन्त बसु की कविता में अवधारणात्मक शब्दावली नहीं है, जबकि शेषेन्द्र की कविता में है, मगर दोनों ही कविताओं का सन्देश एक है। बसन्त बसु की कविता में अवधारणात्मक शब्दों के वाचक शब्द नहीं है पर शेषेन्द्र शर्मा की कविताओं में वे हैं। वस्तुगत अध्ययन के लिए पहले संदर्भ समझना होगा। तदनंतर लगेगा कि शेषेन्द्र की 'गुरिल्ला' कविता की अवधारणाएँ बसन्त बसु की कविता में भी विद्यमान हैं, पर वे कथित नहीं हैं। शब्द संज्ञात्मक हुए बिना भी, दूर जाकर उन धारणाओं तक पहुंचा सकता है, जिनके ज्ञान के बिना रचना का अभिप्राय ही अदृश्य रहेगा। इसलिए रचनाओं में शैली-शास्त्रीय विश्लेषण स्थिति-बोध और विचार-बोध के बाद होना चाहिए। पद्धति के लिए रचना के मूल्य का बलिदान पद्धतिवाद है। तकनीक को तत्व से अधिक महत्त्व देना गलत है, बल्कि सच तो यह है कि तत्व को समझकर तकनीक समझ में आती है। काव्य में भाषा ही सामने होती है पर भाषा और उसके विन्यास हमें कहां ले जाते हैं, इसे भी शैली-शास्त्र में शामिल कर लेना होगा।

अमृत्यु

"यह सच है कि भारी आवाजों के बीच
टूट गई थी, रात की खामोशी
लेकिन क्यों
आखिर क्यों मान लिया तुमने
उन आवाजों से सम्बन्ध
क्या तुम्हारे पास नहीं थी
उफनती नदी
या वह सूख गयी
इतनी जल्दी

कि कमज़ोरी घबराहट के नीचे दबाये
तुम हर आहट पर सहमते रहे
और मैं, किसी अज्ञात नाटक में फँस कर
सम्वादों की भाषा में तुम्हें समझाता रहा ।

(बसन्त बसु)

गुरिल्ला

"You are born youth of our mother earth. You have taken the roaring wind for your span of life. You have taken the raw power of the oceans of the final Destruction as your flesh and blood, the flames of fire have turned into your eyes and the whole sky stands as your voice. Where is that which doesn't Succumb to you my ancestor ? It is you who settled with the ancient beasts and initiated us into the skillis of the art of destroying the aggression and the exploitation. Come over my body and possess me O gorilla ?"[1]

शेषेन्द्र के स्वर में आव्हान है, महाकाव्यात्मक औपचारिक उच्चता है । इस 'गुरिल्ला' कविता में क्रांति-परक मनोदशा के वाचक शब्द हैं। यहाँ विनाश: 'दहाड़ती हवाएँ', 'आग की लपटें', 'आकाशगामी गूँज', 'आक्रान्ताओं का दमन', 'शोषक-वध तथा गुरिल्ला शब्दों की अवधारणात्मकता स्पष्ट ही हैं, किन्तु बन्सत बसु की कविता में अवधारणात्मक शब्दों का यह उभरा हुआ स्थापत्य नहीं है, वहाँ अवधारणात्मकता स्थिति पर टिप्पणी के भीतर बन्द है । यदि पाठक को वस्तु-स्थिति का बोध है, तो दोनों कविताएँ संदेश में एक लगेंगी यों उनकी कलात्मकता भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं ।

निष्कर्ष यह है कि समकालीन हिन्दी-कविता में अवधारणात्मक शब्दावली और उनके विन्यास की समझ जरूरी है, और यह कि शैली-शास्त्र एक विकासशील ज्ञानानुशासन है, पद्धति है, उसमें संदर्भ और मूल्यों का भी वस्तुपरक अध्ययन होना चाहिए, और यह वस्तुपरकता, कवि-समुदाय की कविताओं में व्यक्त केन्द्रीय शब्दों की पहचान से आ सकती है ।

1, ("गुरिल्ला" शीर्षक कविता, शेषेन्द्र शर्मा, प्रकाशित, हैदराबाद)

प्रगतिशीलता: वामदिशा

प्रूधों और कार्ल मार्क्स ने ही सर्वप्रथम संग्रहशीलता ('सम्पत्ति चोरी है'-प्रूधों) को ही सामाजिक-वैयक्तिक विकृतियों का मूल कारण घोषित नहीं किया था, अपितु आदिम कबीलाई समाजों से, पूंजीवादी व्यवस्था तक विकसित, कबीलाई सामन्ती तथा पूंजीवादी व्यवस्थाओं में अनेक ऐसे सदाशयी, मानवप्रेमी और मूल्यवादी विचारक जनमते रहे हैं, जिनकी चिन्ता का विषय रहा है कि प्राणियों का सर्वतोभद्र कल्याण किस तरह हो सकता है। महान आदर्शवादियों का विश्वबोध प्रत्ययवादी था। आइडियलिस्टिक होने पर भी, वे सर्वसम्मति से एक बिन्दु पर (सामाजिक सन्दर्भ में) सहमत हैं कि विकृतियों, विषमताओं, शोषण और युद्ध का मुख्य कारण प्रलोभन या तृष्णा है। संग्रहशील सभ्यताओं में, सरकारें और पूंजी-प्रतिष्ठान और इनके द्वारा प्रोत्साहित-पुरस्कृत साहित्यकार, कलाकार और सिद्धान्त-क्षेत्रों के बौद्धिक और लेखक, मूल्यहीन संग्रहशील समाज में सफल होने के लिए, आवश्यक अपराध-वृत्ति को मानव-उत्सुकता का विषय बना देते हैं। इससे कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि के लिए विज्ञापन-पद्धति को इतने व्यापक रूप में अपनाया जाता है कि आत्म-विज्ञापन के बिना कोई चीज़ नहीं बिक सकती, और बिक्री के अयोग्य किसी वस्तु का कोई महत्व संग्रहशील, तृष्णावर्धक समाजों में नहीं होता।

वस्तु संग्रह में 'वस्तु' शब्द की व्यापकताओं में नाम और नामा, पद और प्रतिष्ठा-प्रभाव और धन आदि सभी प्रकार की वस्तुएँ शामिल हैं। संग्रहशील समाज में साधनों की नहीं, इन्हीं वस्तुओं की उपलब्धि का महत्व होता है, क्योंकि वे बढ़ती हुई जरूरतों या जीवन स्तरों को सन्तुष्ट करती हैं। मानव-मूल्य, आदर्श और सार्थकता जैसे सवाल, इस उपलब्धि में बाधा डालते हैं, अतः संग्रहशील (एक्वीज़ीटिव) समाजों में 'आधुनिकता' का अर्थ—मूल्यहीनता अथवा मूल्यनिरपेक्षता हो जाता है। तभी आधुनिकता को 'असोशल' और 'अमॉरल' धारणा के रूप में पूंजीवादी देशों में व्याख्यायित किया गया है।

'प्रगतिशील' शब्द की इधर इतनी अतिव्याप्तिपरक व्यवस्थाएँ हो रही हैं कि प्रगतिशीलता का, वामदिशा के साथ, शोषण मुक्त समाज के निर्माण के साथ, सम्बन्ध विच्छेद किया जा रहा है। जिस प्रकार, 'आधुनिकता' शब्द के साथ जुड़े प्रभामण्डल को हथियाने के लिए भारतीय संग्रहशील समाज के बौद्धिकों-लेखकों में

होड़ मची थी, उसी प्रकार इस देश में आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना करने के स्वप्न देखने वाले और एक सीमा तक सफल भी होने वाले ऐंग्लो-अमरीकी शासक वर्गों की 'आधुनिकता' का असर कम हो जाने (बाँगला देश की आजादी के समय भारत विनाश के लिए अमरीकी 'एन्टरप्राइज' की कोशिशें, शस्त्र-बल से मुक्त व्यापार के क्षेत्र में अपने वैश्विक प्रभुत्व की रक्षा के लिए दियागो ग्रेसिया पर भयंकर शस्त्रास्त्रों के भण्डार के बाद) से इस मुल्क के शिक्षालयों, साहित्य-कला क्षेत्रों और राजनीति में 'प्रगतिशील' शब्द एक बार पुनः लोकप्रिय और आदरवाचक हो गया है।

'प्रगतिशील' शब्द की शक्ति, स्थापित प्रतिष्ठानों के साथ दुश्मनी में निहित थी, क्योंकि एस्टेब्लिशमेंट संग्रहशील जीवनविधि और मूल्य-हीन मानव-संसार को बढ़ावा देता है और वह वर्ग-सन्तुलन की कार्यनीति द्वारा शोषित वर्गों और व्यक्तियों को, शोषक श्रेणियों और व्यक्तियों के विरुद्ध खड़ा नहीं होने देता। भारत में पिछले पैंतीस वर्षों से शासक दल, मध्यपंथ को अपनाकर चला है, जो गांधीवाद के नाम पर वर्ग सामञ्जस्य की जड़ें मजबूत करता रहा है। 'प्रगतिशील' शब्द की जो वामोन्मुखता मानते हैं (और जो नहीं मानते, वे वस्तुतः या तो प्रपंची प्रगतिशील हैं, या पिछलग्गू प्रगतिशील) वे मध्यपंथी शासकों की मिश्रित अर्थ व्यवस्था, मिश्रित मूल्य व्यवस्था, और तज्जन्य मिश्रित प्रगतिशीलता के साथ कभी सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि मिश्रित व्यवस्था में, वर्गों का सन्तुलन कायम रहता है, सर्वहारा का शासन असम्भव हो जाता है।

पिछले पैंतीस वर्षों से इस देश में, संग्रहशील,उपभोक्ता या 'खाऊ' समाज की स्थापना की जा रही है और जीवन-संघर्ष इतना प्रतियोगितापरक होता गया है कि सिद्धान्त में माओस्टि बनने वालों को भी, व्यवहार या कार्यनीति में 'खाओस्टि' बनना पड़ा है। यह विवशता जीवनपद्धति की धारणा से उत्पन्न हुई है। पिछले वर्षों में, यह असैद्धान्तिक, मूल्यहीन, मगर आरामपसन्द जीवन जीने की होड़ आज इतनी बढ़ गयी है कि सिद्धान्तों का प्रयोग इस होड़ में जीतने और स्वार्थ सिद्धि के लिए होने लगा है। यही कारण है कि संस्थाओं, प्रतिष्ठानों में सत्ताधीशों का साथ देने वालों में यानी आम श्रमिक, आम शिक्षक, आम कर्मचारी और आम बौद्धिक को दबाकर, यथास्थिति को नैरन्तर्य देने के लिए मार्क्स और माओ का जाप करने वाले कई 'प्रगतिशील' लोग सबसे आगे हैं। ये दमनशील सत्ताधीशों के कर्म को सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करते हैं और मालिकों को कठपुतली बनाकर अपना और अपने उल्लुओं का, उल्लू सीधा करते हैं। प्रगतिशीलता का यह दुरुपयोग उन लेखकों द्वारा भी हो रहा है जो जनोन्मुख मुहावरा बोल कर, सरकार से मनमाने काम करवाने के लिए अथवा कमजकम, एक दबाव-ग्रुप के रूप में, प्रभाव-संग्रह के लिए, प्रगतिशील आन्दोलन को सरकारी तमाशा बना रहे हैं।

प्रगतिशील आंदोलन सही रास्ते पर है या नहीं, इसकी मुख्य पहचान यह है कि क्या वह अपनी वामदिशा और दृष्टि खो चुका है अथवा वह अपने सामाजिक लक्ष्यों के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध है, प्रतिश्रुत है ?

प्रश्न होगा कि वामदिशा और दृष्टि का अर्थ असंग्रहशील वर्ग वैषम्य रहित सभ्यता का निर्माण है तो 'चिरन्तन वाम' के प्रचारक तथा "समान्तर-कहानी" के कर्णधार भी तो यही कह रहे हैं। इसका उत्तर यह है कि पूँजीपतियों के प्रतिष्ठानों से निकलने वाली पत्रिकाएँ और उनके सम्पादक "चिरन्तर वाम" की धारणा का तभी तक प्रचार कर सकते हैं, जब तक वे पूंजीवादी उत्पादन विधि के अंतर्विरोध नहीं खोलते। अतः इस भय से आन्तरिक "चिरन्तन वाम" के समर्थक, कमलेश्वर, पूँजीपतियों के चरित्र का चित्रण नहीं करते। आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि कमलेश्वर के पूरे कृतित्व में, पूँजीपतियों का पर्दाफाश कहीं नहीं है। वह सरकार पर तो जब तब चोट कर जाते हैं (क्योंकि वह कम खतरनाक है) पर उनकी और उनके पिछलग्गुओं की कहानियों में, इस देश के संग्रहशील व्यवसायियों के आन्तरिक संसार या भीतरी मंशाओं और हरकतों का कभी बखान नहीं मिलता। ये कम्पनी और कमकर सबके साथी हैं, सेठ के साथी भी, प्रगतिशीलों के 'पूरक' भी।

"चिरन्तन वाम" की धारणा अपनी नियति शोषित-जन के साथ जोड़ने की चुनौती देती है। वह जनोन्मुख विद्रोह का विचार है, जिसके अनुसार व्यवस्था के अन्तर्विरोधों के विरुद्ध लड़ा जाता है।

लेकिन व्यवस्था व्यवस्था में भेद होता है। अन्तर्विरोधों में भी सभी अंतर्विरोध एक प्रकृति के नहीं होते। मसलन्, समाजवादी व्यवस्था में आप वह रुख नहीं ले सकते जो पूंजीवादी व्यवस्था में लेते हैं, क्योंकि पूँजीवादी जनतंत्रों में, जनता और शासक-शोषक वर्ग की, समान्तरता कायम रहती है जबकि वास्तविक समाजवादी व्यवस्था में जनता और राजनैतिक दल की एकता स्थापित हो जाती है। पूँजीवादी जनतन्त्र में पेशेवर राजनैतिक नेता, "समाजवाद" और "प्रगतिशीलता" जैसे शब्दों का दुरुपयोग कर अन्तर्विरोधों को छुपाते हैं जबकि समाजवादी-साम्यवादी देशों में, शब्दों का ऐसा दुरुपयोग सम्भव नहीं है।

मध्यपंथी शासन, अपने अस्तित्व और सत्ता पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए, कभी वामपंथ की ओर झुकता है, तो कभी दक्षिणपंथ की ओर। वामपंथ की ओर झुकाव होते ही, मध्यपंथी शासक-तबकों में सभी "प्रगतिशील" कहलाये जाने की होड़ में आजाते हैं, और दक्षिणपंथ की ओर झुकाव बढ़ने पर, इस विशेषण या संज्ञा से मुक्ति पा ली जाती है। मुख्य चीज उनके लिए सत्ता, प्रभाव, पद और शक्ति है, शब्द का प्रयोग इसी की रक्षा के लिए होता है। शब्द यहाँ साधनात्मक भूमिका निभाता है, ज्ञानात्मक भूमिका नहीं। पिछले वर्षों में साधनात्मक (इन्स्ट्रूमेंटल वैल्यू) को

ज्ञानात्मक और ज्ञानात्मक को साधनात्मक मूल्यों के साथ गडमगड्ड किया गया है, अतः इस मूल्य-मिश्रण से जिस मिश्रित मूल्य-व्यवस्था का निर्माण हुआ है, उसमें यह सुविधा है कि हर आदमी कुछ भी करके, अपने को जस्टीफाइ कर ले, और यदि इस औचित्यीकरण में होशियारी हुई, तर्कशीलता हुई, तथ्यप्रियता हुई तो तर्क की उत्कृष्टता या तथ्य-संग्रह की शक्ति के बल पर, तर्क या तथ्य की अमानवीयता को माफ़ कर दिया जाता है। यह विस्मृत कर दिया जाता है कि तर्क तो दोनों तरफ हैं, तथ्य भी दोनों तरफ हैं मगर मनुष्य, साधारण मनुष्य के हित की दृष्टि से वे तर्क और तथ्य कहाँ तक प्रासंगिक हैं ? तर्क तो शांकर वेदान्त के पास सबसे प्रबल हैं पर वे तो अस्तित्व को ही मिथ्या सिद्ध कर देते हैं, तब उन तर्कों का क्या किया जाये ? इसके सिवा, इन तर्कों का प्रस्थान-बिन्दु प्रायः ग़लत होता है, क्योंकि ये औपचारिक पांडित्य पर निर्भर करते हैं। मसलन् भारतीय-दर्शनों में जो सूक्ष्म तर्क दिये गये हैं, वे शास्त्र-विरोध के लिए नहीं, शास्त्रों के परस्परविरोधी से प्रतीत होने वाले प्रत्ययों में संगति स्थापित करने के लिए हैं यानी वे तर्क यथास्थिति की रक्षा के लिए हैं।

मार्क्स ने तर्क और जनहित में सम्बन्ध स्थापित किया था। यों दार्शनिक परम्परा में, कई पुराने दार्शनिकों ने भी हित और तर्क की अनिवार्य रिश्तेदारी को रेखांकित किया था। मैं 'मधुमती' में श्री नन्द चतुर्वेदी द्वारा संयोजित साहित्य और सम्बद्धता की बहस में, तर्क, धर्म और हित की सापेक्षता पर, पुराचीनों के योगदान की चर्चा कर चुका हूँ, अतः यहाँ यही कहना है कि तर्कों की टकराहट में निर्णय के विषय में भ्रम होने पर, जन-हित को ध्यान में रख कर सोचने पर, एक तर्क व्यवस्था प्रगतिशील और दूसरी प्रतिक्रियावादी हो जायेगी। यदि हित की बात नज़र से ओझल हो गयी तो सभी 'आधुनिक' जिस प्रकार अब प्रगतिशील बन गये हैं, उसी तरह बूर्ज़्वाज़ी अपने को प्रगतिशील कह कर तर्क का जंजाल खड़ा कर देगी, कर रही है।

प्रगतिशीलता और वामदिशा के इस रिश्ते को बार-बार स्थापित करने वाली और मध्यपंथी अथवा राष्ट्रवादी-पूंजीवादी शक्तियों और शासकों पर चोट करने वाली पत्रिकाओं और उनके सम्पादकों-लेखकों पर दोतरफा हमला हो रहा है। पिछलग्गू या सत्ता के अनुगामी प्रगतिशील लोग उन लेखकों-सम्पादकों पर आक्रमण कर रहें है, जो प्रगतिशीलता और वामपंथ को एक मान कर चलते हैं और पूंजीवादी जनतांत्रिक व्यवस्था के विरोधी हैं। इन अग्रगामी प्रगतिशीलों में ज्ञानरंजन की 'पहल' को हमले का शिकार इसलिए बनाया जा रहा है, क्योंकि शाकिरअली के 'पहल' (सात) में प्रकाशित एक लेख में श्री जवाहरलाल नेहरू को 'राष्ट्रीय बूर्ज़्वा' कहा गया है, और यह सिद्ध किया गया है कि बूर्ज़्वा जनतन्त्र की प्रणाली, इस देश में सामंतवाद को तो प्रभाव-हीन कर सकी है, पर वह समाजवाद की नहीं, पूंजीवाद

की स्थापना कर रही है। सामंती सम्बन्धों और सामंती संस्कृति का भी वह उन्मूलन नहीं कर सकी।

'पहल-परीक्षण' नाम से, श्री विश्वभावन द्वारा सम्पादित एक पुस्तिका में, 'पहल' को 'राष्ट्रद्रोही', घोषित किया गया है, उसी प्रकार, जिस प्रकार, 'धर्मयुग' में अपने दो लेखों में श्री नंदकिशोर मित्तल ने प्रगतिशीलों और साम्यवादियों को 'देशद्रोही' संज्ञा दी है। नन्दकिशोर मित्तल ने भी, नेहरूजी को 'राष्ट्रीय बूर्ज्वा' कहने पर आपत्ति की है।

विचारधाराओं का मामूली छात्र भी जानता है कि 'बूर्ज्वा' शब्द पूँजीपति-वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है, और उनके लिए भी जो संग्रहशील मानसिकता के कारण, पूँजीपतियों का समर्थन करते हैं। यह बौद्धिक और नैतिक समर्थन देने वाला वर्ग अल्पपूंजीपति या 'पैती-बूर्ज्वा कहलाता है। यह शास्त्रीय शब्दावली है, गाली नहीं है। मास्को से प्रकाशित-'दर्शन के शब्द-कोष' में बूर्ज्वा-राष्ट्रीयतावाद का अर्थ यह दिया हुआ है:—

"पूंजीवादी विचारधारा और राजनीति का वह सिद्धान्त, जो राष्ट्रीय अलगाव तथा अन्य राष्ट्रों पर अविश्वास के विचार को मानता है। बूर्ज्वा राष्ट्रवाद पूंजीवाद के विकास की प्रारम्भिक कालावधि में विकसित हुआ था। यह दो रूपों में व्यक्त होता है, (1) महान राष्ट्र होने का अहंकार (शॉवनिज्म)। इसमें दूसरे देशों के प्रति घृणा और उन्हें दबाने की मंशा रहती है, (2) अलग रह कर, दूसरे देशों के विरुद्ध शत्रुभाव रखना। बूर्ज्वासुधारवादी (मध्यपंथी) इस राष्ट्रीयतावाद का प्रयोग वर्गचेतना को मंद करने के लिए करते हैं। वे विश्वभर के श्रमिकों को एकत्र नहीं होने देते, (राष्ट्र के आधार पर श्रमिकों के संगठनों को विभाजित करा देते हैं), अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी आन्दोलन को विखंडित करते हैं, और राष्ट्रों के बीच, साम्राज्यवाद और युद्धों का समर्थन करते हैं"। (पृष्ठ 306)

अब "पहलपरीक्षण" के समर्थक ही निर्णय करें, और "कादम्बिनी" और "दिनमान" के सम्पादक सोचें कि "देशद्रोही" यानी जनद्रोही कौन है?

जब-जब पूंजीवाद के प्रतिष्ठानों के पीठ-स्थविर देखते हैं कि जनवादी विकल्प साहित्य में उभर रहा है, प्रगतिशील लेखकों के अधिवेशन और सम्मेलन हो रहे हैं, साहित्य को जन-मुक्ति और असंग्रहशील समाज-विन्यास से जोड़ा जा रहा है, तब तब पूंजीवादी-राष्ट्रवादी और एकाधिकारशील पूंजीवादी पीठ-स्थविरों के सिंहासन हिलने लगते हैं, और प्रगतिशील तथा वामदिशोन्मुख पत्रों और लेखकों पर हमले शुरू हो जाते हैं। इन हमलों का उद्देश्य होता है कि प्रगतिशील पत्रों और सम्पादकों को देशद्रोही सिद्ध कर, राज्यसत्ता द्वारा उनका दमन कराया जाये, और उस अग्नि को बुझा दिया जाये, जो कभा जन-मानस को प्रज्वलित कर, पूंजीवादी ढाँचे के इस बाज़ारू समाज को नष्ट कर, इसके स्थान पर सहयोगी और समाजवादी व्यवस्था कायम

करने के लिए जहाँ-तहाँ भभक उठती है। ताज्जुब है कि वह बुझती नहीं है, मंद हो जाती है, और फिर तीव्र हो जाती है।

मध्यपंथी राज्यतंत्र के पिछलग्गू प्रगतिशीलों ने भी इस अग्नि को मन्द करने में कम काम नहीं किया है। यह वामोन्मुख प्रगतिशील ज्वाला, अपनी आँच और लपटों से, साठोत्तरी साहित्य के अग्रगामी रचनाकारों की कृतियों को बुनती रही है। इस जनपक्षधर सृजन का इतना आतंक बढ़ गया था कि पूंजीवादी-प्रतिष्ठानों के सम्पादक और लेखक भी, अपने को "पूरक" सिद्ध करने लगे थे, और "वाम" के नारे भी लगाने लगे थे, लेकिन पिछलग्गू प्रगतिशीलों ने, मध्य-पंथी राज्य-शासन का अंधसमर्थन किया, उसकी नीतियों-कार्यनीतियों का अनावरण नहीं किया, और ऐसा नाटक रचा, गोया अब सत्ता का प्रगतिशीलीकरण हो गया है, और वह सचमुच इस देश में समाजवादी व्यवस्था कायम करने जा रही है।

वस्तुस्थिति यह है कि समाजवाद के नाम पर इस देश में राज्यपूंजीवाद की स्थापना हो रही है। राज्यपूंजीवाद और समाजवाद में यह अन्तर होता है कि समाजीकृत अथवा राष्ट्रीयकृत संस्थाओं या प्रतिष्ठानों में, मालिकों की जगह, प्रशासकों और शासक दल के दादाओं की जगह, श्रमिकों की वास्तविक भागीदारी होती है। नौकरशाहों को निर्णायक स्थिति में बिठाकर और राष्ट्रीयकृत निगमों का धन पूंजीपतियों के प्रतिष्ठानों में विनियुक्त कर देने से समाजवाद नहीं, राज्यपूंजीवाद की स्थापना होती है।

जहाँ राज्य जन-कल्याण के लिए बड़े-बड़े निर्माण कार्य करता है, वहाँ भी नौकरशाहों या अभियंताओं तथा ठेकेदारों की मिली-भगत से बहुत मँहगा काम होता है, और यह सारा भार, भारी किश्तों को ढोने वाले निम्न और मध्यवर्ग के सिर पर पड़ता है। आवासन बोर्ड, सारे राज्यों में, इस हकीकत के सबूत हैं। राज्य लाभ-हानि-रहित-नीति की घोषणा करता है, पर व्यवहार में सारा लाभ नौकरशाहों और किश्तों को अदा करने और अपना पेट काटने वाला दयनीय प्राणी बन जाता है। राष्ट्रीय बीमा-निगम का रुपया भी व्यक्तिगत व्यवसाय में लगाया जा रहा है। अन्य संस्थाओं का भी यही हाल है।

अतएव, राष्ट्रीयकरण को तब तक समाजवाद की ओर बढ़ता हुआ कदम नहीं माना जा सकता, जब तक राष्ट्रीयकृत संस्थाओं में, सीढ़ीदार संरचना की जगह क्षैतजिक संरचना न की जाये यानी जब तक संस्थाओं में सहयोग मूलक, साम्यपरक व्यवस्था न हो। अभी श्रमिकों की भागीदारी के नाम पर, एक दो प्रतिनिधियों को ले लिया जाता है, जबकि बहुमत पूंजीपतियों और सरकार द्वारा मनोनीत निदेशकों का ही होता है। इस व्यवस्था को, औपचारिक समाज-वाद ही कहा जा सकता है, वास्तविक समाजवाद नहीं।

अभी, शिक्षालयों में छात्रों और शिक्षकों की नहीं चलती, अधिकारियों की चलती है। अभी, कारखानों में मजदूर और बाबुओं की नहीं, स्वामियों की हुकूमत

चलती है। सारा देश, अर्धदासों और उनके ऊपर हावी अधिकारियों और पेशेवर राजनीतिज्ञों के सर्वग्रामी, आतंककारी और खतरनाक प्रभाव की लीला का देश बन गया है। हर सुधार से विसंगतियों में वृद्धि हो जाती है, रोग बढ़ जाता है, इसीलिए वामोन्मुखप्रगतिशील लेखक और विचारक, कायाकल्प अथवा संस्थाओं में शक्ति के सहयोग-परक वितरण की बात करते हैं, लेकिन पिछलग्गू-प्रगतिशील छोटा-मोटा सुधार होते ही उसकी वंदना शुरू कर देते हैं, जैसे सामाजिक क्रांति हो गयी हो।

अभाव, अलगाव, आतंक एवम् भय से पीड़ित साधारण-जन, साधारण श्रमिक और किसान, साधारण बुद्धिजीवी और बाबू अपनी मुक्ति का उपाय वामोन्मुख विचारधारा और वामपंथी दलों में देख रहा है, इसीलिए उसे भ्रम में डालने के लिए मध्यपंथी लोग, वामपंथी लफ्फ़ाज़ी कर रहे हैं, और अदूरदर्शी-प्रगतिशील समझ बैठते हैं कि अब सत्ता और साहित्य में समझौता हो जाना चाहिए !

वामोन्मुख प्रगतिशीलशीलता के बूर्ज्वा-विरोधी और मध्यपंथी राज्यशासन के पिछलग्गू प्रगतिशील, दोनों ही अनावृत हो चुके हैं, और अग्रगामी प्रगतिशील लेखकों और विचारकों के लेखन में वही वर्गचेतन दृष्टि उनके रचना-कर्म को आलोकित कर रही है, जो सप्तमदशक में उभरी थी, और जो आपातकाल में भी बारीकबयानी करती रही थी। अब सशस्त्र दृष्टि पुनः साफगोई और सख्तबयानी का मार्ग अपनायेगी।

भाषा मिथक और यथार्थ

भाषा से यहाँ तात्पर्य, साहित्य-भाषा से है और 'यथार्थ' शब्द, अपने व्यापक अर्थ-क्षेत्र में, समूचे जीवन, प्रकृति और समाज को समेंटे हुए है; अर्थात् इस सम्पूर्ण दृश्यमान, अनुभूयमान् वास्तविक जगत् को, जो अणु-परमाणुओं से लेकर, मानव चेतना तक इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा, समग्रत: चेतना द्वारा, अनुभूत या ज्ञेय है, 'यथार्थ' कहते हैं या कह सकते हैं।

'यथार्थ' शब्द इतना व्यापक है, कि स्वयं चेतना (जो स्वचेतनात्मक रूप में अत्यन्त सूक्ष्म और भाषातीत सी हो जाती है) को भी यथार्थ का ही एक उच्चतर परिणमन या गुणात्मक परिवर्तन कह सकते हैं क्योंकि 'यथार्थ' को चेतना से समानान्तर अथवा स्वतन्त्र मानने पर द्वैतवाद का प्रवेश हो जाता है, जो असंगत है। मूलतः तत्व एक ही है और वह चेतना नहीं 'यथार्थ' है, जो पदार्थ (मैटर) की संज्ञा से अभिहित होता है और चेतना, इसी पदार्थ के अंतर्निहित तत्वों के अनवरत द्वन्द्व और संगति से, ऐतिहासिक विकास के एक विशिष्ट कालक्रम में, जैवी चेतना या प्राणसत्ता (लाइफ़) के रूप में विकसित होती है अतः चेतना दिव्य नहीं, भौतिक है।

यदि चेतना दिव्य, परिभू, स्वयंभू, शुद्ध चैतन्य, साक्षी, स्वतन्त्र, बुद्ध और अनिर्वचनीय नहीं है, भौतिक है, सापेक्ष और पदार्थावलम्बित है तो चेतना के उड्डयन और स्पन्दन, द्रवण और द्रुति, स्फुरण और प्रज्ञालोक (फ्लैशिस) भी यथार्थ-सापेक्ष होंगे और इसलिए चेतना की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में उसके यथार्थ के साथ सम्बन्धों को देखना होगा।

भाषा और यथार्थ के रिश्तों की सैद्धांतिक संभावना बन जाने पर भी, इनकी पहचान करते समय सबसे बड़ी चुनौती यह उपस्थित होती है कि जागतिक-अभिव्यक्तियों और यथार्थ का रिश्ता तो स्वयंसिद्ध है पर यथार्थातीत अनुभवों-आभासों का सम्बन्ध भाषा से सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि ऐसे अनुभवों के क्षणों में 'गूंगे के गुड़' जैसी अनुभूति होती है। यथार्थातीत या सर्वातीत अनुभवों को इसीलिए रहस्यदर्शियों ने 'अवाङ्मनसगोचर' कहा है। प्राचीन-मध्यकालीन रहस्यवादी भाषा और यथार्थ का सम्बन्ध तो मान सकते हैं, व्यावहारिक यथार्थ के धरातल पर, परन्तु

वे परमार्थिक सत्ता के आभासों-अनुभूतियों को भाषा का विषय नहीं, मात्र अनुभव का विषय मानते हैं क्योंकि ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त किया ही नहीं जा सकता ।

किन्तु वेदोपनिषद-तंत्रागम-बौद्ध-शैव-शाक्त-सिद्ध-नाथ-सन्त-भक्त, साधनाओं की परम्परा में रहस्यमय अनुभवों की जो भाषागत-अभिव्यक्तियाँ उपलब्ध हैं, उनके अध्ययन से, भाषा और यथार्थातीत अनुभवों के सम्बन्ध-अन्वेषण के समय वास्तविक जीवन का भाषागत-प्रतिबिम्बन-प्रक्षेपण ही प्रमाणित होता है ।

यह दो स्तरों पर सिद्ध हो सकता है, प्रथम, स्वयं रहस्यमय लगने वाले अनुभवों में यथार्थ का प्रतिबिम्बन या प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) दिखाकर और द्वितीय, उनकी भाषागत अभिव्यक्ति के धरातल पर :—

(1) मनुआँ राम-नाम रस पीवै (कबीर)
(2) दुलहिनी गावौ मंगलचार (कबीर)
(3) हे री मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जाने कोय (मीरा)
(4) सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचिविलास ।
क्षुद्र हैं मेरे बुद् बुद प्राण
तुम्ही में सृष्टि तुम्हीं में नाश ।। (महादेवी)
(5) लिखा पढ़ा की है नहीं
देखमदेखी बात ।
दूल्हा दुलहिन मिलि गए
फीकी परी बरात ।। (कबीर)

भक्त कवियों—सूर, तुलसी आदि के आध्यात्मिक आभासों (इष्टरूपदर्शन, मिलन-विरह के गीत आदि) को भी रहस्यमय अनुभवों में ही रखना होगा क्योंकि साकार ब्रह्म की उपासना में भी, आंतरिक या काल्पनिक साक्षात्कार रहस्यमय ही होते हैं । इसी प्रकार नवरहस्यवादी आधुनिक कवियों के आत्यन्तिक अनुभवों को भी इसी रहस्यवादी कोटि में रखना होगा क्योंकि 'आँगन के पार द्वार' (अज्ञेय) शून्यपुरुष और वस्तुएँ (वीरेन्द्र कुमार जैन) 'स्वर्णकिरण-स्वर्णधूलि' (सुमित्रानन्दन पन्त) जैसे आधुनिकयुगीन काव्य संग्रहों और अमृता भारती जैसी कवयित्रियों की रचनाओं में भी पारम्परिक रहस्यवाद का ही सिलसिला है, जिनमें वास्तविकता से असंतुष्ट या अतिक्रांत मानव-चेतना की ही उड़ानें या आभास हैं ।

इस सम्पूर्ण सृजन में यथार्थातीत होने का दावा करने पर भी, वास्तविक जीवन, प्रकृति, सामाजिक-वैयक्तिक अनुभवों और सम्बन्धों की ही प्रतिच्छाया प्रमाणित होती है । उदाहरण के लिए कबीर, मीरा, सूर, तुलसी, सभी कवि सांसारिक भाषा और अप्रस्तुतों (रूपक, बिंब, प्रतीक, मिथक) द्वारा ही अपने अमूर्त्त अनुभवों को प्रकट करते हैं । उपर्युक्त उदाहरणों में 'रस', 'दुलहिन', 'दिवानी',

‘दर्द’, ‘सिन्धु’ ‘वीचि’, ‘बुद्बुद’, ‘सृष्टि’, ‘नाश’, ‘बरात’ आदि प्रत्यय यथार्थपरक हैं। चेतना की दिक्-कालातीत उड़ानों या साक्षात्कारों में वस्तुत: दिक् और काल के भीतर वास्तविक जीवन का ही आभास दिखाई पड़ता है। कल्पना, जो चेतना के भीतर छायाभास या फैंटेसी खड़ी करती है, उसमें भी वास्तविक जीवन के सदृश या विपरीत रंग और रूप उभरते हैं। कल्पित जीवन में दीर्घनिमग्नता से यह भ्रम होता है कि वाह्य संसार नहीं है या कि दिक् और काल नहीं है, पदार्थ और उसके परिणाम नहीं हैं, भाषा और ऐन्द्रियता नहीं है। ‘आत्मरमण’ की इस अनुभव दशा में यह जो यथार्थातीत हो जाने का अनुभव होता है, वह इसलिए होता है क्योंकि वास्तविक जगत में सापेक्षता है अत: निरपेक्षता की ओर मन जाता है। इस तरह सोचने पर रहस्यवादी अनुभवों में प्राकृतिक ही अतिप्राकृतिक बन जाता है। मसलन् सीमानुभूति से असीमानुभूति, सापेक्ष से निरपेक्षता, स्थूल से सूक्ष्मता, जीवन्त और सक्रिय से शून्यता, गति से अगति या गत्यातिक्रमण, रूप से अरूप, अरूप से रूप, और दिक्-काल से दिक्कालातीतता का भान होता है। लौकिक भाषा इस प्रक्षेपित सत्ता (प्रोजैक्टेड रियलिटी) को संकेतों या प्रतीकों से व्यक्त करती है। लेकिन ये संकेत और प्रतीक वास्तविक जीवन संदर्भ में अर्थ पाते हैं। आध्यात्मिक संकेतों या प्रतीकों से पूर्वजीवित या अनुभूत सन्दर्भ स्मृति में अवतरित होते हैं और कल्पना की सक्रिय दशा में यथार्थ जीवन के द्वन्द्वों से दूरी के कारण प्रतीत यह होता है कि हम निर्द्वन्द्व होकर किन्हीं अलौकिक सत्ताओं, रूपों, रंगों, स्पन्दनों, अनुभवों, भावनाओं आदि का साक्षात्कार कर रहे हैं।

बुद्धि की कार्यकारणपरक भूमिका स्थगित करते ही, रहस्यवादियों की चेतना कष्टातीत स्थिति में पूर्वदर्शित अनुभूत चीजों को ही देखती है। यों उस समय जान यह पड़ता है कि वह ‘दिव्यजगत’, कार्यकारणातीत अलौकिक धरातल है।

मिथक भी, यथार्थ जीवन, प्रकृति और सम्बन्धों के संसार के प्रत्यक्षीकरण से बनते हैं। उदाहरणत: हिल्लोलित समुद्र में धूप-छाया की आँखमिचौनी के समय, उत्तुंग लहरें सचमुच शेषनाग की नागिनों जैसी लगती हैं और लहरों के हिलते आसन पर सोए हुए विष्णु-लक्ष्मी की कल्पना जाग्रत होती है। मनुष्य की चेतना, सर्वाधिक प्रभावित मानवता से ही होती है। अत: वह परिदृश्यमान् और अनुमानित कल्पित सत्ताओं का भी मानवीकरण करती है। मनुष्य ने पुराणों के देवताओं-असुरों की कल्पना में अपने जीवन का ही प्रक्षेपण किया है। मात्र अतिरंजना से यह सिद्ध नहीं होता कि मिथक का मूल, मानवता में नहीं, दिव्यदर्शन में है। जिसे ‘दिव्यदर्शन’ कहा जाता है, वह ‘दिव्य’ इसलिए लगता है कि वस्तुओं और जीवन में, जो सर्वत्र प्राकृतिक, निश्चित, परिबद्ध कारणकार्यपरक सम्बन्ध है, वह कल्पना की क्रीड़ा में विच्छिन्न हो जाता है और मनुष्य, अपने वास्तविक जीवन की बद्धताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए मानसिक, ऐच्छिक या काल्पनिक आस्फालन करता है और

देवमण्डल, असुर-राक्षस-लोक, अवतार-पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि की अपनी कल्पना से रचना करता है, उनमें जीवन के अनुभव, मर्म और मूल्य भरता है और फिर उनसे चमत्कृत होकर प्रेरणा लेता है या उन्हें कला और साहित्य में प्रयुक्त कर युगानरूप अर्थवत्ताएँ ढूँढता है।

यह मिथक-संसार भी भाषाबद्ध है और महाभारत, रामायण तथा अन्य पुराणों के आद्यबिम्बों या मिथक कथाओं और पात्रों को लेकर बुनी गई रचनाओं के नैरन्तर्य, और युगानुरूप उनकी नवअर्थवाहिनी भंगिमाओं से यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि भाषा और मिथकीय यथार्थ अथवा भ्रम में यथार्थबोध का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। मसलन् सूरदास ने जो मनोराज्य रचा है, उसमें मानव के स्वच्छन्द जीवन की परिकल्पना है, जहाँ सम्बन्ध और मर्यादाएँ स्थगित हैं, केवल चेतनाविलास का मनोगत राज्य है। आदिम साम्यवादी कबीलों में प्रचलित, स्वतंत्रता और साम्य, मुक्तता और ममता ही, नागरिक जीवन के द्वन्द्वग्रस्त, आत्मनिर्वासित (एलियनेटेड) व्यक्तिनिष्ठ, विषम और विग्रहग्रस्त अस्तित्त्व के विरोध या विपरीतता में दिव्य प्रतीत होने लगती है।

भाषा का स्वभाव और कार्य रूप को स्मृति में लाना है। जब कबीर को सर्वत्र अपने 'लाल' की 'लाली' दिखाई पड़ती है तो पूर्वदर्शित लालों की लालिमाएँ ही कल्पना में विशदीकृत होकर सर्वत्र दिखाई पड़ने लगती हैं और प्राकृतिक संसार की कुरूपताएँ और जुगुप्साएँ अवचेतन से अदृश्य सी हो जाती हैं। चारों तरफ सुनहला रंग बरसते देखकर कबीर किलक उठता है।

भाषा मानव अनुभव का शब्दमय रूप है अतः भाषा सर्वत्र पूर्वानुभव को चेतना में साकार करती है। निराकार या अमूर्त्त की अनुभूति, अनुमान या आभास, साकार, ठोस, रंगरूपमय वास्तविक जीवन के कारण होता है। अतः केवल बिम्ब ही रूप खड़ा नहीं करते, भाषा का प्रत्येक अवयव प्रतिबिंबक होता है। संज्ञा, सर्वनाम, कारक, और क्रिया सब बिम्बधर्मा होते हैं क्योंकि वे जिसे चेतना में लाते हैं, वे ठोस पदार्थ, प्रक्रियाएँ या सम्बन्ध हैं, जो पूर्वानुभव के कारण स्मृति में कौंधते हैं और अर्थज्ञान हो जाता है। 'पुस्तक' शब्द उतना ही बिम्बधर्मी है जितना 'लाओ' शब्द अथवा 'वह' सर्वनाम या कारक चिह्न (ने, को, से आदि)। पुस्तक कहते ही पुस्तक चेतना में साकार हो जाती है और उसके गुणों का प्रभाव भी महसूस होने लगता है, उसी प्रकार जिस प्रकार 'जल' शब्द कहते ही पानी की मिठास और शीतलता अदि गुण अनुभूत होने लगते हैं।

यह कहा जा सकता है कि समाधि में भाषा के बिना ही साक्षात्कार होता है अथवा निर्द्वन्द्वता, निराकारता और शाँति अनुभूत होती है। यह ठीक है कि भाषाहीन स्थिति में अनुभव हो सकता है, होता है, किन्तु अनुभव की स्मृति, भाषा के द्वारा ही संभव है, क्योंकि समाधि की स्मृति में शब्द ही उस अवाङ्मनसगोचर,

इन्द्रियातीत अनुभव को साकार करता है। भाषा की मानसिक-प्रक्रिया निःशब्द होती है किन्तु अनुभव के शब्दमय बनते ही चेतना में पूर्वदर्शित, पूर्वकृत अनुभवों के सादृश्य या विरोध (कंट्रास्ट) की पद्धति द्वारा निराकार अनुभूति साक्षात्कृत होने लगती है। अतः जो सूक्ष्म यथार्थ है, उसका भी मानसिक-चर्वण भाषा के बिना अज्ञेय और अगम्य ही रहता है। चेतना भाषामय होने पर ही अनुभव-बोध कर सकती है। भाषाहीन अनुभव भी, भाषाबद्ध होकर ही अपनी सत्ता प्रमाणित करते हैं और भाषा, सामाजिक विषय होने के कारण, समाजनिरपेक्ष से प्रतीत होने वाले अनुभवों या भ्रमों में जीवन-यथार्थ का प्रतिध्वनन करती है। भाषा की ध्वनि यथार्थ की ध्वनि है, क्योंकि यथार्थ से ही हम परिचित हैं अतः मिथक का कोई ऐसा स्वरूप अभी तक नहीं मिलता, जिसमें यथार्थ की प्रतिध्वनि न हो।

भाषा और यथार्थ के वास्तविक सम्बन्ध को साधनात्मक साहित्य में सिद्ध कर लेने के पश्चात् मूर्त्त संसार के प्रतिबिम्बक ललित साहित्य और कलाओं में यह सम्बन्ध सरलता से सिद्ध हो जाता है। यदि यथार्थ और भाषा में प्राथमिकता का प्रश्न हो तो यथार्थ ही प्राथमिक महत्त्व की वस्तु है। भाषा यथार्थ के कारण है और उसी को व्यक्त करती है। भाषा के परिवर्तन का अध्ययन यथार्थ के परिवर्तन का अध्ययन है। काव्यभाषा के यथार्थ (काव्यार्थ) को ध्यानवृत्त से बहिष्कृत कर केवल शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, समग्र अध्ययन के लिए एक घटक के विषय में मात्र कुछ सूचनाएं देते हैं। यथार्थ के सन्दर्भ में भाषा का अध्ययन करते समय, ऐसे एकांगी किन्तु विशिष्ट अध्ययन, सामग्री जुटाते हैं, वे काव्य भाषा के विषय में अंतिम मत नहीं दे सकते। अंतिम मत काव्य (यथार्थ) और भाषा अथवा अर्थ या प्रकरण और अभिव्यक्ति के सामग्रिक अध्ययन द्वारा ही निश्चित हो सकता है। व्याकरणिक विश्लेषण अंततोगत्वा सामग्रिक अध्ययनों में सहायक ही होते हैं यों उनकी सामग्री को यथावत् नहीं लिया जा सकता।

वस्तुतः भाषा और यथार्थ का प्रश्न समकालीन साहित्य क्षेत्र में, यथार्थ के परिवर्तन की परिकल्पनाओं से जुड़ा हुआ है। मसलन् परम्परावादी विचारकः सर्जक, आज भी शब्द को ब्रह्म मानते हैं और उनकी योगपरक व्याख्या करते हैं। बैखरी वाणी में परावाणी व्यक्त होती है जो मूलतः अव्याख्येय और अगोचरहै। उसका स्फोट होता है जो स्थूल शब्द में सुनाई पड़ता है। आधुनिक नवयथार्थवादी, विवेक संगत व्याख्या करना चाहते हैं किन्तु सामाजिक-परिवर्तन के क्षेत्र में वे पूर्ण परिवर्तन या उग्र परिवर्तन का समर्थन नहीं करते। नवरहस्यवादी पन्त-अज्ञेय-वीरेन्द्रकुमार जैन, अमृता भारती आदि भी भाषा को साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का माध्यम बना कर प्रयुक्त नहीं करते। वे क्रमशः यथार्थ का अतिक्रमण करते हुए अयथार्थ की भूमिका में पहुँचते हैं, जहाँ निर्द्वन्द्वता है और जहाँ वास्तविक जीवन के व्यक्ति और वर्गसंघर्ष बचकाने, व्यर्थ और भ्रमात्मक प्रतीत होने लगते हैं। यह

सम्भव है कि ऐसे कवि सामाजिक आन्दोलनों के मध्य किसी एक या दूसरे का समर्थन कर दें किन्तु उनकी आत्माएँ यथार्थातीत, वैयक्तिक अनुभूतियों-आभासों में रमती है और उन्हें लगता है कि वे उच्चतर झरोखों से इस निम्नस्तरीय जागतिक प्रपंच को ताक और भोग रहे हैं। यह भी नहीं है कि इनमें वास्तविक मानव-यथार्थ की झलकें न मिलें, अमृता भारती और वीरेन्द्र कुमार जैन तो उग्र परिवर्तन के भी समर्थक हैं, किन्तु अपनी मनोगतता अथवा अपने निजी विश्वबोध के कारण यथार्थ से सीधे नहीं टकराते।

अकवि समझते हैं कि अस्तित्त्वगत पारदर्शिता, वैयक्तिक अहं, स्वच्छन्दता और तोड़फोड़ से मनुष्य यातनामुक्त हो सकता वे। यथार्थ की यह समझ अकवियों को उद्धत, अजीब और अराजक बनाती है। उन्हें सामाजिक यथार्थ के प्रति निराशा और समानान्तरता की ओर ले जाती हैं। अतएव उनकी काव्यभाषा भी उद्धत, अश्लील, निषेधपरक और नग्न है, वीभत्स भी। मानवयथार्थ की वीभत्सता दिखा कर वे, झटके की पद्धति से, उसमें विद्रोह जगाना चाहते हैं, जिसकी परिणति किसी सामाजिक कर्म या संघर्ष में नहीं होती, आदिम धरातलों पर उतरकर आत्मविस्मृति और अन्त में आत्मविनाश में होती है। मनुष्य का बौद्धिक रूप गायब होकर चेतन पर अचेतन का उच्छृंखल शासन हो जाता है और ध्यान में सिर्फ अपनी विचलनजन्य थ्रिलों और थरथराहटों का ही संस्कार उनके सृजन में रह जाता है। बौद्धिक आलोक, कार्यकारण-परम्परा और मूल्यगत लगाव स्थगित होते चलने से, अन्त में एक शिथिलेन्द्रिय व्यक्ति रह जाता है जो निराशाओं में ध्वंस की धुनें सुनाता रहता है।

अकविता की भाषा में बोलता यही यथार्थ है, जिसकी पहचान के बिना अकवियों की काव्यभाषा में मात्र भाषागत प्रयोगशीलता मिलेगी। प्रयोग, रचनाकार के सचेत या अचेत प्रयोजनों, दृष्टियों या मनोगतियों के परिणाम होते हैं।

सप्तम दशक में उभरे अन्य व्यवस्था-विरोधी कवियों की काव्य भाषा में बढ़ते दुहराव का कारण रचनाकारों का, सामाजिक संघर्ष से कट कर अलग रहना है। विद्रोह की वाणियाँ बिलों से आ रही हैं, सुसज्जित कक्षों से, कुर्सियों पर जमी, सुखी शख्सियतों से। आक्रोश और वर्गघृणा का चाप क्रमशः चढ़ता नहीं जान पड़ता; उसके आरोह और अवरोह बहुत साफ़-साफ़ दिखाई पड़ते हैं। परिवर्तक शक्तियों की दुर्बलता या दिग्भ्रम से लेखकों का अधिकांश हिस्सा, हिरावल में नहीं, अपने सुखद नीड़ में तूफान की प्रतीक्षा करता है। अतः उसकी मनोगतता निरंकुश, निराश और व्यक्तिग्रस्त हो जाती है।

समकालीन काव्यभाषा की मनमानी फलाँगों, फंतासियों, शब्दअपव्ययों अर्थहीनताओं और सपाटबयानियों का एक यह भी कारण है, और भी कारण हैं। कवि जिसे यथार्थ में चाहता है, यदि वह नहीं हो रहा है तो उसकी कल्पना में निमग्न तो रहा ही जा सकता है और यथास्थितिजन्य वेदना का अनुभव भी होता रह सकता है।

क्या कारण है कि चे गुवेवारा के गद्य में पारदर्शिता है, नपातुलापन है, एक दूसरे से गँसे हुए शब्द हैं ? कारण यह है कि चे गुवेवारा का गद्य उनके कार्यबद्ध जीवन से जन्मा है। एक संघर्षशील व्यक्ति के संघर्ष और कल्पना-निमग्न व्यक्ति की मानसिकताओं में बहुत अन्तर होता है। यही अन्तर उनकी रचनाओं में भासता है। औसत लेखक के सृजन में जो आज एक असहायता और अपराधभाव है, वह संघर्षशील शक्तियों या व्यक्तियों की कमजोरी के कारण है। प्रबल सामाजिक प्रतिरोध अपने प्रवाह में मनोजीवी व्यक्तियों को स्वतः समेटता है, यथा राष्ट्रीय आन्दोलन में।

वामपंथी शक्तियों के विभाजन और विखण्डन से आठवें दशक के पिछले वर्षों में मुद्दा आपात्कालीन संकटों को दूर करने का हो गया था, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया में जन्मे 'जनता आन्दोलन' को आपसी बिखराव और परस्परविरोधी विचारधाराओं से, सफल होने का अवसर नहीं मिला। इस स्वतंत्रता और जनतंत्री व्यवस्था और पद्धति की रक्षा के संघर्ष में सप्तम दशक के अन्त में उग्रता के साथ अनुभूत मुद्दा, संरचनात्मक मूल परिवर्तन का ज्वलन्त प्रश्न, गौणता पा गया है। अतएव आठवें दशक की काव्यभाषा में वह ज्वार नहीं रहा जो 1965 के बाद कविता में आया था। जनपक्षधरता की बुनियाद पर तानाशाही और साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध डट कर लड़ाई साहित्यिक पत्रकारिता द्वारा नहीं लड़ी गई। उसका व्यवस्था-विरोध कायम है पर वह अमूर्त्त और अस्पष्ट है, उत्साहहीन भी।

विद्रोह-क्रान्ति के समर्थकों का साहित्य, साहित्यिक-प्रतिष्ठान का अंग बनकर प्रतिष्ठित हो गया है और यही उसके दब्बूपन और अवरोह का कारण है। सृजन की भाषा की तेजस्विता को इससे हानि पहुँची है। कलाकौशल में पूर्ववर्ती 'नई कविता' के कवियों को पछाड़ देने के व्यसन में नवप्रगतिशील कई कवियों की अनेक कविताओं में लोकसंघर्ष नहीं, लोक की छवियाँ या परिदृश्य अधिक हैं। इससे सौन्दर्यबोध बढ़ता है, लेकिन समकालीन संघर्षशील कविता की भाषा में जीवन-संघर्ष का वह अटपटापन या अनगढ़पन क्यों नहीं है, जो सप्तम दशक के प्रारम्भ, मध्यम और अन्त में तीव्रता से उभरा था ?

यथार्थ के चित्रकर्मी कवि में यथार्थ की गतिशील तस्वीर व्यक्ति या घटनाओं के चित्रण के माध्यम से उभरती है, मात्र मनोगतता की प्रतिध्वनियों के प्रसार से नहीं। कविता में सूक्ष्म सामूहिक अहसासों को, अपने माध्यम से बिम्बित करना ज़रूरी है, लेकिन उससे भी अधिक ज़रूरी है कि कविता को निरवलम्ब या मात्र आत्म-उत्खनन तक सीमित करने के स्थान पर, यथार्थ मानव और उसकी वैयक्तिक और सामूहिक गतिशीलताओं को पकड़ा जाए। यह मात्र 'मोचीराम' की तरह व्यंग्य या विद्रूप से नहीं हो सकता। यह यथार्थ-मानव के साक्षात् बोध या जीवन संघर्ष और सामाजिक संघर्ष में मग्न व्यक्ति के पर्यवेक्षण या सहभागिता से हो सकता है।

भाषा के पोलेपन, तरलता, उड़ाऊपन और अमूर्त्तन एवम् वाक्छल के यही कारण हैं। कथा साहित्य में भाषा यथार्थ से सीधे जुड़ी हुई है। किन्तु यहाँ भी यथार्थ की परिकल्पना निर्णायक भूमिका अदा करती है! जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर' की भाषा यथार्थ पर पड़े भ्रम का विदारण करती है जबकि 'ययाति' की भाषा क्लासिक स्थिरता के साथ स्थितियों का बखान करती है।

'नगर पुत्र हँसता है' (धर्मेन्द्र गुप्त) के लेखक एक प्रत्यक्षवेधक भाषा का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें तीक्ष्णता के साथ प्रचलित व्यवस्था, जिसमें सम्बन्धों का पुरानापन भी शामिल है, को अनावृत करना है, अतएव लहजा आक्रोशी है। 'गोबर गणेश' (रमेश चन्द्र शाह) में भी उच्चाटक भंगिमा है। दोनों उपन्यास यथार्थ से परदा उठाते हैं और दोनों के नायक संघर्षशील हैं, जो अन्त में कहीं नहीं पहुँचाते। लेकिन दोनों उपन्यासों में जो आसपास चल रहा है, व्यक्ति के विकास की जो समस्या है उसकी चुनौती का सामना करने के कारण भाषा पारदर्शी है। फिर भी सवाल उठता है कि धर्मेन्द्र गुप्त के उपन्यास में भाषा का तेवर लड़ाकू क्यों है जबकि रमेश चन्द्र शाह के उपन्यास में चुटीली भाषा नहीं है?

इसका कारण यह है कि लेखकों का यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण, रचना और भाषा का रूपनिर्धारक होता हैं। यदि दृष्टि नहीं है तो भाषा का निर्धारण कोई मनोदशा करेगी। 'नगर पुत्र हँसता है' में लेखकीय दृष्टि एक विद्रोही की है जो सामाजिक-राजनैतिक संरचना और तज्जन्य जीवन-पद्धतियों का विरोधी है। इसके विपरीत रमेश चन्द्र शाह में कोई सामाजिक-दृष्टि नहीं है, परिवर्त्तन का कोई इरादा लेकर, उस परिवर्त्तन की बेचैनी और बोध में जीता हुआ नायक यहाँ नहीं है। यहाँ, अपने विकास का संघर्ष है और वैयक्तिक प्रामाणिकता पारदर्शिता की कशमकश हैं। इन दो भिन्न दृष्टियों या एप्रोचों के कारण, दोनों उपन्यासों की भाषा में अन्तर आया है।

प्रेमचन्द भाषा की बुनावट की जगह क्यों सर्वदा, सर्वत्र, कथ्य या वर्ण्य पर निगाह टिकाए रखते हैं? क्योंकि उन्हें यथार्थ का चित्र देना था, चित्र के लिए यथार्थ का अयथार्थीकरण या यथार्थ का विकृतीकरण उन्हें प्रिय नहीं था। अतः उनकी यथार्थवादी रचनाएँ, यथार्थ की शक्ति के कारण प्रतीकात्मक महत्व धारण कर लेती हैं। भाषा की यथार्थ-प्रतिबिम्बक भूमिका इस कार्य में सहायता करती है। प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी' एक यथार्थवादी रचना है किन्तु जीवन्त यथार्थ की सफल कृति होने के कारण वह आज भी व्यसन और मूल्य के सनातन संघर्ष में व्यसनप्रिय व्यक्ति के पतन की प्रतीक बन जाती है। यथार्थवाद को स्थायी महत्व स्वतः मिल जाता है यदि लेखक यथार्थ के अंकन में, अतिरंजना या अतिकल्पना को अलग रखकर, जीवन-वास्तविकता के किसी भास्वर अंश का यथावत् अंकन करे।

कई विशेषज्ञ, कथा कहने के ढंग को, यथार्थ के चित्रण में बाधक मानते हैं। वह प्रेमचन्द के 'नैरेशन' की पारम्परिक विधि को अनाधुनिक मानते हैं, किन्तु क्या

कारण है कि कई आधुनिक प्रयोगों की कृतियाँ, कुछ समय ध्यान खींच कर अस्त हो जाती हैं और कई यथार्थवादी रचनाएं अपनी यथार्थदिग्दर्शक शक्ति के कारण, सर्वदा के लिए प्रतीकत्त्व प्राप्त कर लेती हैं ! भाषा की अनमोल नृत्य-कुशलता और नवीनता, जीवन यथार्थ के प्रति उपेक्षा या अमूर्त्तन से, मांसमज्जाहीन, शब्दरंगशाला सी लगने लगती है और अयथार्थता के कारण ऐसी आधुनिक किस्म की रचनाएं सिर्फ चकित करती हैं, प्रभावित नहीं करतीं; न बाद में उन्हें कोई पढ़ना चाहता है ।

अज्ञेय रच-रच कर शब्द निर्माण करते हैं । इस मामले में वह नई कविता के पूरे नन्ददास या केशव हैं, किन्तु सूरदास, नन्ददास से और तुलसी केशव से बड़े कवि हैं । भाषा को, जीवन्त भाषा के करीब बनाये रखने के लिए सूर-तुलसी जनभाषा के मुहावरों, वाक्यांशों, और लहजों को नया विन्यास देकर प्रयुक्त करते हैं । यह सामर्थ्य नन्ददास और केशव में कम है ।

इसी तरह मुक्तिबोध की भाषा बौद्धिक भाषा का ऐसा रूप है, जिसमें अनगढ़ता, अटपटापन है । उसे कला से चिकना नहीं बनाया गया । मुक्तिबोध अपनी परिवर्त्तनकारी, क्रांतिकारी चेतना के अंतर्द्वन्द्वों, बेचैनियों, यथार्थबोध की जटिलताओं, सामाजिक-वैयक्तिक आकांक्षाओं और अर्थों के ऊहापोहों को यथावत् प्रस्तुत करने के लिए पुस्तकीय-गैरपुस्तकीय शब्दों का मिश्रण तैयार करते हैं । वहाँ यथार्थ का बोध ही नहीं, उसका भय भी है । सामन्ती-पूंजीवादी समाज में, व्यक्ति को, मुक्तिबोध के दीमक और पक्षीवाली कहानी के पक्षी की तरह भोजन के लिए अपने पंख देने पड़ते हैं; व्यक्तित्व के विकास, का मात्र अस्तित्वधारण के लिए बलिदान करना पड़ता है । यह भयंकर स्थिति है ।

इस कटु यथार्थ के भय को, व्यवस्था से विकृत व्यक्तियों की क्रूरताओं के भय को मुक्तिबोधीय फंतासी और परिदृश्यचित्रण की भाषा ही प्रकट कर सकती थी, जो साधन है, साध्य नहीं । भाषा साध्य वहाँ होती है, जहाँ मात्र 'रूप' का या मात्र मनोगतता का चित्रण होता है जैसे, कलावादियों की भाषा में । आस्कर वाइल्ड की भाषा (नाटकों को छोड़कर) संघर्षशील मनोदशाओं, उग्र संवेगों और आत्म-द्वन्द्वों का सामना नहीं कर सकती, क्योंकि—द्वन्द्वात्मक भाषा में, शब्द संघर्ष के क्षेत्रों से लेने पड़ते हैं और अकोमल, जानलेवा सामाजिक यथार्थ को अंकित करने के लिए चिकनी, बनी-ठनी और तरल भाषा काम नहीं दे सकती ।

बौद्धिक भाषा ('एलीट' की भाषा) में कविता लिखते समय मुक्तिबोध ने बीच-बीच में उसे तोड़ा है और सहज बोलचाल की भाषा से बाँधा है—यहाँ तक कि एक ही पंक्ति में एक शब्द बौद्धिक है, एक प्रचलित—"ऐसी ट्रैजडी है नीच"।

अज्ञेय आसपास के बोले जाने वाले मुहावरे से बचकर, प्रबुद्ध-मुहावरा रचते हैं जबकि मुक्तिबोध प्रबुद्ध मुहावरे के साथ पूरी मनमानी करते हैं । उसे कवितात्मक

न बना कर कथ्य या वर्ण्य का माध्यम बनाने के लिए ईंट-रोड़ों का अप्रत्याशित स्थापत्य आजमाते हैं।

अज्ञेय की सूत्रात्मक शैली में तत्त्ववेत्ता का अनुकरण रहता है, जबकि धूमिल की भाषा के सूत्र यथार्थबोधक हैं। अतः सूत्रात्मकता अपने में महत्वपूर्ण नहीं है। वह सही जीवन-यथार्थ के बोध के कारण महत्व पाती है। वास्तविक जीवन-संघर्ष में धूमिल और जगूड़ी के कवितात्मक सूत्र प्रासंगिक लगते हैं, किन्तु अज्ञेय के परम विशिष्ट, दूरदराज के प्रतीत होते हैं। अज्ञेय समाज के केन्द्रीय अन्तर्विरोध को नजरन्दाज कर, अपनी निजी अनुचिन्तनात्मकता में उतरते-उड़ते हैं। अतः वह आकर्षक तो लगते हैं पर प्रभावक नहीं। भाषा की अदाबाजी सम्मोहित कर सकती है पर वह मनुष्य को मुक्त नहीं कर सकती। अतएव अभाव, शोषण, अन्याय और वैषम्य से मुक्तिदात्री भाषा, यथास्थिति-रक्षक भाषा से भिन्न होती है। यहां भी यथार्थ के प्रति दृष्टि, तज्जन्य सृष्टि और उसकी भाषा का नियमन करती है।

कुन्तक ने भाषा का सम्बन्ध कृतिकारों के स्वभाव से जोड़ा था। स्वभाव, विचारों से बदल जाते हैं लेकिन बहुतों के नहीं भी बदलते या वे स्वभाव-रक्षा के लिए विचार और चिंतन से अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। मसलन् गीतकारों में अधिकांशतः स्वभाव की मृदुलता मिलती है। गीतात्मक प्रकृति गीति और गीत की सृष्टि करती है। भाषा भी इसी कारण गीतात्मक हो जाती है जो केवल कोमल भावनाओं को को ही वहन कर पाती है। इसके विपरीत अहंवादी रचनाकारों की भाषा में ऐंठन और ग्रंथिपरकता दिखाई पड़ती है।

अवांछनीय-अमानवीय सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ के कारण अधिकांशतः लोग दुःखी हैं। अतएव उनका पक्ष लेकर, यानी जनकरुणा या जन सहानुभूति के कारण लिखे गये लेखन की भाषा, विश्लेषक, उच्चाटक, विद्रूपकारिणी और विरूपाक्ष होगी। वह यथार्थ के केवल सुन्दर पक्षों तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि वह असौन्दर्य और अन्याय के आधिक्य के कारण सुन्दर के चित्रण को परिवर्त्तन की चेतना के जागरण में बाधक मानती है। इसीलिए रोमानी भाषा अप्रासंगिक हो गई। यथार्थ को चुटीले लेकिन अन्तर्विरोध-बोधक रंग के साथ पेश करना आज एक आवश्यकता है। और इस कार्य में यथार्थवादी भाषा ही उपयुक्त हो सकती है।

यथार्थपरक भाषा वहाँ है, जहाँ थाना-अदालत हैं, व्यापार-बाज़ार हैं, खेत-खलिहान हैं। जीवन के दबाव से जनसमूह में लाखों नए शब्दविन्यास होते हैं किन्तु उन्हें पकड़ने वाले कम हैं। अतः वे अपनी शब्द-संरचना से काम चलाते हैं और वैयक्तिकता की सीमाओं के कारण उनका कथ्य सम्प्रेषित नहीं हो पाता अथवा वह 'समान धर्मिओं' तक सीमित रह जाता है।

अतएव, मेरी समझ से, बौद्धिकों और अबौद्धिकों को, भाषा के एक धरातल पर जो लेखक मिला सकता है अर्थात् जिसकी सृजनभाषा में इस खाई को भरने की जितनी अधिक क्षमता होती है, वह उतना ही अधिक सार्थक लेखक हो जाता है। भक्त कवियों में यह शक्ति बहुत अधिक थी। प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में रास्ता दिखाया था। मुक्तिबोध बौद्धिकों के कवि हैं, किन्तु धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, भवानी प्रसाद मिश्र और अनेक कवि-लेखक हैं, जिनकी भाषा एक साथ बौद्धिकों और अबौद्धिकों दोनों को प्रभावित करती हैं और वे व्यापक रूप में सम्प्रेषित हो पाये हैं।

इस प्रकार, भाषा और यथार्थ के समाधान में हमें यथार्थ को समझ कर तब भाषा को समझना होगा।

आत्मालोचन

अवधारणात्मक-क्षेत्र में, अवधारणाओं की आपसी टकराहट से, जो उलझनें, बोध की अयुक्तताएँ (गलत फहमियाँ) और मंतव्य-आखेटें (मोटिव-हंटिंग) हुई हैं, उससे मुझे यह क्रमशः प्रतीत हो रहा है कि "धारणाओं का विज्ञान" (कन्सैप्टोलॉजी) जैसा कोई शीर्षक देकर, धारणाओं-अवधारणाओं की तत्वमीमांसा हो। यह अभी तक दर्शन में तत्वमीमांसा (फिनौमेनोलॉजी और इपिस्टोमोलॉजी) के क्षेत्र में होता आया है, हो रहा है किन्तु वहाँ साहित्य से सम्बन्धित धारणाओं के आपसी संघर्ष और समाधानों पर प्रायः विचार नहीं होता अतएव मैं अक्सर सोचता हूँ कि साहित्य की आलोचना के क्षेत्र के स्तर, बौद्धिक चेतना और बोध (अण्डर स्टैंडिंग) के गम्भीर प्रश्न और चुनौती को, अवधारणा-विज्ञान या "धारणा-शास्त्र" के साथ जोड़ कर ही आलोचना को निन्दा-स्तुति और उस साम्प्रदायिकता से बचा सकते हैं जो इस समय बढ़ रही है।

मानव-विकास के प्रारम्भ से ही, जिज्ञासा-समाधान, और जीवन-संघर्ष को सफल बनाने के लिए भौतिकवाद और अधिचेतनावाद (अध्यात्मवाद : प्रत्ययवाद : आदर्शवाद) चले आ रहे हैं। अध्यात्मवादी, धार्मिक-आवेश में भौतिकवाद की प्रायः ग़लत व्याख्या करके उसे भोगवाद (हेडोनिज्म) का पर्याय मान लेते हैं अथवा उसे "बुद्धि" तक सीमित कह कर, "आत्मा" की दिव्य-अनुभूतियों, अमूर्त-उड़ानों या मिथकीय संसारों के भ्रमणों में मग्न होकर; देशकालातीत से प्रतीत होने वाले रहस्यमय अनुभवों का सम्बन्ध दर्शन से रहने देते हैं, शेष को माया या भ्रम घोषित कर देते हैं। इस दृष्टि से भौतिकवाद या वस्तु जगत् के वैज्ञानिक-बौद्धिक बोध को अध्यात्मवादी, जड़वाद कह कर उसकी निन्दा करते हैं।

लेकिन जब हम सी. एच. व्हिटले की "अधिदर्शन की भूमिका" (एन. इंट्रोक्शन टू मैटाफिजिक्स) जैसी पुस्तक पढ़ते हैं तब हमें लगता है, "धारणा-शास्त्र", हमारे चिन्तन-क्षेत्र में बहुत सहायता कर सकता है, क्योंकि धारणाओं के विषय में अस्पष्टता अथवा उनके क्षेत्रनिर्धारण की सर्वदा आवश्यकता महसूस होती है। ऐसा न होने पर आज जो, दक्षिण और वाम, दोनों शिविरों में मध्यकालीन प्रकार की नृशंस-असहिष्णुताओं का जन्म हो गया है, वह और बढ़ेगीं और विचार के क्षेत्र में भी, सिर्फ वैचारिक मतभेद के लिए हत्याएँ होंगीं, दरअसल, यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है।

“आत्मालोचन” की ही धारणा लें। “आत्म” शब्द की वैज्ञानिक भौतिकवादी व्याख्या करने वाले हम लोग यानी वामपंथी विचारक, “आत्म” को चेतना कहते हैं और जीवन-संघर्ष में उसके विकास का अध्ययन करते हैं। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक-विकास के ठोस सन्दर्भ में, मानव चेतना के विकास का, उसकी द्वन्द्वात्मकताओं और संगतियों का अध्ययन किया था और हमें इस विधि से अध्ययन करने की प्रेरणा दी थी, उसका एक प्रारूप (मॉडल) भी दिया था, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद में देखा जा सकता है। अतः हम “आत्म”, तथा विशुद्ध आत्मगत माने जाने वाले अनुभवों को निरपेक्ष रूप में न समझकर उन्हें विशिष्ट, निश्चित, पूर्व प्रदत्त वास्तविक जीवन-सन्दर्भों-सामाजिक-प्रसंगों में समझने का आग्रह करते हैं ताकि धारणा और धारणा-स्रोतों का सम्बन्ध टूट न जाए।

इसके विपरीत, अध्यात्मवादी, आत्मा को सर्व तंत्र स्वतंत्र, निरपेक्ष, दिव्य सत्ता मानकर, उसकी स्वच्छन्द-गतियों की समझ के लिए मात्र अन्तरावलोकन को ही पर्याप्त मानते हैं, वैज्ञानिक या समाजवैज्ञानिक प्रविधियों को नहीं अतः हमें अपनी “आत्मा” या चेतना यदि संघर्षशील, द्वन्द्वात्मक और संगति की खोज में सतत् सक्रिय लगती है तो डा० चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर को यह मिथ्या प्रतीति होती है कि उपाध्याय जी में “आत्म विभाजन” है (“धर्मयुग” 31 मार्च, 1979 में प्रकाशित लेख)।

आत्मालोचन के लिए सदैव प्रस्तुत, किसी सचेत द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से सोचने वाले व्यक्ति के लिए “आत्मविभाजन” एक मानसिक रोग है, एक असामान्यता है जो “शीजोफ्रीनिक” व्यक्तियों में पाई जाती है लेकिन यदि मुझ में अपने संशयों : द्वन्द्वों को तटस्थ होकर देखने और किसी भूल को शुद्ध करने की चेतना है तो वहाँ आत्मविभाजन शब्द का प्रयोग ही अयुक्त हो जायेगा क्योंकि जहाँ व्यक्ति के मनोविज्ञान या मानसिक संरचण में, रुक कर अपनी चेतना को देखने की बुद्धि है, वहाँ संगति की खोज जारी रहेगी अतएव “आत्मविभाजन” या तो अध्यात्मवादियों में सम्भव है या फिर मानसिक रोगियों में। अर्थात् आत्मविभाजन के शिकार चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर हैं जो ज्ञात-अज्ञात रूप से अध्यात्मवाद और पूंजीवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं।

आत्मविभाजन तो वहीं हो गया, जब आपने “आत्म” को उस जीवन-संदर्भ से निरपेक्ष कर दिया, जिसमें वह विकसित होता है। जीवन और समाज के विना “आत्म” की कल्पना धार्मिक अंधविश्वास है जो मिथ्याचेतना (फ़ाल्स काँशसनैस) का परिणाम है।

दूसरी ओर डा० हरदयाल जैसे समीक्षक और साहित्य-शिक्षक, सपाटता के शिकार हो जाते हैं जो मानव चेतना की सूक्ष्म गतियों, गूढ़ मनोदशाओं (डैप्थ-साइक्लोजी) और बारीक द्वन्द्वों को, सर्वत्र वर्गीय मान लेते हैं। “समीक्षा” (डा० गोपाल राय, पटना) के सितम्बर 1979 के अंक में मेरे काव्य संग्रह “कबंध” की

आत्मालोचन

अवधारणात्मक-क्षेत्र में, अवधारणाओं की आपसी टकराहट से, जो उलझनें, बोध की अयुक्तताएँ (गलत फहमियाँ) और मंतव्य-आखेटें (मोटिव-हंटिंग) हुई हैं, उससे मुझे यह क्रमशः प्रतीत हो रहा है कि "धारणाओं का विज्ञान" (कन्सैप्टोलॉजी) जैसा कोई शीर्षक देकर, धारणाओं-अवधारणाओं की तत्वमीमांसा हो। यह अभी तक दर्शन में तत्वमीमांसा (फिनौमेनोलॉजी और इपिस्टोमोलॉजी) के क्षेत्र में होता आया है, हो रहा है किन्तु वहाँ साहित्य से सम्बन्धित धारणाओं के आपसी संघर्ष और समाधानों पर प्रायः विचार नहीं होता अतएव मैं अक्सर सोचता हूँ कि साहित्य की आलोचना के क्षेत्र के स्तर, बौद्धिक चेतना और बोध (अण्डर स्टैंडिंग) के गम्भीर प्रश्न और चुनौती को, अवधारणा-विज्ञान या "धारणा-शास्त्र" के साथ जोड़ कर ही आलोचना को निन्दा-स्तुति और उस साम्प्रदायिकता से बचा सकते हैं जो इस समय बढ़ रही है।

मानव-विकास के प्रारम्भ से ही, जिज्ञासा-समाधान, और जीवन-संघर्ष को सफल बनाने के लिए भौतिकवाद और अधिचेतनावाद (अध्यात्मवाद : प्रत्ययवाद : आदर्शवाद) चले आ रहे हैं। अध्यात्मवादी, धार्मिक-आवेश में भौतिकवाद की प्रायः गलत व्याख्या करके उसे भोगवाद (हेडोनिज्म) का पर्याय मान लेते हैं अथवा उसे "बुद्धि" तक सीमित कह कर, "आत्मा" की दिव्य-अनुभूतियों, अमूर्त-उड़ानों या मिथकीय संसारों के भ्रमणों में मग्न होकर; देशकालातीत से प्रतीत होने वाले रहस्यमय अनुभवों का सम्बन्ध दर्शन से रहने देते हैं, शेष को माया या भ्रम घोषित कर देते हैं। इस दृष्टि से भौतिकवाद या वस्तु जगत् के वैज्ञानिक-बौद्धिक बोध को अध्यात्मवादी, जड़वाद कह कर उसकी निन्दा करते हैं।

लेकिन जब हम सी. एच. व्हिटले की "अधिदर्शन की भूमिका" (एन. इंट्रोक्शन टू मैटाफिजिक्स) जैसी पुस्तक पढ़ते हैं तब हमें लगता है, "धारणा–शास्त्र", हमारे चिन्तन-क्षेत्र में बहुत सहायता कर सकता है, क्योंकि धारणाओं के विषय में अस्पष्टता अथवा उनके क्षेत्रनिर्धारण की सर्वदा आवश्यकता महसूस होती है। ऐसा न होने पर आज जो, दक्षिण और वाम, दोनों शिविरों में मध्यकालीन प्रकार की नृशंस-असहिष्णुताओं का जन्म हो गया है, वह और बढ़ेगीं और विचार के क्षेत्र में भी, सिर्फ वैचारिक मतभेद के लिए हत्याएँ होंगीं, दरअसल, यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है।

"आत्मालोचन" की ही धारणा लें। "आत्म" शब्द की वैज्ञानिक भौतिकवादी व्याख्या करने वाले हम लोग यानी वामपंथी विचारक, "आत्म" को चेतना कहते हैं और जीवन-संघर्ष में उसके विकास का अध्ययन करते हैं। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक-विकास के ठोस सन्दर्भ में, मानव चेतना के विकास का, उसकी द्वन्द्वात्मकताओं और संगतियों का अध्ययन किया था और हमें इस विधि से अध्ययन करने की प्रेरणा दी थी, उसका एक प्रारूप (मॉडल) भी दिया था, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद में देखा जा सकता है। अतः हम "आत्म", तथा विशुद्ध आत्मगत माने जाने वाले अनुभवों को निरपेक्ष रूप में न समझकर उन्हें विशिष्ट, निश्चित, पूर्व प्रदत्त वास्तविक जीवन-सन्दर्भों-सामाजिक-प्रसंगों में समझने का आग्रह करते हैं ताकि धारणा और धारणा-स्रोतों का सम्बन्ध टूट न जाए।

इसके विपरीत, अध्यात्मवादी, आत्मा को सर्व तंत्र स्वतंत्र, निरपेक्ष, दिव्य सत्ता मानकर, उसकी स्वच्छन्द-गतियों की समझ के लिए मात्र अन्तरावलोकन को ही पर्याप्त मानते हैं, वैज्ञानिक या समाजवैज्ञानिक प्रविधियों को नहीं अतः हमें अपनी "आत्मा" या चेतना यदि संघर्षशील, द्वन्द्वात्मक और संगति की खोज में सतत् सक्रिय लगती है तो डा० चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर को यह मिथ्या प्रतीति होती है कि उपाध्याय जी में "आत्म विभाजन" है ("धर्मयुग" 31 मार्च, 1979 में प्रकाशित लेख)।

आत्मालोचन के लिए सदैव प्रस्तुत, किसी सचेत द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से सोचने वाले व्यक्ति के लिए "आत्मविभाजन" एक मानसिक रोग है, एक असामान्यता है जो "शीज़ोफ्रीनिक" व्यक्तियों में पाई जाती है लेकिन यदि मुझ में अपने संशयों : द्वन्द्वों को तटस्थ होकर देखने और किसी भूल को शुद्ध करने की चेतना है तो वहाँ आत्मविभाजन शब्द का प्रयोग ही अयुक्त हो जायेगा क्योंकि जहाँ व्यक्ति के मनोविज्ञान या मानसिक संरचरण में, रुक कर अपनी चेतना को देखने की बुद्धि है, वहाँ संगति की खोज जारी रहेगी अतएव "आत्मविभाजन" या तो अध्यात्मवादियों में सम्भव है या फिर मानसिक रोगियों में। अर्थात् आत्मविभाजन के शिकार चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर हैं जो ज्ञात-अज्ञात रूप से अध्यात्मवाद और पूंजीवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं।

आत्मविभाजन तो वहीं हो गया, जब आपने "आत्म" को उस जीवन-संदर्भ से निरपेक्ष कर दिया, जिसमें वह विकसित होता है। जीवन और समाज के विना "आत्म" की कल्पना धार्मिक अंधविश्वास है जो मिथ्याचेतना (फ़ाल्स कॉंशसनैस) का परिणाम है।

दूसरी ओर डा० हरदयाल जैसे समीक्षक और साहित्य-शिक्षक, सपाटता के शिकार हो जाते हैं जो मानव चेतना की सूक्ष्म गतियों, गूढ़ मनोदशाओं (डैप्थ-साइक्लोजी) और बारीक द्वन्द्वों को, सर्वत्र वर्गीय मान लेते हैं। "समीक्षा" (डा० गोपाल राय, पटना) के सितम्बर 1979 के अंक में मेरे काव्य संग्रह "कबंध" की

समीक्षा करते हुए उन्होंने मेरी चेतना की चलनशीलता को मध्यवर्गीय कह कर यह भ्रम उत्पन्न करने की कोशिश की है, गोया, वह वर्ग-संघर्ष को मानते हैं अथवा उनका विश्व-बोध वैज्ञानिक भौतिकवादी या साम्यवादी है। यह तो निश्चित ही है कि मैं अपने वर्ग से प्रतिवर्तित (कंडीशंड) होता हूँ पर यह भी सच है कि मैं (और प्रत्येक सचेत व्यक्ति) वर्ग से ऊपर उठ कर समूची वर्गीय स्थिति, समूचे मानव इतिहास और दर्शन को देख सकता हूँ। समाज-विकास की दीर्घअवधि में, हम आत्मचेतना (सैल्फअवेयरनैस) के विकास बिन्दु तक आ चुके है अन्यथा आत्मालोचन की धारणा ही नहीं हो सकती। मैं आत्मालोचन पर लिखते समय सारे मानव इतिहास पर सोच रहा हूँ और यह भी मुझमें चेतना है कि "मैं" सोच रहा हूँ। यह जो आत्मचेतना है, यह स्वयं प्रमाण है कि कोई व्यक्ति अपने "स्व" का भी निरीक्षण कर सकता है, पर-संवेदन, पर-चेतना और बाह्य वास्तविकताओं का भी पर्यवेक्षण कर सकता है। मैं अपने पर पड़ने वाले मध्यवर्गीय संस्कारों, शिष्टाचारों, आडम्बरों, सीमाओं, छल-बलों, आकाँक्षाओं और अतृप्तियों से प्रभावित हो सकता हूँ पर यह भी सच है कि मैं अतिक्रमण कर, सम्पूर्ण शोषित मानवता के प्रति तादात्म्य महसूस कर सकता हूँ, करता हूँ अतः मेरी रचना में मात्र मध्यवर्गीय प्रतिवर्तन (कंडीशनिंग) ही नहीं होंगे अपितु, उनके अतिक्रमण का संघर्ष भी होगा। लेकिन "कबंध" में, जो मेरी चेतना का चित्र है, हरदयाल को सिर्फ उसमें मध्यवर्गीयता दिखाई पड़ती है जबकि वर्गधारणा के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स और एंगिल्स, विशुद्ध मध्यवर्ग के व्यक्ति थे। वे वर्गातिक्रमण कर सकते थे, या नहीं कर सके, इस निष्कर्ष तक पहुंचने में डा० हरदयाल के पास आधार क्या है ? विचार यदि इस पर हो कि किस सीमा तक मध्यवर्गीयता का अतिक्रमण हो सका है या किस सीमा तक कोशिश की गई है, तो भी कुछ विवेकशीलता आ सकती थी किन्तु चेतना को, वर्गबद्ध तो मार्क्स ने भी नहीं किया। मानव, सचेत रूप से चेतना का संक्रमण या वर्गच्युति (डी० क्लास) कर सकता है, इसके प्रमाण तो वे सब समाजवादी-साम्यवादी हैं, जिन्होंने किसी न किसी सीमा तक, चेतनागत—वर्ग-संक्रमण किया है। इस कोटि में वे नहीं आते जो मार्क्स की कोटियों का प्रयोग मार्क्सवाद या वैज्ञानिक भौतिकवाद को नष्ट करने के लिए करते हैं। ऐसे बंधु वैचारिक उलझाव का तर्क देकर वैचारिक जटिलता से बचना चाहते हैं।

सी० एम० व्हिटले मार्क्सवादी नहीं है, परन्तु वह भौतिकवाद की तत्वःमीमांसा प्रस्तुत करते समय मानव चेतना का सूक्ष्म निरीक्षण करता है और उसके भौतिक आधार पर दृष्टि जमाए रखता है जबकि साहित्य समीक्षक बंधु, एक निन्दात्मक वाक्य में सारी मानसिक-बौद्धिक मुहिम (संघर्ष) को समाप्त कर सोचने से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

फिर भी, 'आत्मालोचन' में निन्दा से मदद मिलती है, प्रशंसा से भी किन्तु

विनाश्य नहीं, प्रथम वन्दनीय माने गये हैं ! उनकी अज्ञान या प्रतिशोध जन्य निन्दा भी निन्दित व्यक्ति को आत्मालोचन के लिए विवश करती है और वह या तो अपने दृष्टिबिन्दु का समर्थन करता है या चुपचाप रह कर सबक़ सीखता है। इस अर्थ में मैं अपने निन्दकों का आभारी हूँ !

मालती जोशी ने "निकेत" (धर्मेन्द्र गुप्त) के ताजे अंक में लिखा है कि साहित्य में साम्यवादिमों की गरम शब्दावली कब तक चलेगी ? यदि मिस जोशी आत्मालोचन करें तो यह पाएँगीं कि किसी वाद का साहित्य-चिंतन और रचनात्मकता में प्रयोग, विश्वबोध-समाजबोध या विश्व दृष्टि और मानव मूल्यों के लिए होता है। जब तक मनुष्य विश्व और समाज की समझ के लिए जिज्ञासा करेगा और स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व के मूल्यों के प्रति ललक रखेगा तब तक मार्क्सवाद प्रासंगिक रहेगा। इसी सन्दर्भ में दूसरा प्रश्न मालती जोशी और डा० हरदयाल आदि अनेक मित्र उठाते हैं। मसलन् यह प्रश्न कि जिस साहित्य को किसान-मजदूर नहीं समझ सकते, उसे लिखने से क्या लाभ है ? इसी प्रकार डा० हरदयाल ने "कबंध" की उक्त समीक्षा में यह प्रश्न भी उठाया है कि संकुल मनोदशाओं (काम्प्लैक्स मेन्टल स्टेट्स) का चित्रण शोषित जनता के साथ मज़ाक है।

इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि क्रान्तिकारी मनोवृत्ति के कलात्मक और उच्च कोटि के बौद्धिक सृजन–चिन्तन से, विशाल मध्यवर्ग के शिक्षित व्यक्तियों को चिन्तन-आश्वस्त (कन्विंस्ड) करने का प्रयन्न किया जाता है कि वे वर्ग संक्रमण कर, शोषित-पीड़ित निम्न वर्गों की मुक्ति के लिए प्रयत्न करें। यह कोई साधारण महत्व का कार्य नहीं है। मध्यवर्ग का ही एक स्वत: स्फूर्त्त, चेतनासम्पन्न भाग, जनक्रान्ति के लिए नेतृत्व देता है, कार्यकर्त्ता जुटाता है और पीड़ितों को, पीड़कों से लड़ाता है अत: उसकी चेतनात्मक और भावनात्मक तैयारी की दृष्टि से, उस साहित्य का मूल्य बहुत अधिक है जो केवल शिक्षितों की समझ में आता है किन्तु जो अपने कथ्य और भावनात्मक गुण की दृष्टि से क्रान्तिकारी है। क्रान्ति के हित में पहले मानसिक–बौद्धिक तैयारी के लिए सभी स्तरों पर काम होता है और ये स्तर चलनशील इकाई की तरह होते हैं। उदाहरण के लिए आज जो कविता या कहानी या उपन्यास कठिन लगता है, कल शिक्षा और समझ बढ़ने पर सरल लगने लगता है। मुक्तिबोध की कविता और कहानी तथा आलोचना ने हजारों-लाखों मध्यवर्गीय मानसिकता के शिकार किन्तु शिक्षित व्यक्तियों को आत्मनिरीक्षण और आत्मनिर्णय के लिए प्रेरित किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जन तथा अभिजन के भेद को मिटा देने वाली रचनाओं का महत्व कम है लेकिन इस स्तर पर भी यह याद रखना होगा कि धूमिल में सम्प्रेषणीयता अधिक होने पर भी, उसकी सपाटता के कारण, मानवमन के पूरे द्वन्द्वों-अन्त:द्वन्द्वों-आयामों को न बांध पाने के कारण, धूमिल की कविता में एक सूक्ष्मदर्शी और विविधयामी मस्तिष्क की वह पूर्णता नहीं मिलती जो मुक्तिबोध की कविता में मिलती है।

संकुलता ("उलझाव" नहीं), सघनता, कल्पनात्मक उड्डयनशीलता, बौद्धिक वेधकता आदि गुण मनुष्य के मानसिक विकास से सम्बन्धित हैं, वर्ग-विशेष से वे बंधे हुए नहीं हैं। वर्गरंजित व्यक्ति भी अपनी प्रशिक्षित चेतना से वर्ग सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है, यह गम्भीर या गहरी रचनाओं से साबित हो सकता है।

यह भी बड़ा भारी भ्रम है कि 'आम आदमी' कोई सपाट इकाई होती है। जीवन और समाज में परस्पर विरोधी शक्तियों-स्थितियों-समस्याओं-मूल्यों आदि की सक्रियता के कारण निर्णय के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को अन्तः द्वन्द्वों से गुजरना पड़ता है। यही दशा, मनोवेगों या मूड्स की है, जो प्रवृत्ति या इच्छा और ठोस परिस्थितियों के द्वन्द्व से उत्पन्न होते हैं। किसी विचार या धारणा या मूल्य को आन्तरिकीकृत करने का मनोवैज्ञानिक उपाय यही है कि कवि या लेखक किसी विचार तक पहुँचने के पूर्व की मानसिक-प्रतिक्रियाओं का भी अंकन करे, अन्यथा विचार लक्ष्यातीत प्रहार (ओवर-शूटिंग) की तरह ऊपर ही ऊपर निकल जाएगा। नारात्मक या प्रचारात्मक लेखन जन-आन्दोलन के समय उत्तेजना और लक्ष्यस्मरण के लिए है किन्तु मानसिक तैयारी के लिए वह अपर्याप्त ही नहीं, घातक भी है क्योंकि वह चेतनात्मक-आश्वस्ति नहीं देता।

कोई रचनाकार किसी मनोदशा के सच्चे चित्रण की प्रक्रिया में दो उपाय अपना सकता है। वह मात्र किसी मनोवेग या संवेग (भाव) को यथावत् लिख कर छोड़ सकता है अथवा उसे विचारात्मक परिणति दे सकता है। एक ही लेखक की रचनाओं में दोनों प्रकार की रचनाएँ हो सकती हैं। विचारधारात्मक परिणति के बिना भी मनोदशाओं के रूपायन का महत्व मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में होगा किंतु वैचारिकता और विचारधारात्मक परिणति होने से उसका महत्व, वांछनीय सामाजिक बोध की दृष्टि से भी होगा। **"विचार-कविता"** के पक्षपाती उक्त तथ्य को भूल जाते हैं कि विचार और मनोदशा एवम् भावधाराओं में पारस्परिक वेधकता (इन्टर-पेनीट्रेशन) के बिना, मात्र वैचारिकता का ढांचा किसी रचना को विचार-कविता तो बना सकता है पर वह कविता भी होगी, यह शंकास्पद है।

मुझे यह भी महसूस होता है कि आत्मालोचन के विषय में, वाम और दक्षिण एवम् मध्य, तीनों क्षेत्रों में इधर मध्यकालीन साम्प्रदायिकता बढ़ रही है। राजनैतिक ध्रुवीकरण बढ़ने पर, सत्ता पर एकाधिकार के प्रयत्नों से यह स्वाभाविक ही है कि साम्प्रदायिकता बढ़े लेकिन **ज्ञान और सृजन के क्षेत्रों में उत्कृष्टता के वस्तुगत निर्णयों में यह साम्प्रदायिकता बाधक बनती है।** साम्प्रदायिकता, निर्णय और मानवीय उत्कृष्टता के कठिन और जटिल मार्ग को छोटा और सीमित करने (शॉर्टकट) की कोशिश में प्रायः अमानवीयता की सृष्टि करती है। आत्मालोचन की

अग्नि–परीक्षा ही साम्प्रदायिकता का अतिक्रमण सिखा सकती है अतः प्रबुद्ध पक्षधरता और जड़ साम्प्रदायिकता में विरोध होता है।

उदाहरण के लिए राजस्थान-साहित्य अकादमी पुरस्कारों के विषय में निर्णय-प्रक्रिया का पूरा पालन करती है, पर निर्णय वह किन से कराती है, इसकी जांच होनी चाहिये[1] और यह भी कि दक्षिण पंथी नेतृत्व के प्रोत्साहन पर राजस्थान प्रांत के सभी प्रबद्ध : प्रामाणिक रचनाकारों-आलोचकों को राजस्थान साहित्य अकादमी की गतिविधियों से बहिष्कृत कर देने का क्या यह आधार हो सकता है कि वे वर्तमान व्यवस्था के विरोधी हैं ? दृष्टिकोणों, मूल्यों की टकराहट के बिना क्या साहित्य का विकास हो सकता है ?

दक्षिणपंथी साम्प्रदायिकता की गिरावट का एक नमूना यह है कि "मधुमती" का जो स्तर, अदक्षिणपंथी सम्पादकों (नवलकिशोर, रामदेव आचार्य, जयसिंह नीरज, नन्द चतुर्वेदी आदि) ने स्थापित किया था, जिस साहित्यिक उत्कृष्टता की पहचान कायम की थी, वह दयाकृष्ण विजय, सुधाँशु आदि दक्षिण पंथियों के सम्पादकत्व में मटियामेट हो गई और "मधुमती", अब "मूर्खमती" बनकर मनोविनोद का विषय बन गई है। मधुमती को 'पूर्वग्रह' (मध्य प्रदेश सरकार का साहित्यिक पत्र) का स्तर नहीं मिल सका था पर फिर भी वह सत्ता और साहित्य में हिन्दू सम्प्रदायवादियों के हावी होने के पूर्व एक स्तरीयता प्राप्त कर रही थी। वह क्रमश: स्तर प्राप्ति की प्रक्रिया भंग कर दी गई और आज दशा यह है कि मधुमती से साहित्य के वास्तविक कर्त्ता-धर्त्ताओं को खदेड़ दिया गया है ।

वामपंथी साम्प्रदायिकता भी प्रशंसनीय नहीं हो सकती। यदि रचना उच्च कोटि की है, उसमें साहित्यिक गुणवत्ता है तो दृष्टिकोण सम्बन्धी मतभेद के बावजूद उसकी उपलब्धियों की प्रशंसा होनी चाहिए । साहित्य में अराजनैतिक (पॉलिटीकल) किन्तु सामाजिक-अन्तर्विरोधों के प्रति असहिष्णु लेखकों की भी बहुत बड़ी संख्या होती है किन्तु कुछ साम्यवादी साहित्यकार और सम्पादक अपने पत्रों में ऐसे लेखकों की प्रखर रचनाओं को भी स्थान नहीं देते या उनका उल्लेख नहीं करते, उन्हें वे दबाते हैं । वे सिर्फ दलीय लेखकों की मुनादी करते रहते हैं । इससे आन्दोलन विकसित नहीं हो सकता ।

वामपंथी साम्प्रदायिकता का एक रोचक उदाहरण यहाँ देना चाहता हूं । मेरी पुस्तक "भारतीय काव्य शास्त्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन" (अनुपम-प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर) के प्रकाशन के विषय में भारतीय साम्यवादी दल के पी० पी० एच० (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस) ने एक समय विचार किया था । किन्तु उक्त पुस्तक, वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि और सिद्धान्त के बावजूद इसलिए प्रकाशन के योग्य नहीं मानी गई क्योंकि उसमें, प्रारम्भ में ही माओत्सेतुंग

---

[1] पुरस्कार के निर्णयकर्त्ताओं के नाम भी घोषित होने चाहिए

का उद्धरण था और उसमें स्तालिनयुग में साहित्य के प्रति साम्यवादी दल की नीति की आलोचना थी !

इसी प्रकार, एक ओर तो प्रतिबद्धताओं का अंध समर्थन होता है, हो रहा है और दूसरी ओर डा० नवलकिशोर जैसे प्रगतिशील आलोचक हैं जो दृष्टिकोण की लड़ाई और समाज की मुख्य असंगतियों (भूख, शोषण, दमन) के साथ साहित्य को जोड़ने के आग्रह को सरलीकरण समझते हैं और अपने वाक्य-विन्यासों के जटिलीकरण को गम्भीरता मान लेते हैं। इसी प्रकार डा० रणजीत जैसे प्रगतिशील साहित्य नेता भी हैं जो समाजवादी देशों के अमुख्य-अन्तर्विरोधों (यथा, सोल्जेनित्सिन का दमन) को देखकर 'स्थगित' हो जाते हैं और देश के शोषितों के लिए संघर्षशील राजनैतिक दलों (साम्यवादी दलों) की शोषण विरोधी भूमिका को भी नकारने लगते हैं और साहित्य में विचारधारात्मक संघर्ष और संगठन से किनारा कशी कर लेते हैं। ऐसे साथी अब "यूरो-कम्यूनिज्म" की बातें करने लगे हैं पर यूरोपीय साम्यवाद, पूंजीवाद के विरुद्ध पिछड़े देशों मेंलड़ाई को बिगाड़ने का एक हथियार भी है।

इसी प्रकार एक ही जनहितैषी विचार-धारा के लेखकों और दलों में जो परस्पर वैमनस्य और क़ातिल-कलह है, उसी से इस देश में दक्षिणपंथी सम्प्रदायवाद की शक्तियाँ या दल मजबूत हो रहे हैं और मुझे तो आत्मालोचन के क्षणों में यह भी लगता है कि मध्य-पंथ की सत्ता को चालू रखने में रैडीकल पार्टियों की आपसी फूट और बिखराव ही जिम्मेदार हैं।

अतएव दक्षिणपंथी तत्वों के लिए आत्मालोचन चाहे अनावश्यक हो (क्योंकि उनकी "आत्माएँ" या चेतनायें उनके धर्मगुरुओं के पास बन्धक हैं !) किन्तु अन्य विवेकवादी (रैशनलिस्ट) और समाजवादी आत्मशिल्पियों के लिए यह समय आत्मालोचन का है, ऐसा मुझे लगता है। रचनाकार और विचारक मुख्यत: अपनी आत्मालोचनात्मक शक्ति के प्रति उत्तरदायी होता है; तभी वह जन समाज के आत्मजड़ीकरण और जनविरोधी तत्वों की निर्दयताओं के विरुद्ध लड़ सकता है।

अन्त में प्रसंगवश यह भी कह दूं कि प्रत्युत्तरपरक कुछ बिन्दु इस लेख में है और यह लेख एक लघुपत्रिका "मधु–माधवी" में छप रहा है। डा० चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर फिर यह एतराज कर सकते हैं कि "धर्मयुग" में इसे क्यों नहीं प्रकाशित कराया गया ? इस सम्बन्ध में यह कहना है कि मैं उन लेखकों में से एक हूँ जो संपादक के अनुरोध के बिना उसके पत्र में सामग्री भेजने में संकोच महसूस करते हैं और 'धर्मयुग' में बहस छपने पर भी उसके सम्पादक महोदय ने आज तक मुझसे प्रत्युत्तरनहीं चाहा अतएव लघुपत्रिकाओं में ही इस बहस का सिलसिला फिर शुरू कर रहा हूँ।

रचना : परिवेश

रचनात्मक सक्रियता परिवेश के प्रति बेख़बर रह कर भी होती है; यह दूसरी बात है कि परिवेश फिर भी उस आत्मलीन रचनाकार के कृतित्व में बोलने लगता है क्योंकि भाषा सामाजिक माध्यम है और जिसे लेखक अपना समझता है, सर्वथा व्यक्तिगत, उसकी वैयक्तिकता भी, सामाजिक स्थिति अथवा किसी जागतिक दशा के धागों या संघटकों से बनी हुई होती है। उदाहरण के लिए स्वच्छन्दतावादी कवियों की निजता, स्वच्छन्दतापरक थी और वह भारतीय स्वतन्त्रता के लिए होने वाले संघर्ष की बृहत्तर परिधि के भीतर ही प्रतीत होती है।

ज्ञान के 'समाजशास्त्र' (कार्ल मैनहीम या मैनहाइम) में तात्विक आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि निजी, व्यक्तिगत, वैयक्तिक, अन्तर्मुख, आत्मगत जैसे प्रत्ययों से यह भ्रम फैलता है कि जो व्यक्तिगत या आत्मगत होता है, वह परिवेश से निरपेक्ष कोई अतिक्रमित या अलौकिक तत्व होता है जबकि सच यह है कि रहस्यदर्शियों के दिक्कालातीत माने जाने वाले आंतरिक आलोक संसार में भी वास्तविक संसार और समाज की ही छायाएँ या प्रतिबिम्ब या सम्बन्धों के संस्कार रहते हैं। रहस्यवादी योगियों (सरहपा, कबीर) और अलौकिक परमसत्ता के विश्वासी भक्त कवियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तदर्शनों और अगम्य अनुभवात्मक साक्षात्कारों में भी वास्तविक जीवन के दृश्यों : सम्बन्धों के प्रतिबिम्बन या नवकल्पनात्मक विन्यास दिखाई पड़ते हैं।

पदार्थ से विकसित चेतना के किसी भी चमत्कार में वास्तविक संसार से पूर्ण समानान्तर रहना असंभव है। आध्यात्मिक दृष्टि से यदि पदार्थ को चेतना का ही विस्तार या स्थूल रूप मान लें तो भी चेतना और वास्तविकता सर्वत्र सापेक्ष परस्परावलम्बित और परस्परविद्ध रूप में ही मिलती है।

कोई भी ज्ञान और संवेदन या अनुभव परिवेश के साथ अद्वैतता के साथ ही व्यक्त हो सकता है क्योंकि जब हम कल्पना करते हैं, तब भी हम पूर्व दृष्ट वस्तुओं से ही नवीन वस्तुएँ या बिम्ब गढ़ते हैं। समाधि में निर्विकल्पता मानी गई है परन्तु समाधि में जागतिक क्रिया या शारीरिक क्रिया रहती है, परिवेश या स्व : पर का ज्ञान लुप्त हो जाता है। अत: निर्विकल्पसमाधि की अनिर्वचनीय स्थिति को भी अजागतिक या अलौकिक नहीं कहा जा सकता। समाधिगत तल्लीनता में स्थगित

चेतनादशा से उपलब्ध चैन या आनंद के अनूठेपन की वजह से ही साधक उसे अलौकिक कहते हैं अथवा उसे भाषातीत अनुभव बतलाते हैं ।

तत्वमीमांसा की दृष्टि से द्वैत वा समानान्तरता असम्भव और अयुक्त प्रत्यय है । क्योंकि वास्तविकता और वास्तवबोधक चेतना, दोनों मूलतः एक और अभिन्न हैं अतएव चेतना पदार्थ से निर्मित शरीर और उसमें होने वाली क्रियाओं पर निर्भर है ।

हिन्दी साहित्य में इधर द्वैतवाद बहुत प्रबल हो रहा है । मसलन् सातवें दशक में, साहित्यकारों को वस्तुस्थितियों के दबाव से, नयीकविता-नयीकहानी वाला मूल्यगत असमंजस या संदेहग्रस्तता छोड़ कर, विद्रोह और क्रांति की मनोवृत्ति और बोधों का पक्षधर साहित्य लिखना पड़ा । 1965 के बाद वैश्विक स्तर पर तब नववामपंथ की लहर आई थी और भारतीयता यानी यथास्थितिशीलता से ग्रस्त और योरोप से आयातित अस्तित्ववाद को हिन्दी में अनूदित करने वाले "आधुनिक" यानी परम्परा और आधुनिकता दोनों के संवाहक लेखक व्यवस्था-विरोध में जुट गए थे क्योंकि लोग समझने लगे थे कि वास्तविक जीवनप्रणाली में मूल परिवर्तन के बिना हमारे दैहिक-भौतिक ताप-शाप दूर नहीं होंगे ।

इस साहित्यिक अग्रगामिता के रेले में सभी बहने लगे । यहाँ तक कि राजनीति और जीवन-पद्धति में घोर दक्षिणपंथी तथा साम्यवादविरोधी तत्व भी अपने को व्यवस्थाविरोध से जोड़ कर विद्रोही और क्रांतिकारी कहने लग गए ।

चूंकि इस तेजस्वी साहित्यिकता में शोषित जनसाधारण का पक्ष समर्थन था अतएव परम प्रतिक्रियावादी ज़हनियत के लेखक भी 'आम-आदमी' की मिथ की लपेट में आ गए क्योंकि "आम आदमी" के चित्रांकन या उसके गौरवगायन से खास आदमी या शोषक वर्गों की प्रत्यक्ष कोई हानि होने वाली नहीं थी ।

विद्रोह और क्रान्ति के विचार के प्रति अत्यन्त अबोध लेखकों द्वारा केवल प्रतिक्रिया रूप में अपने आक्रोशों के विरेचनों और उद्धत-उद्दण्ड, वक्र और विकट मुहावरों के अम्बार लगने लगे और यह होड़ मची कि कौन सबसे बड़ा बड़बोला और बर्बर वाणी का धनी है ।

रचनात्मक आवेग में कतिपय युवा-लेखकों ने कहना शुरू कर दिया कि यह सामाजिक, राजनैतिक लेखन है, परिवर्तन का उतप्त अभियान है अतएव उसका मूल्यांकन कलात्मकता के आधार पर नहीं हो सकता, सामाजिकता के आधार पर हो सकता है । इस दृष्टिकोण से साहित्यिकता के आगे प्रश्न चिन्ह लग गया और साहित्य और पत्रकारिता का अंतर मिटने लगा ।

चूँकि वर्गविभक्त, विषमसमाजव्यवस्था और उच्च मध्यवर्गीय राजनैतिक व्यवस्था के स्थान पर आम आदमी या शोषित वर्गों को संगठित शक्ति के विकल्प की कीमत देने अर्थात् शोषित वर्गों की पक्षधर राजनैतिक पार्टियों में काम करने

ग्रौर जनता में विश्वास करने की वृत्ति बहुत कमज़ोर थी ग्रतएव विद्रोह प्रायः शाब्दिक रहा ग्रौर कर्म कमज़ोर। फलतः ग्रापातकाल का झटका लगते ही रैडीकल चेतना मंद हो गई या दब गई।

लेकिन "चेतना" शब्द भी ग्रभिव्यक्त ग्रौर ग्रनभिव्यक्त दो ग्रर्थों में प्रयुक्त होता है। सवाल यह है कि ग्रापातकाल में लेखकों की चेतना दब जाने पर भी विद्रोहिणी बनी रही या उसमें समझौतापरस्ती ग्रा गई?

"धर्मयुग", "कादम्बिनी" जैसे पत्र सरकार बदलते ही उन लेखकों को निरावरण करने लगे जिन्होंने ग्रापातकाल में इन्दिरा सरकार का समर्थन किया ग्रथवा विरोध नहीं किया।

ग्रापातकाल के प्रारम्भ में सी० पी० ग्राई० से सम्बन्धित या सहानुभूति रखने वाले लेखकों ने ग्रापातकाल का इस शर्त ग्रौर ग्राशा पर समर्थन किया था कि तेजी से भूमि सुधार होंगे, कमज़ोर तबकों को भूमि, बैंक-ऋण ग्रादि की सुविधाएँ दी जाएँगी ग्रौर एकाधिकारी पूँजीवाद के विरुद्ध कड़े कदम उठा कर, इस देश में ग्रौषधि, सिगरेट, चाय, वस्त्र तथा उच्च तकनीक पर ग्राधारित उद्योगों में लगी विदेशी या साम्राज्यवादी पूंजी ग्रौर लाभ का उन्मूलन किया जाएगा। ये लेखक जानते थे कि भारतवर्ष विदेशी सहायता के नाम पर बहुराष्ट्रीय–कम्पनियों ग्रौर साम्राज्यवादी सरकार के यहाँ गिरवी रखा हुग्रा है। विदेशी कर्ज से मुक्ति के लिए सरकार फल, चीनी, ग्रालू जैसी चीजों का भी निर्यात करने लगी है फलतः देश के भीतर जन-साधारण को भयंकर मँहगाई का सामना करना पड़ रहा है तथापि देश पर ऋण बढ़ रहा है।

भूतपूर्व सरकार ने न ग्रार्थिक ढाँचे में कोई परिवर्तन किए, न परावलम्बन की ग्रात्मघातक नीति त्याग कर योजनाग्रों को जनवादी रूप दिया, न जनता के निवास, जल ग्रौर वस्त्र ग्रादि की पूर्ति के लिए योजना बनी, न बेकारी को दूर करने के लिए कृषिसेना, प्रौढ़शिक्षासेना ग्रथवा ऐसे ही बड़े स्तर पर कार्यक्रम बने, जिनसे जनतायोजनाग्रों के ग्रमल में निमग्न की जाती ग्रौर बेकारी ग्रौर परावलम्बन कम होता। शिक्षा, नौकरशाही, पुलिस, न्याय ग्रौर प्रशासन का पुराना जन-विरोधी ढाँचा यथावत् रहा ग्रौर ग्राज भी वही स्थिति है।

इन्दिरा गांधी के समाजवादी तेवर ग्रौर "समाजवादी गणतंत्र" की घोषणा से लेखकों में एक हिस्सा सोच रहा था शायद ग्रापातकाल का प्रयोग जनविरोधियों के विरुद्ध हो, शायद सट्टा बाजार बन्द हो जाए, शायद जमाखोरी खत्म हो जाए, शायद पूंजीवादी साहित्य प्रेस (धर्मयुग, सारिका, कादम्बिनी, इलस्ट्रेटिड वीकली, साप्ताहिक हिन्दुस्तान ग्रादि) को समाजीकृत कर दिया जाए यानी उनके न्यास (ट्रस्ट) बना दिए जाएँ ग्रौर उनमें पत्रकारों, साहित्यिकों ग्रौर बौद्धिकों के प्रतिनिधि नीतिनिर्धारण करें, सेठ ग्रौर उनके नौकर सम्पादक नहीं।

लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ और भूतपूर्व शक्तिकेन्द्र में समाजविरोधी दादाओं और दिलकश दीदियों का वर्चस्व कायम हो गया, जिन्होंने सामाजिक-आर्थिक संरचना में किसी भी मूल परिवर्तन की इच्छा नहीं दिखाई, ऊपरी नारों और सूत्रों का बोल-बाला हो गया।

जो लेखक नीतिवश उक्त आशा या भ्रम में चुप रहे, उन्हें आपातकाल का समर्थक नहीं कहा जा सकता और न उन्हें जन-हितैषी कहा जा सकता है, जो व्यावसायिक पत्रों में सरकार बदलते ही सम्पूर्ण क्रान्तिकारी हो गए। जो पहले भूतपूर्व सत्ताधीशों की छवि बनाया करते थे, वे अब जयप्रकाशनारायण और उनके समर्थन से बनी सरकार के धनी-धोरियों का बिम्ब निर्माण कर रहे हैं। वे न भूतपूर्वों के प्रति सच्चे थे, न अब "सम्पूर्ण क्रान्ति" के प्रति सच्चे हैं। हाँ, उन्हें अपने लाभप्रद साम्यवादविरोध का अवसर अवश्य मिल गया है और वे उसे खूब भुना रहे हैं।

ग़ौर करने योग्य तथ्य यह है कि एसे लोग कभी पूंजीवादी जीवन प्रणाली के उन्मूलन के पक्ष में नहीं लिखते, सिर्फ अमूर्त-स्वतन्त्रता के महात्म्य का गायन करते रहते हैं।

निश्चय ही जनता-सरकार ने खोई हुई स्वतन्त्रा और मौलिक अधिकारों को वापसी दी लेकिन वही सरकार तीसरे विकल्प (गांधीवाद) की बात करके भी दिन प्रति दिन दिशाहीन और यथास्थितिशील होती जा रही है और हिन्दी के महान् साहित्यकार शायद यह समझने लगे हैं कि अब विद्रोह और क्रान्ति की अवधारणाएँ अप्रांसगिक हो गई हैं क्योंकि सरकार अब पूँजीवाद और साम्यवाद, दोनों विकल्पों को छोड़ कर तीसरे विकल्प की स्थापना कर रामराज्य बना देगी।

लेकिन दृष्टि सम्पन्न जनपक्षधर और भ्रमों की लहरों से निष्कम्प लेखकों ने घोर आपातकाल में भी रचनाएँ लिखीं और वे सेंसर से बच कर छपीं भी। बलदेव वंशी के 'काला-इतिहास' में ऐसी कविताओं को संकलित किया गया है, जिसमें राजस्थानके नन्द चतुर्वेदी, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, ओमप्रकाश निर्मल, मणि मधुकर और सतीश वर्मा (अजमेर) की कविताएँ भी हैं।

राज० वि० वि० द्वारा घोर आपात्काल में आयोजित, 'अखिल भारतीय हिन्दी शिविर जयपुर' में आपातकालीन कविता पर चर्चा के समय एक भी कविता ऐसी उद्धृत नहीं की जा सकी, जिसमें आपातकाल का समर्थन हो। गिरफ्तारी की आशंका के बावजूद राजस्थान के लेखकों सहित अन्य प्रान्तों के अनेक लेखकों ने स्वतन्त्रता और समता के मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए वैचारिक संघर्ष किया और व्यवस्था विरोध भी।

मधुमती में ही 'पिछलग्गू प्रगतिशीलता' पर मेरा लेख छपा था, जिसमें आपातकाल के समय सरकारी स्वेच्छाचार और जनदमन के बावजूद राजस्थान प्रगतिशील लेखक संगठन के सरकारपरस्त रवैये की आलोचना की गई थी और आज

भी हम प्रगतिशीलों से यही आशा करते हैं कि वे किसी पार्टी की कार्यनीति या सत्ता के साथ सांठगांठ के चक्कर में न पड़ कर जन असंतोष, व्यवस्था और व्यवस्थापकों के अन्तर्विरोध तथा दूसरी असंगतियों के विरुद्ध विद्रोह और जनक्रान्ति के बोध और गम्भीर अहसास को व्यक्त करें; पिछलग्गूपन की जगह अपने ज्वलन्त विचारों और भावनाओं से अपनी अग्रगामिता प्रमाणित करें।

साहित्यिक अग्रगामिता से ही वह जनाधार तैयार होगा जो वर्तमान मध्यवर्गीय पेशेवर राजनीति की जगह जनराजनीति अथवा मूल्यपरक राजनीति के लिए मैदान साफ़ करेगा। अतः मेरी समझ से सरकार बदल जाने से बदलाव नहीं आया है और प्रतिवाद अप्रासंगिक नहीं हुआ है।

परिवेश बदला नहीं है, बिगड़ा है। स्वतंत्रता के लिए यदि काम हुआ है तो समाजवादी मूल्यों और मानसिकता को धक्का भी लगा है क्योंकि वर्तमान शासन के कई घटकों की दृष्टि और राजनीति स्पष्टतः प्राचीन परिपाटी की रक्षा के प्रयोजन से सम्बन्धित है। यह कंजरवेटिव तथा साम्यवादविरोधी तबका पुनरुत्थानवादी है जो पुराने गांधीवादियों की आड़ में अपनी निर्णायक संगठित शक्ति से वर्ग समाज की रक्षा करना चाहता हैं और श्रेष्ठीवर्ग द्वारा पोषित है। मज़हबी मनोवृत्ति का उन्नायक यह घटक अंततोगत्वा वामपंथी, समाजवादी और साम्यवादी शक्तियों का निर्मूलन कर इतिहास की गति को पीछे धकेलेगा और देश पर मज़हबी फासिज्म कायम होगा।

परिवेश में अंतर्निहित इस खतरे के खिलाफ वे लेखक नहीं लिख रहे हैं जिनकी पार्टियाँ वर्तमान सत्तासंगठन का समर्थन कर रही हैं। मसलन् समाजवादी दल के एक अंश तथा मार्क्सवादी साम्यवादी दल के लोग धार्मिकफासिज्म के भय को सामने देख कर भी तरह दे रहे हैं क्योंकि उन्हें यह भ्रम है कि वे अन्त में इस विचारविरोधी, अंधधर्मनिष्ठा पर आधारित घटक को दबा लेंगे या उसे बदल लेंगे।

साहित्य चाहे वामोन्मुख चेतना के निर्माण में अभी तक असफल रहा हो पर उसके द्वारा मानववादी मनोवृत्ति बनाने और जातिवाद-सम्प्रदायवाद-धर्मवाद के विरुद्ध उतार मानवीयतापरक आदर्शों की प्रतिष्ठा में मदद मिली है लेकिन आज तो मानवतावादी मूल्यों के आगे भी प्रश्नचिन्ह लग रहा है और लम्बे पुनर्जागरणकाल एवम् प्रबुद्धताकाल (एनलाइटिनमेण्ट) में बौद्धिक और मानवीय संघर्ष से उपलब्ध मान्यताओं के विनाश का डर सामने आ गया है।

सान्त्वना का विषय यह है कि बहुत से लेखक अभी भी "प्रतीक्षा करो और देखो" की स्थिति में है। अभी भी वह ताल ठौंक कर सत्ता के पक्ष में नहीं आए हैं। कोई भी तत्वद्रष्टा लेखक, जनाधार को छोड़कर इस खुशफहमी को नहीं पालना चाहता कि जनक्रांति की जगह "सम्पूर्ण-क्रांति" के प्रत्यय का कोई वास्तविक महत्व

है, क्योंकि "सम्पूर्ण-क्रांति" की परिकल्पना न केवल अस्पष्ट है बल्कि उसके हामी व्यवहार में भीड़वादी (पौपुलिस्ट) कार्यनीति अपना कर चल रहे हैं, जिसमें सभी वर्गों और समूहों को खुश करने की कोशिश की जाती है। इस नीति का लाजिमी नतीजा अराजकता का है और अराजकता में हमेशा इतिहास के लौहनियम के अनुसार या तो सैनिकतानाशाही कायम होती है अथवा फासिस्ट हुकूमत।

परिवर्तन का अटल सिद्धांत यह है कि सचेत, विचारधारा से समृद्ध, संगठित और शोषित जनता के पक्ष में कार्यरत दल धनीमानी और भ्रष्ट-प्रभावशाली तत्वों को अंकुश में रख सकता है। शोषकों को हृदयपरिवर्तन का उपदेश देने वाले शासक अराजक भीड़ों के धक्के में या तो उड़ जाते हैं या फिर आपातकाल लागू करने के लिए बाध्य होते हैं।

अतएव परिवेश का जनहित में बदलाव जनोन्मुख वामपक्षी दल और उनके समर्थक बुद्धिजीवी लोग ही ला सकते हैं। साहित्यकार भी इसी शक्ति-स्रोत के अंग हैं। राष्ट्र में दरअस्ल विचारधार के आधार पर ध्रुवीकरण की जरूरत है। तभी जनता चुनाव में नीति के आधार पर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव कर सकती है। हमारे देश में खाद्यपदार्थों से लेकर राजनीति तक सर्वत्र मिलावट और प्रदूषण है जो जनपक्षधर संगठित दलों के "महामिलन" से ही दूर हो सकता है।

वोट के लालच में उग्र भीड़ों के दबाव से हर अबुद्धिसंगत मांग मान लेने वाले जोग, अंत में रावणराज्य की स्थापना करते हैं, रामराज्य की नहीं। यह जो शिक्षाश्रमों का विध्वंस हो रहा है, प्रत्येक मानवीय गरिमा और शिष्टता का भंजन हो रहा है, मूर्खों और अपराधियों, जातिवादियों तथा सम्प्रदायवादियों का आतंक बढ़ रहा है, उससे खर-दूषणों की बन आएगी और विश्वामित्रों जैसे कुलपतियों को भी राम लक्ष्मणों की खोज में भटकना होगा।

मुझे यह महसूस हो रहा है कि सप्तम दशक में जो नए लेखकों की पीढ़ी उभरी थी, वह अब थक गई है या परिवर्तन की दीर्घता देख-देख कर यशः शेष हो गई है। अब उनके विद्रोही लेखन को पाठ्यक्रम में लगवाया जा रहा है, उसी प्रकार, जिस प्रकार गिसवर्ग और तत्कालीन अन्य विद्रोहियों के लेखन को व्यवस्था स्वीकार कर उसके असर को पचा चुकी है। वही यहाँ हो रहा है।

विद्रोह की वसूली शुरू हो गई है। ऐसे परिवेश में पुनः जनक्रान्ति की बात करना उसी के लिए सम्भव है जो समाज, इतिहास और वैज्ञानिक जीवनबोध के अध्ययन : मनन के बाद इस नतीजे पर पहुंचा हो कि साहित्य की नियति जननियति से सम्बद्ध है। चूंकि सप्तम दशक में बहुत से लेखक इस कष्टकर लम्बी वैचारिक प्रक्रिया में नहीं गए : वे परिस्थिति के दबाव अथवा साहित्य में विद्रोह का चलन देख कर व्यवस्थाविरोधी बने थे अतएव आपातकाल और अब सत्ता परिवर्तन से वे उलझन में पड़ गए हैं और रचनाक्षेत्र में पुनः आत्मगतता की ओर रुझान बढ़ रहा है।

'अस्ति' (मोना गुलाटी) में आम आदमी की सहानुभूति में और शोषकों के खिलाफ लिखे गए साहित्य का अवमूल्यन किया जा रहा है। लेखकों से कहा जा रहा है कि वे अपनी आत्मा को देखें, पिण्ड का साक्षात्कार करें, ब्रह्माण्ड का नहीं क्योंकि ब्रह्माण्ड नहीं है, समाज नहीं है, आम आदमी नहीं है !

दूसरे रूप में, यह स्वर वीरेन्द्रकुमार जैन के लेखन में उभरा है। यह रुख यथार्थ के अतिक्रमण का पक्ष लेता है और अपने तथा आम आदमी के दुखों-अभावों से दुःखी रह कर भी, अन्त में, आध्यात्मिकपलायन का मार्ग अपनाता है। इस रुख को भारतवर्ष के 'नए भगवान' (साईं बाबा, रजनीश आदि) मजबूत कर रहे हैं। सेठ धर्म के नाम पर इस अफीम का प्रसाद बँटवा रहा है। मतलबपरस्त अधिकारी और दूसरे अन्धविश्वासी अपने प्रभाव से जनता के सामने यह सत्य नहीं आने देना चाहते कि व्याधि के कारण वे स्वयं हैं। उनके वर्ग और तबके ही जनोद्धार के काम में बाधक हैं। अतः जनता क्रान्ति की जगह कीर्त्तन कर रही है !

आपात्कालोत्तर रचनात्मक आवेश में अभी तक बदले हुए या बिगड़े हुए परिवेश की कोई विशेष खोज खबर नहीं है। कई लेखक वक्तव्य दे देकर अपने अपराध-भाव को छिपा रहे हैं और "सम्पूर्ण क्राँतिकारी" समझ रहे हैं कि लेखक अब उनके साथ हैं। अब "जनक्रांति" की पक्षधर शक्तियों और गुरिल्ला चेतना को, वाचनिक स्वतन्त्रता देकर व्यर्थ कर दिया गया है। यह बात मैं 'विचार कविता' के आयोजकों को ध्यान में रख कर भी कह रहा हूं। कविता में रस या स्थायी और स्थूल भावों की अभिव्यक्ति के स्थान पर दुश्मन वर्गों के लिए विष के साहित्य की परम्परा सप्तमदशक में बनी थी। यह विषवमन, विचार के आधार पर हो तो साहित्य जनाधार पा सकता है और 'इलीट' या मात्र विशिष्ट व्यक्तियों (अध्यापकों, आलोचकों, सम्पादकों, पत्रकारों) के चंगुल से मुक्त हो सकता है जैसा कि भक्तिकाल में सन्तों और भक्तों ने विचार या दर्शन के आधार पर कविताएँ कही थीं और वे भावना-बुद्धि से अनुशासित थीं। लेकिन विचार-कविता के आयोजकों का कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन नहीं है अतएव "कालाइतिहास" की भूमिका में भी कन्फ्यूज़न है।

विचारविरोध सिर्फ "विचार कविता" वालों में ही नहीं है बल्कि उन प्राध्यापकों की आलोचना में भी है जो विचार और जनोत्तेजन को पैग़म्बरी समझते हैं। 'मधुमती' में ही मोहनकृष्ण बोहरा की समीक्षाओं में यह मध्यकालीन आग्रह है कि आलोचना सर्वत्र कृतिपरक हो, विचारपरक नहीं। आलोचना कृतिपरक हो, विचारपरक भी हो, उसमें सम्पूर्ण आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग हो परन्तु ज्ञानानुशासनात्मक आलोचना में भी जनाकांक्षाओं और जीवन की सभी चुनौतियों का सामना करने और साहित्य द्वारा इस संघर्ष में अपनी भूमिका अदा करने की शर्त स्वीकृत है। साहित्य की गति और दिशा विचार से तय होती है। विचार ही

उसमें मोड़ लाता है। लेकिन इस विचार से, विचारोत्तेजक वाद-विवाद से, बुरे के विरोध और भले के समर्थन से, रीतिवादी प्राध्यापक बचते हैं। उन्हें विचारधाराओं के ज्ञान और उसके निर्णायक प्रभाव की जानकारी भी नहीं है या वे ऐसी जानकारी करना नहीं चाहते।

परिवेश के बदलाव और रचनात्मकता के चक्कर को समझने में वह मानवतावाद भी बाधक है जो अपनी उदारता और अपने में, रीतिवाद के प्रभाव से उत्पन्न परिवेशपरिवर्तनकारी शक्तियों के प्रति उपेक्षा भाव से, उन ज्वलन्त कृतियों का विश्लेषण नहीं करता, जिनमें उच्च कोटि की रचनात्मकता और सामाजिक कथ्य है। सौन्दर्य और मानवीयता उन्हें सिर्फ सुन्दर और उदात्त वस्तुओं में दिखाई पड़ती है, कठोर, जटिल, विषम और भयंकर जीवन वास्तविकताओं के विकट चित्रणों या अभिव्यक्तियों में नहीं। इन्हें निषेधवादी अकवियों की तरह लगता है, जो बात जोर से कही जा रही है, वह गहरी नहीं है या यह कि वह चेतना के ऊपरी धरातल से उठी है। इसी भ्रम के कारण अभी तक मानवतावादी आलोचकों ने वामोन्मुख या समग्रतः रैंडीकल सृजन को भेदकर नहीं देखा है। उनके कोमल संस्कार उन्हें उग्र-लेखन की गम्भीरताओं और उग्र साहित्य के तंतुजालों के विस्तारों को मानने में बाधक हैं। यही वजह है, हिन्दी के मानवतावादी अभी तक यह समझते हैं कि इधर जो खूँख्वार लेखन हुआ है, वह हिंसक साहित्य है और इसलिए त्याज्य है क्योंकि हिंसा, चाहे वह जनहित में की गई हिंसा ही क्यों न हो, निन्दनीय है।

मानवतावाद, इतिहास की गति को तीव्रता नहीं मिलने देता। वह अहिंसक-हिंसा को सह लेता है और हिंसक-अहिंसा को सह नहीं पाता। कोमल और भद्र, ब्याजखोर और व्यापार में बेईमान व्यक्ति की शोषक-हिंसा मानवतावादी को कम कष्टकर लगती है, शताब्दियों से शोषित व्यक्तियों और उनके तरफदारों का आक्रोश और आक्रमण उन्हें हिंसक लगता है। अराजक और जनक्रान्तिकारी में अंतर होता है। प्रत्येक हिंसा पाप नहीं है, क्योंकि जीवन को जो अपने व्यापार का विषय बनाते हैं, उनके साथ हिंसा उनके साथ न्याय है।

यदि आठवें दशक में हिंसक या अभियानी साहित्य के मूल्यांकन में यह लगे कि यह सब स्फीतिमय सृजन है, इसकी जड़ें गहरी नहीं हैं, तब यह ठीक होगा कि अब पुरानी गलतियाँ न की जाएँ, समकालीन सृजन को समझने योग्य लेकिन उसे गहरा बनाया जाए; उसमें रसातलों से हिमालय तक सभी स्तरों अवचेतन-चेतनों की आहट और आकार हो लेकिन अभी तक ऐसा बिल्कुल नहीं हुआ, इसका प्रमाण क्या है?

साहित्यिक पत्रकारिता के अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद आपातकाल के पूर्व और बाद में जो छपा है, उसमें गूढ़-मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत मसाला है। बहुत सा आक्रोश ऊपरी नहीं है, गहरा है। वह जरूरतों से जुड़ा है और जरूरतें मध्यवर्गीय मनोवृत्ति की सरकारें पूरा नहीं कर सकतीं। इसलिए आक्रोश

घट नही, बढ़ रहा है। आक्रोश थम जाता है पर फिर ज्वार आ जाता है। साहित्य में व्यक्त आक्रोश या विरोध-भाव में सामुद्रिकता आ गई है। आक्रोश के विकृत रूप का हम आज सामना कर रहे हैं लेकिन जनोन्मुख आक्रोश अपनी जगह डटा है। वह अपने मोर्चे पर सतर्क और सन्नद्ध है। इस सही आक्रोश की टकराहट अनेक धरातलों पर है और उसकी जड़ें आदमी की बुनियाद में है, बुनियादी सवालों और चुनौतियों में हैं। शब्द इसीलिए ऊपर से फेनिल या फिर गरजते हुए लगते हैं लेकिन गरज या विरोध के घटकों से समकालीन रचनाओं के शब्द संन्निविष्ट हैं, इसलिए वे बिना पूँछ के नहीं है। शब्दकला या उक्ति-वैचित्र्य तो बात की अदा है, कला है लेकिन प्रकृति से सामूहिक या सामाजिक होने से यह सिद्ध नहीं होता कि हिंसात्मक रचनाओं में व्यक्तित्व के तल से धरातल तक सभी तारों की झंकारें नहीं हैं। औपचारिक पांडित्य या किसी रीति मात्र से इस आक्रोश की गर्भशीलता का अहसास नहीं हो सकता। वह तो लड़ाई में थोड़ा-बहुत शामिल होने से ही हमारी संवेदना का विषय बनता है।

हिन्दी में साहित्यिक परिवेश, यदि सचमुच के लेखकों के मन से जाना जा सके तो मुझे तो अभी ऐसा नहीं लगता कि लेखकों में पूर्णतः आत्मतुष्टि आ गई है या वे थक कर भी बिकने को तैयार हो गए हैं।

साम्प्रतिक स्थिति और लेखकीय विकल्प

यदि दूरगामी, ऐतिहासिक और आशावादी दृष्टि से न देखें तो साम्प्रतिक राजनैतिक विखंडन, युवाशक्ति के भटकाव तथा सामाजिक स्तर पर सब-कुछ सह लेने की आम प्रवृत्ति देखकर किसी कल्पनाशील लेखक को यह सब, जो हो रहा है, मानव-सभ्यता का अन्तकाल प्रतीत हो सकता है। 'पूर्णावतार'[1] (बंगला उपन्यास) में आज की अराजकता और अमानवीय अपराधों की बढ़ती प्रवृत्ति, मूल्यभ्रंश का एक सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया था। जो दशा द्वारिका की थी, वही दशा आज हमारी सभ्यता और समाज की है। मुझे स्वयं इस अराजक स्थिति में समूचा माहौल एक विकट जंगल का माहौल लगता है, जहाँ प्रत्येक वन्य पशु कुछ भी करने को स्वतन्त्र है अतः एक नया और वास्तविक संत्रास महसूस किया जा रहा है।

'नवी कविता' वाला संत्रास और भय, एक सीमा तक आयातित या कल्पित था। उसमें मृत्युभय अथवा जीवन की अर्थहीनता की दार्शनिक कल्पना से उत्पन्न संत्रास था। उस भय से प्राणों या प्रतिष्ठाओं को कोई खतरा नहीं था किन्तु आज जन-जीवन असुरक्षित है; और मध्यवर्गीय नेतृत्व जो जनहित में निर्णयों के लिए वचनबद्ध है, पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता में अपनी नाक कटाकर भी तमाशा देख रहा है। ऐसे में कविता, भयभीत मनोदशा में, परिदृश्य-चित्रण करते समय नए परिप्रेक्ष्य दे रही है :

रात अँधेरे के लबादे में साँय-साँय करती हुई
घातक भेदिये-सी पछियाती है
पत्ते छुरे से निकल रहे हैं टहनियों से
रीछ सूँघ रहे हैं आहत आदमी को
मर गया है या जिन्दा है !
दुर्गन्ध से भन्ना रहा है माथा, मरे हुए माहौल का
परिदृश्य में सिर्फ नुकीले दाँत और पंजे हैं

---

1. श्री प्रमथनाथ विशी

रक्त चाटता हुआ ललमुँहा सूरज निकलता है
परिवेश किसी हिंस्र गिरोह के जबड़े में
कड़ककर चूर हो रहा है अस्थि-पिंजर-सा
खून का थक्का बताता है
कि चन्द्रमा को किसी ने गोली मार दी है ![1]

यह हिंसा और उत्पात किसी सामाजिक परिवर्तन के लिए नहीं हो रहा है। यह पीड़ित जन की मुक्ति के लिए शोषक वर्गों के विरुद्ध गुरिल्ला हिंसा नहीं हो रही है। बड़े लोग सुरक्षित हैं, संकट आम आदमी पर है। अपराधों के शिकार साधारण जन हैं या जनहितसंलग्न संस्थाएँ हैं, शिक्षालय हैं। अतएव, अराजकतावादी हिंसा और उपद्रव का समर्थन लेखकीय विकल्प नहीं हो सकता।

लेकिन दूरगामी दृष्टि से देखने पर, परिवर्तन की प्रक्रिया को, महाकाल और विश्वदृष्टि के भीतर रखकर देखने पर, भारतीय जनसाधारण की अन्तर्निहित शक्ति के सन्दर्भ में आज की घटनाओं के अवलोकन करते समय, यह ज्ञान उदित होता है कि इस देश में, आजादी के बाद प्रथम बार, राजनैतिक आन्दोलन में ध्रुवीकरण हो रहा है और यह जो प्रतिक्रियावादी हिंसा और मर्यादाहीनता है, वह इस ध्रुवीकरण की प्रसववेदना की परिचायक है।

भारतीय समाज में, निर्णायक शक्तियाँ तीन हैं,—(1) दक्षिणपंथी, (2) मध्यपंथी, (3) वामपंथी। आठवाँ दशक इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इस दशक में मध्यपंथी शक्तियों का बिखराव उस बिन्दु तक पहुँच चुका है, जहाँ दक्षिण और वामपंथ, विकल्प के रूप में स्वीकृत हो सकते हैं। दक्षिणपंथी शक्तियों में हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ हैं, जनसंघ, आर० एस० एस० ,खालिस्तानी रामराज्य परिषद्, जमायतउल-इस्लामी, मुस्लिम लीग आदि। इन्हें आठवें दशक में प्रथम बार राजनैतिक सम्मान मिला है और मध्यपंथी कमजोर नेतागण पुनरुत्थानवादियों की मदद से अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहते हैं। इसके पूर्व प्रगतिशील मध्यपंथी नेतृत्व वामपंथी शक्तियों (समाजवादी दल : साम्यवादी दल) का समय-समय पर सहयोग लेता था।

पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ राजनैतिक दृष्टि से 'कंजर्वेटिव' या अतीतसंरक्षक और यथास्थितिशील होती हैं। वे मूल ढाँचे में आर्थिक क्षेत्र, नौकरशाही, और वर्ण-जातिग्रस्त एवं मजहबी मानसिकता की वर्धक संस्थाओं में कोई आमूल परिवर्तन नहीं करना चाहतीं; वे सहिष्णुता, शील, सर्वधर्मसमभाव आदि की बातें करती हुई यत्र-तत्र सुधार ही करना चाहती हैं। वे समाज और संस्कृति की धार्मिक संरचना और तज्जन्य सामन्ती : सम्बन्ध : व्यवस्था और मान्यताओं, मूल्यों को पवित्र विश्वास के

---

1. 'जंगल और ध्वनियाँ' : डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

मिथक के बल पर वेद, पुराण, कुरान, बाइबिल की दुहाई देते हुए बरकरार रखना चाहती हैं। मनुष्य के विवेक और वैज्ञानिकता को, ये साम्प्रदायिक शक्तियाँ और संगठन, मध्ययुगीन अन्धविश्वासों के भीतर दफन कर देना चाहतीं हैं। साम्प्रदायिक विग्रह का मूल कारण धार्मिक अन्धविश्वास और उससे उत्पन्न क्रूरता है जो हिन्दू-मुस्लिम दंगों और जातिवादी झगड़ों में अब सतह के ऊपर आ गई है और ये रक्त-रंजक, आत्मघाती कलह प्रतिक्रान्ति और पराभव के प्रतीक हैं। ये देश और सभ्यता को पुनर्जागरण (रिनेसाँ) के पूर्व के 'अन्धकार युग' में ले जाना चाहते हैं। लेकिन इस भयंकर खतरे को महत्त्वाकांक्षी मध्यपंथी राजनीतिज्ञ और उनके अनुगामी नहीं देख पा रहे हैं। बुद्धिजीवी लोग सत्ता के रुख को देखकर मुहावरा बदल लेते हैं।

कुछ समाजवादियों और समग्रत: सभी साम्यवादियों ने इस खतरे को महसूस कर साम्प्रदायिकता और तानाशाही, दोनों की प्रतिनिधि शक्तियों का विरोध शुरु किया है और इस कार्य में सभी वामपंथी शक्तियों के सहयोग का आह्वान किया है। वामपंथी, असाम्प्रदायिक 'जनता' (अब 'लोकदल') पार्टी का समर्थन भी कर रहे हैं। इससे एक महत्त्वपूर्ण स्थिति यह बन रही है कि साम्यवाद-विरोध कम हो रहा है और यह महसूस किया जा रहा है कि बिना समाजवादी-साम्यवादी शक्तियों की एकता के साम्प्रदायिक शक्तियाँ इस देश को मजहबी और जातिवादी गृहयुद्ध में फंसाकर खंडित कर देंगी; यों वे गीत 'अखण्ड भारत' के गाती रहेंगी।

जनता पार्टी के शासन के प्रारम्भ में, जो साम्यवाद-विरोध उग्र हो रहा था, वह अब जनता पार्टी से टूटे हुए 'लोकदल' में न केवल समाप्तप्राय है, बल्कि साम्यवादी दलों को अब स्वीकृति और सम्मान मिल रहा है क्योंकि वे संरचनात्मक परिवर्तन के न केवल विशेषज्ञ हैं अपितु वे साम्प्रदायिक शक्तियों के उग्र विरोधी भी हैं।

अतएव, साम्प्रतिक अराजकता और दिग्भ्रम के मध्य राजनैतिक शक्तियों का ध्रुवीकरण चल रहा है जो अराजकता और अपरिवर्तन का एकमात्र उपचार है। लेखक इस सम्भावनापूर्ण ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्र कर सकते हैं।

साहित्य में वामोन्मुख या प्रगतिशील लेखकों के लेखन में वही मूल परिवर्तन की चुनौती और आँच है जो सप्तम दशक में शुरू हुई थी। इस मानचित्र में यदि ध्रुवान्त पर महाश्वेता देवी (बंगला) के उपन्यास हैं तो मध्य में 'नगरपुत्र हँसता है' (धर्मेन्द्र गुप्त) जैसे उपन्यास हैं। इस ध्रुवीकरण के प्रारम्भ-बिन्दु हमें 'गोबर गणेश' (रमेशचन्द्र शाह) जैसे उपन्यासों में मिल सकते हैं, जहाँ कोई समाजवादी बोध तो नहीं है पर पिछड़ेपन पर चोटें हैं और ग्राम्य अंचलों और नागरिक जीवन के विरोधी रंग हैं।

'नगरपुत्र हँसता है' में धर्मेन्द्र गुप्त नागरिक जीवन में सर्वत्र स्वार्थपरता देखकर अपने नायक को ग्रामांचलों में ले जाने का विकल्प पेश करते हैं, जहाँ जन-पक्षधर सशस्त्र संग्राम शुरू किया जा सकता है। महाश्वेता देवी के उपन्यास में

नक्सलपंथियों के असफल मगर महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी उभार को अप्रत्यक्ष रूप से उभारा गया है। "बची हुई पृथ्वी" में लीलाधर जगूड़ी इस तथ्य को नोट करते हैं कि अब लोग पेट से ही पागल पैदा होने लगे हैं और यह भी कि 'बलदेव खटिक' जैसे अपमानित साधारण जनों की बदहवासी में जो आक्रमण होगा, उसमें वर्गशत्रुओं का वध होगा, सिर्फ कौओं का नहीं :

> यह केवल अफवाह नहीं कि देश में कुछ लोग
> पेट से ही पागल होकर आ रहे हैं
> लेकिन वे जब फायर करेंगे
> तो यह तय है कि
> इस बार कौवे नहीं मरेंगे !

'साक्षी रहे वर्तमान' में गिरिजाकुमार माथुर जैसे वयस्क कवि अपने कला-कौशल के बावजूद बार-बार समस्त साधारण जन के धोखा खाने और पिशाचों (प्रतिक्रियावादियों) द्वारा किए गए इस प्रवंचना-कार्य की निन्दा करते हैं :

> इस तरह कोई भी उसे नाम दो
> हर बार नई-नई शक्लें धार कर
> वह पिशाच बलि लेने आता है
> हर बार लोगों को मेढ़ों में बदल जाता है।
> (साक्षी रहे वर्त्तमान)

इन पंक्तियों से अराजनैतिकता का भी भय हो सकता है क्योंकि कवि किसी भी राजनैतिक शक्ति में यकीन नहीं रखता लेकिन गिरिजाकुमार ने मुझे लिखा है कि उनका अभिप्राय भ्रष्ट दलों से ही है।

इसी तरह 'सच सूर्य है' कविता-संग्रह में रमेश कौशिक लेखकीय विवशताओं को 'बाजे वाले' कविता में यों कहते हैं :

> कोई कुछ भी कहे, हमें बाजा बजाना है
> दूल्हे को पसन्द, राग वह सुनाना है
> हमें इससे क्या, दूल्हा कम्यूनिस्ट है या कांग्रेसी
> जनता पार्टी का या हिन्दूसभाई
> लोकनायक, महात्मा, तानाशाह या कसाई
> जो घोड़े पर बैठेगा, अपने लिए दूल्हा है
> हम बाजे वाले हैं, हमें बाजा बजाना है !

क्या यह सच नहीं है कि जनता पार्टी का शासन कायम होते ही उसका वामपंथविरोधी रुख देखकर कई लेखक, जो पहले प्रगतिशील और क्रान्तिकारी चेतना के हमदर्द थे, अचानक व्यवस्था के प्रति 'विनयशील' हो गए ? प्रमाणस्वरूप यहां डा० विनय की 'पुनर्वास का दण्ड' शीर्षक कविताहीन दीर्घ कविता का जिक्र किया

जा सकता है। डा० विनय और उन जैसे कई भूतपूर्व व्यवस्थाविरोध का दम भरने वालों ने साफ देखा था कि साहित्य और आलोचना की केन्द्रवर्ती, अग्रगामी क्रान्तिकारी वामपंथी चेतना को धता बताकर, राजनैतिक चेतना और पूंजीवादी जीवन-पद्धति और पूंजीवादी व्यवस्था को चुनौती देने वाली साहित्यिक अग्रगामिता को गाली देकर पूंजीवादी साहित्य-प्रेस की पूर्ण अनुकूलता प्राप्त करने का समय आ गया है। अतः अत्यन्त दृष्टिहीन और अवसरवादी तरीके से 'पुनर्वास का दण्ड' में उन्होंने समकालीन, सर्वव्यापी परिवर्तन-चेतना को तात्कालिकता में बदलकर अपनी कवितात्मक सम्भावनाओं का नाश किया। इसी तरह नन्दकिशोर मित्तल ने मार्क्सवादी होने का दम भरने पर भी पूंजीपतियों के विरुद्ध न लिखकर पूंजीवाद-विरोधी साम्यवादी शक्तियों पर चोट की और चन्द्रकान्त बाँदिबडेकर जैसे होनहार किन्तु अबोध आलोचकों ने ह्रासशील और प्रगतिशील रचनाओं में भेद न कर यह सिद्ध करना चाहा कि रचनात्मक मूल्य वास्तविक जीवन-संघर्ष से असम्बन्धित है। कृति सिर्फ एक संरचना नहीं होती, उसमें व्यक्ति-विशेष के माध्यम से वास्तविकता बोलती है और उस वास्तविकता के प्रतिबिम्बन में यह देखा जाना जरूरी है कि कौनसी रचना व्यवस्था के मुख्य अन्तर्विरोध को अनावृत करती है। अतएव, वांछनीय सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन की दृष्टि से जनमुक्ति के लिए रेडिकल, यथार्थ-दर्शक उत्कृष्ट रचनाओं का महत्त्व अधिक है।

मात्र रचनात्मक दृष्टि मूल्यांकन के लिए अधूरी है क्योंकि रचना का तत्त्व अविश्लेषित रहेगा और जीवन्त यथार्थ या केन्द्रवर्ती प्रवृत्ति तत्त्व में रहती है, फार्म में नहीं। एक ही तत्त्व को यथार्थवादी, फंतासीपरक, अतियथार्थवादी रूपों और शैलियों में व्यक्त किया जा सकता है किन्तु मात्र बाह्य प्रतीति से अन्तरस्थित तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः साहित्य को जीवानुभव से कृति की ओर चलकर ही समझा जा सकता है।

मानवमुक्ति के लिए सर्वाधिक भावात्मक उत्तेजना और मानवीय सौन्दर्यबोध उत्पन्न करने वाली रचनाएँ उपयोगी हैं। इसी तरह आधुनिकता के नाम पर बौद्धिक जमात द्वारा मूल्यहीन अवसरवाद या जड़ता की स्थिति को तोड़ने वाली कृतियाँ क्षयशील रोमांस के लेखन से अधिक मूल्य रखती हैं। इसे न मानने वाला आलोचक, जन पक्ष का नहीं, अभिजन पक्ष का है।

अभिजनपक्षीय आलोचक सिर्फ सामाजिक भय से नाजी और अन्य फासिस्ट और साम्प्रदायिक लेखकों की कृतियों का खुला समर्थन नहीं करते अन्यथा उनका समीक्षाबोध उन्हें अमानवीय लेखन को भी कला के आधार पर स्वीकृति देने की ओर ले जाता है। चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, अज्ञेय और मुक्तिबोध में मूल अन्तर को नजरन्दाज कर उन्हें एक कोटि में रखना चाहते हैं। ऊपरी सादृश्यों (रूपगत और शैलीगत) के आधार पर 'कनुप्रिया' और 'बची हुई पृथिवी' (जगूड़ी) को एक कोटि

में नहीं रखा जा सकता क्योंकि इनके तत्त्व (कण्टेण्ट) भिन्न और परस्पर विरोधी हैं। एक सार्वभौमिक प्रकार का मादन-भाव या प्रेम, मानवीय होने पर भी संघर्ष-काल में पथभ्रष्टक हो सकता है। अज्ञेय, जीवन-संघर्षकर्त्ताओं के साथी नहीं, अभिजन के संस्कार-सुधारक और बुद्धि-रंजन कर्त्ता हैं। मुक्तिबोध का सृजन उच्चतर कोटि का होने पर भी मुक्तिचेतना जगाता है, यथास्थितिशीलता या मनोहर दिग्भ्रम नहीं, उनकी फंतासी में तथ्य है।

इसी तरह, रोमानी दृष्टि से देखी गई बम्बई और जगदम्बाप्रसाद दीक्षित की रचनाओं में प्रस्तुत बम्बई भिन्न है। प्रथम मुग्धता जगाती है, दूसरी विद्रोह। मुग्धता निर्णायक संघर्ष में अमानवीय मूल्य है, सामान्य मानवता की संवेदना का आग्रह उस लड़ाई को कमजोर करता है जो यथार्थ के प्रति सचेत, उसके सतत साक्षात्कर्त्ता लेखक और बौद्धिक समूह के अन्तर्मन में चल रही है और जो जनसमर्थक बौद्धिकता और सर्जनात्मक लेखन में प्रकट हो रही है।

मुझे किसी ने बताया कि दिल्ली के एक पूंजीवादी प्रतिष्ठान के सम्पादक-कवि ने यह चाहा कि उन्हें मुक्तिबोध की बगल में खड़ा कर दिया जाए और एक 'प्रगतिशील' (?) आलोचक ने कहा कि यह रफ्ते-रफ्ते हो जायेगा!

अनेक कविताओं में यह 'आत्मप्रतिष्ठावाद' परिहास का विषय न रहकर अब वितृष्णा का विषय है। इस आत्मबिम्बवाद ने बहुत-से लेखकों को चुप कर रखा है। कुछ मित्रों का विचार है कि घटनाएँ इतनी तेजी से घट रही हैं; अप्रत्याशित पक्ष-परिवर्तन चल रहा है कि कोई स्थायी मत और मन नहीं बनाया जा सकता, अतः प्रतीक्षा की मनःस्थितियाँ ही चित्रित हो सकती हैं या जो हो रहा है, उसका अंकन, भुगतते हुए आदमी की बदहवासी और नियतिनिर्णायकों की बदी, तथ्य से पलायन कर, फंतासियों में तथ्यदर्शन और असहायता के स्वरों में उसका रूपायन।

लेकिन यह कोई वांछनीय दशा नहीं है क्योंकि साम्प्रतिक अराजकता और मूल्यभ्रंश में आशंकाएँ भी हैं और जब तक हजारों-लाखों लोग प्रतिक्रियावादियों की मनमानियों के खिलाफ हैं, तब तक परम्परा से प्राप्त अरण्यरोदन की प्रवृत्ति आत्मघातक है।

यह भी गलत है कि सर्वत्र निष्क्रयता है या यह कि लोग लड़ नहीं रहे, लड़ाई का साहित्य लिख रहे हैं या लड़ाई की इच्छा या कल्पित मोर्चों का किस्सा। किन्तु लड़ाई के बहुस्तरीय रूप हैं। जो जहाँ है, वहाँ वह अपनी श्रेणी के लिए लड़ रहा है। यदि संघर्ष–शीलता ही न हो, तो चिन्ता की बात है किन्तु सीमित संघर्ष को फैलाया जा सकता है, अथवा गलत लड़ाई को सहीपन दिया जा सकता है।

द्वितीय, स्वतन्त्रता के आगमन के बावजूद जनता पार्टी के प्रशासन में व्यक्तिवादी प्रभावशाली व्यक्तियों का वर्चस्व निजी और राष्ट्रीयकृत संस्थाओं में आज भी कायम है। वे काहिल को बरदाश्त कर सकते हैं, लेकिन किसी व्यवस्था-विरोधी को नहीं। अतएव, कहीं नन्द चतुर्वेदी एक मग़रूर संस्था-पति की कार के आगे लेटे हुए नज़र आए, तो कहीं किसी मदान्ध कुलपति ने किसी वामोन्मुख बुद्धिजीवी को निकाल दिया। विश्वविद्यालयों में भी यह मान-सम्मान, आर्थिक समता और सद्व्यवहार की लड़ाई जारी है। सुधारवादी होने पर भी यह लड़ाई व्यवस्थापकों-निदेशकों, संस्था-अध्यक्षों, कार्यसमिति के सदस्यों, एक शब्द में, शासकवर्ग के विरुद्ध हैं क्योंकि वैषम्य की अनुभूति सर्व-बुद्धिजीवी वर्ग करता है, कम-से-कम अपने लिए !!

संगठन जहाँ प्रबल हैं, वहाँ प्रबुद्ध श्रमिकों और बौद्धिक श्रमिकों के नेतृत्व और सदस्यों से प्रशासन डरता है, अतः कुलपति और सेठ को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। जिस दिन कारखानों और सरकारी प्रतिष्ठानों में. श्रमिक संगठन निर्णायक शक्ति प्राप्त कर लेगा, संरचनात्मक परिवर्तन हो जायेगा।

राजस्थान में कुछ प्रगतिशील संघर्षशील साहित्यशिक्षकों और लेखकों को, जनता सरकार के एक घटक के दक्षिणपंथी अधिकारियों का कोपभाजन बनना पड़ा। डा० जगतपाल सिंह (प्रगतिशील लेखक सम्मेलन, भरतपुर के संयोजक), को सरकारी नौकरी में अन्यत्र स्थानान्तरित कर यातना दी गई। कामायनी की छाया मात्र एक काव्यकृति को पुरस्कृत किया गया। फिर भी प्रान्त-भर में दमन के भय से शिक्षा और साहित्य-शिक्षा के क्षेत्र में साम्प्रदायिक तत्त्वों पर आक्रमण नहीं हुआ। इससे साम्प्रदायिक तत्त्व और अधिक उत्साहित हुए।

साहित्य के प्रति सरकार और समाज की उपेक्षा का यह हाल है कि ओमप्रकाश निर्मल ने महीनों जयपुर को मथा, मगर किसी प्रतिष्ठान ने उसकी योग्यता से लाभ नहीं उठाना चाहा। शैक्षणिक जगत् में यान्त्रिक प्रतिमान (परीक्षा के अंकों का प्रतिशत) चल पड़ा है, जिससे साहित्य के प्रति स्वभाव से समर्पित युवकों का कैरियर बेईमानी या कार्यतत्परता के अभाव के कारण, चौपट हो रहा है। कभी-कभी मुझे लगता है कि पूंजीवाद के अगले सोपान में यहाँ भी साहित्य विशेषज्ञों और लेखकों तक ही सीमित हो जाएगा। साहित्यिकनुमा युवक को रचनात्मक होने मात्र से कोई महत्त्व नहीं मिल रहा है। अतएव साहित्य स्वभाववश नहीं, अवकाश में ध्यानान्तरण (डाइवर्जन) के लिए लिखा जा रहा है।

फिर भी यह सच है कि हमारे बाह्य से अन्तर्मन अधिक मजबूत हैं। समूह में समाजवादी मूल्यों का आदर होता है, व्यक्तिवादी की सिद्धान्तहीन आत्मग्रस्तता नहीं। व्यक्तिवादी का महत्त्व एक विशिष्ट प्रकार की रचनाओं के कारण है। व्यक्ति-मनोविज्ञान की दृष्टि से भी वे महत्त्व रखती हैं किन्तु लेखकीय विकल्प के चयन-का

बिन्दु इस प्रश्न में हैं कि अपनी खुदाई के साथ इस व्यापकविराट् जनसमाज के जीवन और उसकी मुक्ति के प्रयत्नों के साथ भी हमदर्दी और सहभागिता जरूरी हैं या नहीं ? स्वस्थ व्यक्तिवाद मानव-विवेक की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मानवीयता की भी मांग करता है और मानवीयता का सर्वोच्च रूप मुक्तिकामना की पूर्ति के लिए समकालीन बौद्धिक, रचनात्मक, और राजनैतिक-सामाजिक संघर्ष के समर्थन में है । कहना न होगा कि यह पक्षधरता मानव-विवेक की रक्षा करेगी, आत्मालोचन में कठोर रहेगी अतः मूल्यांकन-क्षण में पक्षधर दृष्टि अपने-विराने के प्रति तटस्थ रहकर भी साथ उन्हीं का देगी जो प्रतिक्रियावाद से लड़ रहे हैं, चाहे वे सीमित प्रयोजनों से लड़ रहे हों या व्यापक प्रयोजनों-प्रेरणाओं से ।

इस प्रकार लेखक अब इस तृतीय स्वतन्त्रता के आगमन के समय सोचें कि वे कहाँ खड़े हैं और क्या लिख रहे हैं ।

व्यक्तित्व बनाम व्यापकता

डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर के लेख 'साठोत्तरी कविता का नव प्रवाह' ("धर्मयुग", 2 जुलाई 1978) में मेरी किताब 'समकालीन कविता की भूमिका' तथा अन्य प्रकाशित निबन्धों से, समकालीन कविता के नकारात्मक पक्षों पर मेरे पर्यवेक्षणों को उद्धृत करने के बाद चन्द्रकान्त जी ने मुझे यों समझाया है :

"विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की अन्तिम मान्यता के बारे में इतना ही कहना है कि व्यक्ति की धारणा पर बल देकर नई कविता ने कविता के सामूहिक कृतित्व होने से बचाना चाहा था जो खतरा प्रगतिवादी आन्दोलन की दिशा में सन्निहित था।"

लेकिन, डा. बांदिवडेकर ने यह नहीं बताया कि 'नयी कविता' के व्यक्तिवादियों के सृजन-चिंतन में कौन सा खतरा निहित था ? क्या नयी कविता के व्यक्तिवादी पृष्ठ पोषकों के कृतित्व और विचारणा में, उनके व्यवहार और उनकी राजनीति में, व्यापक मानव मूल्यों और ममताओं का विरोध सन्निहित नहीं था ? क्या इसी घोर व्यक्तिवादी साम्यवाद और प्रगतिवाद विरोधी प्रतिक्रिया की झोकों तथा यूरोप के टी. एस. एलियट जैसे कवियों और निराश एवम् आत्मग्रस्त अस्तित्ववादियों के प्रभाव के आधार पर, साम्यवाद और प्रगतिवाद का जमकर विरोध नहीं किया गया ?

और, यदि यह हुआ तो उस अतिवादी-व्यक्तिग्रस्तता के खिलाफ साठोत्तरी कविता में, राजकमल चौधरी, केशनी प्रसाद चौरसिया वगैरह की बागी कविताओं (रिबेल पोयट्री—भूखी पीढ़ी, विद्रोही पोढ़ी) ने क्या विद्रोह नहीं किया ? 'नयी कविता' कविताविधा की दृष्टि से दो बिन्दुओं पर पुरानी कविता से भिन्न हुई थी। प्रथम—गन्द्योन्मुखता (नियरनैस टू प्रोज़) तथा अभिव्यक्ति की नवीनता (नये बिम्ब, नये पदविन्यास आदि)। इन दोनों बिन्दुओं की परिव्याप्ति सभी प्रकार के नये कवियों में है और इन दो बिन्दुओं की दृष्टि से 'नयी कविता' के रूप (फार्म) का सिलसिला अभी तक जारी है।

लेकिन, साहित्य की गति को जिन्होंने ध्यान से देखा है, साहित्य और उसके रचयिता को जिन्होंने निरपेक्ष-सृजन न मानकर उसकी परम्परावलम्बनात्मकता का अध्ययन किया है तथा इतिहास-प्रवाह में रचनाकार और रचना को रख कर जांचा

है एवम्, सार्वजनिकता और अनुमपता के सूक्ष्म और जटिल रिश्तों : रंग-रेशों का तानाबाना—सुलझाया है; वे जानते हैं कि साहित्य में रूप से अधिक महत्व तत्व (कन्टेन्ट) का है, उसी प्रकार, जिस प्रकार मनुष्यों में, स्त्री-पुरुषों में, रूप प्रथम-आकर्षण के बाद अपना असर खोने लगता है और तत्व (मानवीय गुण, उपलब्धियां आदि) अपना स्थायी प्रभाव जमाने लगता है। शाश्वतता का आधार यही तत्त्व है।

डा. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर यह नहीं देखना चाहते कि साहित्य में बुनियादी परिवर्तन नये कथ्य की माँग पर होते आये हैं और इस कथ्य या तत्व में सामाजिक आवश्यकता और स्वतन्त्रता (सोशल नेसैसिटी एण्ड सोशल फ्रीडम) के प्रति लेखकीय जागरूकता शामिल है। मसलन्, भारतेन्दु युग में रीतिकालीन व्यक्तिवाद अथवा भोगी वर्ग के ह्रासशील व्यक्तिवाद (भोगवाद) से हटकर नवीन सामाजिक चेतना की मांग की गई थी। अतः पारम्परिक काव्य की जगह गद्यलेखन को बल मिला। यह प्रवृत्ति द्विवेदी युग में और बढ़ी, जब द्विवेदी जी ने रीतिकालीन 'दृष्टिकोण' पर प्रहार किए और कविता को प्रकृति और सुधारपरक चेतना से प्रतिबद्ध किया। यह अजीब बात है कि मित्रों को यह कथ्य-परिवर्तन तो पसन्द आया लेकिन जब इसी कथ्य-परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रगतिवाद ने वर्ग-वर्णविहीन समाज संरचना और उसके लिये साहित्य के क्षेत्र में नये दृष्टिकोण और नये समाजवादी मूल्यों को अभिव्यक्त करने पर बल दिया तो 'नयी कविता' के कतिपय कवियों को लगा कि प्रगतिवाद की खाल ओढ़ कर कम्युनिज्म व्यक्तित्वों को नष्ट करने और सभी को पार्टी का गुलाम बनाने का षड़यन्त्र कर रहा है। फलतः अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही आदि ने अपनी 'नयी कविता' को केवल वैयक्तिक अनुपमताओं या अद्वितीयताओं तक सीमित कर दिया और साहित्य को उस सामाजिक-चेतना या व्यापक मनोभूमियों से काटना चाहा जो व्यक्तिवैशिष्ट्य की विरोधिनी नहीं होतीं, वर्गहितों, शोषणों और वर्ग-पराधीनताओं की शत्रु होती हैं। सामूहिक मानस में जो एक सामान्य, व्यापक मुक्ति की इच्छा होती है, जिसे 'जनेच्छा' (जनरल विल) कह सकते हैं और जो क्लासिकल-साहित्य में वाल्मीकि से लेकर प्रगतिवादियों तक सभी के सृजन की बुनियाद में अवस्थित है, वह 'मानवकरुणा', वह व्यापक जनहित कामना, वह जननिष्ठा, टी. एस. एलियट के निराशावादी दर्शन और प्रतिक्रियावादी विश्वासों (पुरानी ईसाइयत में श्रद्धा) के आवेश में भुला दी गई और पहली बार ऐसा प्रतीत हुआ कि अब कविता और कला का काम सिर्फ अलग-थलग पड़े व्यक्तियों (नदी के द्वीपों) के लघुजीवन के छोटे-मोटे मूडों और जब-तब चमकीले क्षणों या कौंधों को अनूठे बिम्बों में बांधना है या यह कि उसका काम मनुष्य की व्यापक मनोभावनाओं और संकल्पों से नहीं है।

यह भी नहीं देखा गया कि टी. एस. एलियट पाश्चात्य यूरोप के औद्योगिक तकनीकी समाजों की महत्वाकांक्षाओं और प्रतियोगिताजन्य युद्ध के सन्दर्भ में बोल

रहा था, जबकि हमारे देश में चुनौती अभाव, पिछड़ेपन, पराधीनता, नवनिर्माण और आमूलचूल सामाजिक परिवर्तन की थी। इसलिए डा. चन्द्रकांत से यह पूछा जाना जरूरी है कि यदि प्रगतिवाद व्यक्तित्वविरोधी था तो नयी कविता के रूपवृत्त के ही भीतर, मुक्तिबोध जैसा व्यक्तित्व कैसे पैदा हो गया? नयी कविता के सारे अनूठे, अद्वितीय कवि-व्यक्तित्वों के नीचे से काव्य धरती क्यों खिसक गयी और मुक्तिबोध (या छायावाद रूपवृत्त के भीतर 'निराला') हिन्दी के लेखकों के लिए मुक्तिप्रतीक क्यों बन गए? व्यक्तित्व संगठित संघर्ष में खिलता है या मुरझा जाता है?

इसका मतलब है कि व्यक्तित्व और मानवीय सन्दर्भ अथवा व्यक्तित्व और सामाजिक आवश्यकता और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कोई दृश्य या अदृश्य अविच्छिन्नता अवश्य है, जिसे डॉ. चन्द्रकान्त और अन्य 'धर्मयुगीन' ढंग से सोचने वाले नज़रअन्दाज़ कर जाते हैं। फलतः उनका विश्लेषण मानवविरोधी हो जाता है।

दरअसल, प्रगतिवादियों ने व्यक्तियों से चरम त्याग और बलिदान की माँग की थी। जनमुक्ति के लिए जनक्रान्ति का आह्वान किया था। 1947–49 में जब प्रगतिवादी किसान-विद्रोह (तेलंगाना) के साथ तादात्म्य कर रहे थे और देश के 'बूर्ज्वाराष्ट्रवादी' नेताओं, नेहरू-पटेल वगैरह पर आक्रमण कर रहे थे; तब 'प्रतिक्रियावादी' नये कवि साहित्य में टी. एस. एलियट और अस्तित्ववादी मनोगततावाद का हिन्दी में आयात कर रहे थे और मासूम पाठकों पर रौब ग़ालिब कर रहे थे कि वे ही व्यक्तित्व, कला और कविता तथा संस्कृति के संरक्षक-सर्जक हैं, साम्यवादी तो सामूहिकतावाद के आवेश में मात्र नारेबाजी करते रहते हैं। इसी जेहनियत के लोग 'फोरम फार कल्चरल फ्रीडम' मंच पर आसीन हुए।

व्यक्तित्व और सृजन-चिंतन, बड़े संघर्ष, बड़े मूल्य और व्यापक मान्यताओं के लिए जूझने से सम्बन्धित हैं। अतः साधनहीन भारतीयों ने पहचान लिया कि उनके लेखक निराला तथा मुक्तिबोध हैं, अज्ञेय और अन्य साम्यवाद-विरोधी नहीं।

साहित्य और समाज में अब पक्ष निश्चित हो चुके हैं। अब डा. चन्द्रकान्त को तय करना है कि वह जनवादी व्यक्तित्वों का साथ देते हैं या व्यावसायिक एन्टी-कम्युनिस्ट या पूँजीपति वर्ग के सेवकों-समर्थकों का?

कोई तर्क, कोई लकदक शब्द-विन्यास जीवन की हकीकत को नहीं छुपा सकता। जो हजारों वर्षों से जनसाधारण और 'अभिजन-महाजन-असाधारण' के बीच लड़ाई जारी है, उसमें आप किसके पक्ष में हैं, इसी आधार पर व्यक्तित्व की उत्कृष्टता या संकीर्णता का मसला तय होगा।

डॉ. चन्द्रकांत कविता के आधार पर यह साबित नहीं कर सकते कि साठोत्तरी कविता का नवप्रवाह व्यक्तित्वहीन है। इसी तरह 'गुनाहों का देवता' और 'मुर्दाघर' (जगदम्बा दीक्षित) में कौन श्रेष्ठ है? महेन्द्र भल्ला, कृष्ण बलदेव का लेखकीय

व्यक्तित्व बड़ा है या ज्ञानरंजन का ? ज्ञानरंजन की 'घंटा' और 'बहिर्गमन' की टक्कर की कहानियाँ वैयक्तिक अनुपमता के कारण बन पाई हैं या व्यापक जनचिन्ता के कारण ? स्वसंवेदन और परसंवेदन के परस्पर विरोधी छोर कहाँ मिलते हैं ? इनकी द्वन्द्वात्मकता की संगति मुक्तिबोध में है या अज्ञेय और भारती में ?

'कला कला के लिए' मानने वालों ने भी संवेदन, प्रतीति और संवेग की सघनता या आन्तरिकीकरण को सृजन की श्रेष्ठता का हेतु माना है । क्या परसंवेदन में सघनता या गहराई असम्भव है ? जनवादी लेखकों में श्रेष्ठता या कलात्मक उत्कृष्टता का निकष यह होगा कि क्या उनका परसंवेदन गहरा है ? यदि स्वसंवेदन गहरा हो सकता है तो परसंवेदन गहरा क्यों नहीं हो सकता ?

और, यदि जनसंवेदन सच्चा और गहरा हो सकता है तो उसके वर्णन के क्रम में स्वसंवेदन या व्यक्तिगत मनोभावनाओं या निजी अनुभूतियों के वर्णन में बाधा कहाँ है ? मेरा मतलब सैद्धान्तिक स्थिति से है । सिद्धान्ततः, परसंवेदन या व्यापक जीवनदशाओं के पर्यवेक्षण के क्रम में निजी अनुभूतियों की अभिव्यंजना में कोई बाधा नहीं है । अब यह प्रयोक्ता की शक्ति पर निर्भर है कि उसके लेखन में व्यक्ति और व्यापक जीवनस्थितियों का समीकरण हो पाया है या नहीं ?

सुखद आश्चर्य यह है कि कई कलावादियों का ध्यान भी व्यापक मानव-मूल्यों की ओर गया था, भले ही उनके अपने जीवन और साहित्य में उनका अभाव रहा हो । मसलन्, ऑस्कर वाइल्ड[1] ने ईसा मसीह के व्यक्तित्व में कलाकार की पूर्णता को देखा था जबकि डा० चन्द्रकान्त पंगु या आधी-अधूरी सहानुभूतियों के नये कवियों को साठोत्तरी कविता लेखकों से बड़ा सिद्ध करना चाहते थे ।

ऑस्कर वाइल्ड ईसामसीह को इस वजह से पूर्ण कलाकार मानता था क्योंकि मसीहा की जनानुभूति में ऊपरीपन नहीं था । वह जनात्मा से एक और अभिन्न हो चुका था और शासक और भोगी वर्गों को भटका हुआ मानता था, जनविरोधी मानता था । यदि मसीहा का 'कंसर्न' सच्चा और गहरा न होता तो वह चरम बलिदान के क्षण कम्पित हो जाता । अतः ऑस्कर वाइल्ड के अनुसार जो अनुभूत है, वह सही है, जो अनुभूत नहीं है, छिछला है, ऊपरी है, वह गलत है :

The supreme vice is shallowness. Whatever is realised is right.[2]

अब इस निकष को साठोत्तरी कविता पर लागू करें तो ज्ञात होगा कि जो जहाँ प्रभावित करता है, वह इसीलिए करता है, क्योंकि वह अनुभूत लगता है और जहां जो अनुभूत (realised) नहीं लगता, वहाँ वह मात्र प्रचार लगता है, जो लेखक की परसंवेदन की गहराइयों में उतरने की अयोग्यता को प्रमाणित करता है ।

---

1. कलेक्टेड वर्क्स—ऑस्कर वाइल्ड
2. वही, पृष्ठ 874

क्या चन्द्रकांत ने स्वयं समकालीन कविता की गहराई में उतर कर अनुभूत और अननुभूत हिस्सों को अलग किया है अथवा उनकी प्रतीति मात्र सामग्रिक है ? कोरे सिंहावलोकनों में अक्सर प्रभावक पक्ष भी अदृश्य हो जाते हैं और बहुत ऊँचे उठकर देखें तो नीचे के लोग कीड़े-मकोड़े से रेंगते-दौड़ते-लड़ते-भिड़ते नज़र आते हैं। यह स्थिति उन आलोचकों-अध्यापकों की है जो ज़मीन पर हैं ही नहीं। वे तो किसी अतिस्वन वाले जेट विमान पर विराजे हुए हैं और आदमी के दुःख-दर्दों को दूर से यूं देखते हैं जैसे एहसान कर रहे हों, गोया, उन्हें मनुष्य में दिलचस्पी न हो, सिर्फ कलावस्तु (कलाबत्तू !) में रुचि हो। साहित्य मात्र 'कलाबत्तू' नहीं है, वह मिश्रित कला है। उसमें अन्य कलाओं का मिश्रण होता है और उसे तत्व और स्थायित्व मानवीय,—सारतत्व (Human essence) से मिलता है, मनुष्य की भावनाओं और दृष्टिकोण से उपलब्ध होता है।

'नयी कविता' के कतिपय व्याख्याकारों ने तो कविता से भावनाओं को भी बहिष्कृत कर दिया था, इस तर्क के अधार पर कि यह बौद्धिक युग है। मज़ा यह है कि इन बौद्धिकों की बौद्धिकता दुर्बल, अप्रासंगिक और जनविरोधी साबित हुई और वे साठोत्तरी-साहित्य में यूरोप के ह्रासशील लेखकों के लाउडस्पीकर मात्र रह गए।

साठोत्तरी कविता के नवप्रवाह में आकर्षक शब्द-विन्यास, सार्थक वक्तव्य और देशी बिम्ब ही नहीं हैं बल्कि कविताओं की कोखों में भावनाओं : संवेगों की बाढ़ भी है जिससे कविता, क्षणों के 'लाकर्स' की जगह, उत्तेजित जनचित्त के आक्रामक प्रवाह को गति और गरज देती हैं। सामाजिक-दर्शन और संवेग की उत्तालता का एक नया समीकरण साठोत्तरी कविता में उदित हुआ है, बावजूद उन सब कमजोरियों के, जिन पर मैं बार-बार हमला बोलता रहा हूँ और उन रचनागत न्यूनताओं के लिए मैंने किसी को भी माफ नहीं किया है, अपने को भी नहीं।

मात्र न्यूनताओं का रेखांकन करना, उपलब्धियों को छुपाना, मात्र रूप की बात करना, तत्व की उपेक्षा करना, मात्र 'सोच' की चिंता करना, संवेदन की संकीर्णता की बात न करना, व्यक्तित्व को मानवीय सन्दर्भ से मानवहित के लिए हो रहे संघर्ष से काटकर देखना' यह सब सैद्धान्तिक दृष्टि से द्वैतवाद और अणुवाद (एटोमिज़्म) है और दर्शन के क्षेत्र में भी ये दृष्टियाँ पिट चुकी हैं। समग्र मानव की बात करते समय यदि कोई विवेचक मुख्य संघर्ष की आवश्यकता या केन्द्रीय अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता पर बल नहीं देता तो वह 'सामान्य' द्वारा 'विशिष्ट' को मारता है जबकि वह दावा यह करता है कि वह विशिष्ट का संरक्षक है।

साठोत्तरी कविता का बीज और बीजभाव मानव-करुणा है, परसंवेदन है जिसकी मुख्य धारा प्रगतिवादी या मार्क्सवादी सर्जनात्मकता में उच्छलित हो रही है। प्रगतिवाद विरोधियों या एन्टीकम्युनिस्ट लेखकों को साठोत्तरी साहित्य में,

नवप्रगतिवाद के रूप में प्रगतिवाद की वापसी कष्ट दे रही है। उनके द्वारा पूंजीवादी साहित्यिक पत्रों पर क़ब्जा जमा लेने के बावजूद, हिन्दी के विराट जनक्षेत्रों में से कुकुरमुत्तों की तरह फूट पड़ने वाली लघुपत्रिकाओं द्वारा मार्क्सवादी विश्वबोध और समाजवादी मानवमूल्यों का पुनः अभ्युदय, पैती-बूर्ज्वा जेहनियत के जनभीरु लेखकों को खटक रहा है लेकिन इसके दोषी वे स्वयं हैं, उनके आश्रयदाता लोग हैं, उनके मालिक और हुक्मरा लोग है। उसके दोषी हम नहीं हैं, क्योंकि हमें तो यह ज्ञान नई कविता के प्रतिक्रियावादी लेखकों के जमने के पूर्व ही हो चुका था कि इस देश की पीड़ित-शोषित जनता की मुक्ति का सवाल समाजवाद से ही तय हो सकता है।

'इंस्टिटिक एडवेंचर' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में विलियम गोण्ट (W. Gount) ने 'हार्ड जैमलाइकफ्लेम' के रूप में सौन्दर्य को देखने वाले कलावादियों की स्वग्रस्तता-जन्य अनैतिकता, बुराई (इविल) और कम्पन को यूँ दिखाया है।

> *In this egoistic vision of ideal beauty there lurked a poision—the same poision as in the poems of Baundelaire, from the study of whom Pater may have imbibed it direct. It was the sense that Something vaguely evil was to be found at the very centre of beauty, an evil not to be avoided but to be embraced and enjoyed by the writer. An excitement was given to the quest for the perfection of the gods by the idea that it held some corrupt and diabolic secret.*

ऑस्कर वाइल्ड के 'ए पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' में सौन्दर्य के भीतर छिपे इस विकृत और आत्मविनाशक तत्व को अंकित किया गया है। क्या 'समग्र मानव' के नाम पर हिन्दी के लेखक कलावादियों की तरह कल्पित वातावरण बनाएँ; एकांतिक आत्मरतियों में डूब जाएँ और सौन्दर्य स्थित 'ईविल' का आनन्द लेते हुए मानवीय चुनौतियों से भाग जाएँ ? क्या हिन्दी के लेखक स्वयं—अनुभूत यथार्थ को अनदेखा कर छायावादियों की तरह अल्लाह से ऐय्याशियाँ करें या परिमल ग्रुप के नये कवियों की तरह यह मानलें कि कविता का सम्बन्ध सिर्फ़ निजी क्षणों के साथ है, जनप्रवाह के साथ नहीं ?

क्या अकवितावादियों की तरह लेखक मनुष्य में सिर्फ कुत्सा देखें और सम्भावनाओं से आंखें मूँद लें ? क्या वे मानव-उद्धार के उन सपनों से अपने को अलग कर लें जिन्हें मानवता हमेशा से देखती रही है और संकट और शोषण के भयंकर क्षणों में भी उसे आशा रही है कि अन्त में उसकी विजय होगी ? क्या इसी अदृश्य, रहस्यमय-सी लगने वाली जनेच्छा को साठोत्तरी कविता ने व्यक्त नहीं किया है ? क्या उसकी क्रान्ति, कामना और क्षोभ सर्वत्र ऊपरी और बनावटी हैं ? क्या

---

1. वही पृष्ठ 69

जो उसमें श्रेष्ठ और वरेण्य है, उसे पूंजीवादी पत्रों और उनके आलोचकों–लेखकों ने पाठकों के सामने बार-बार रखा है ?

असलियत यह है कि साठोत्तरी लेखन में जो अच्छा है, उसे परिमलीय नवलेखन के सामने दबाया जा रहा है और डॉ. चन्द्रकान्त जैसे समीक्षक उसके माध्यम बने रहे हैं। क्या यह इस्तेमाल किए जाने की शर्त भी 'समग्र मानव' की अवधारणा की शर्त है या यह जाने-अनजाने व्यक्ति की व्यापकता का अत्यन्ताभाव है ?

यह आकस्मिक नहीं है कि प्रतिक्रियावादियों या सम्प्रदायवादियों के शासन में आ जाने से देश में साम्यवादविरोधी तत्व प्रबल हो रहे हैं। इन्हें 'आम आदमी' या शोषित व्यक्ति से कोई लेना-देना नहीं है। ये तो देश के व्यापारियों-दूकानदारों के हितों के प्रवक्ता और पक्षधर हैं। ये लोग चूँकि समाजवादविरोधी हैं, अतएव पूंजीवादी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में, जनता-हुकूमत की स्थापना के बाद से, लगातार भारतीय साम्यवादी दलों पर हमले तेज हो गये हैं और इन 'व्यक्तित्वों' को प्रमुखता मिलती जा रही है।

इनके प्रचार की विशेषता ही यह होती है कि यह अपनी दृष्टि से जनवादी पक्ष के कमजोर पक्षों का सामान्यीकरण करके पूरे आन्दोलन को कलंकित करते हैं। मसलन्, ये सोवियत रूस में स्वतन्त्र अभिव्यक्ति पर अंकुश का तो वर्णन करेंगे लेकिन उस शासन के जनवादी कार्यों का उल्लेख कभी नहीं करेंगे, उसी प्रकार, जिस प्रकार वे साठोत्तरी कविता के स्थाई महत्व के स्थलों की उपेक्षा करते हैं।

चूंकि अपने वतन में बूर्ज्वा संगठित है और उसके शत्रु वामपंथी दल आपस में कलहग्रस्त हैं, अतएव वे पहले उन्हें रगड़ते हैं जो शासन में नहीं हैं। उदाहरण के लिए पूंजीवादी पत्र-पत्रिकाएँ 'भारतीय साम्यवादी दल' (सी० पी० आई०) पर प्रहार कर रहीं हैं परन्तु मार्क्सवादियों (सी० पी० आई० एम०) को बचा जाते हैं। कारण यह है कि मार्क्सवादी वर्तमान शासकों (जिनमें सम्प्रदायवादी प्रबल हैं) के साथ हैं और सी० पी० आई० वाले विरोधी हैं। इसी प्रकार क्रान्तिकारी साम्यवादी दलों–उपदलों के विरुद्ध भी 'सेठिया साहित्य' विषवमन कर रहा है। क्या यह प्रवृत्ति 'समग्र मानव' की साधक है या बाधक है ?

इस स्थिति में साहित्य के केन्द्रीय प्रवाह (वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध और उसकी असंगतियों का पर्दाफाश) को पथभ्रष्ट करने के कुचक्रों के प्रति साहित्यिक साथियों को सावधान रहना होगा और 'बूर्ज्वा प्रेस' के हमलों का मुंहतोड़ उत्तर देना होगा।

'सम्पूर्ण मानव' का लक्ष्य तभी पूरा होगा जब साहित्य अपने समय के मनुष्य-समाज के कंटकों का उन्मूलन करने वाली चित्तवृत्ति का निर्माण करे, उसे गहराए और स्वयं उसमें गोताखोरी करे। निजी अनुभूतियों का चित्रण इसी व्यापक पर-संवेदन के वृत्त के भीतर हो, यही विकल्प है और कोई रास्ता नहीं है।

साहित्यकार का अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य

किसी भी विशिष्ट समस्या का वस्तुगत बोध तभी हो सकता है, जब उसे सार्वभौमिक या सामान्य समस्या के सन्दर्भ में समझा जाये। साहित्यकार की स्वतंत्रता का प्रश्न, सम्पूर्ण मानव समाज की स्वतंत्रता का प्रश्न है। विशिष्ट (पट्टीक्यूलर) और "सामान्य" (यूनिवर्सल) की तभी एकता हो सकती है।

पहले, अराजकतावादियों और ह्रासशीलों (डिकेडैंट्स) ने कलाकारों के लिए असीमित, पूर्ण और शुद्ध-मुक्त स्वाधीनता की मांग की थी, किन्तु उनका आग्रह सैद्धान्तिक-प्रकार का था, वे कुछ छिपाना नहीं चाहते थे जबकि आधुनिक व्यक्तिवादियों ने अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मांग को इस तेवर के साथ उठाया था (है) गोया 1 स्वयं कलाकृति में, अन्तर्वस्तु और रूप में, अनुशासन अनावश्यक है, 2 कलाकार या लेखक को निरपेक्ष-स्वाधीनता काम्य है जो समाजवादी या साम्यवादी समाजों में नहीं मिल सकती। अतएव कलाकारों-लेखकों-विचारकों को, साम्यवादी समाज को रद्द कर, पूंजीवादी-जनतन्त्र का ही समर्थन करना चाहिए।

"धर्मयुग" के 15 जनवरी, 1983 के अंक में, डा० शिवकुमार मिश्र के पत्र का जवाब देते हुए ताई दुर्गा भागवत ने भी, अपने देश में प्रचलित जनतांत्रिक प्रणाली के समर्थन में इस मूल तथ्य को भुला दिया है कि स्वतन्त्रता के बाद इस देश में एक पदार्थीकृत-समाज बनाया गया है, यानी ऐसा समाज, जिसमें मुद्रा या वस्तुओं का महत्व है, मनुष्य का नहीं और इसलिए, मनुष्य पदार्थों या वस्तुओं में बदल रहा है, बदल गया है। वह पदार्थीकृत या "रीफाइड" (Reified) हो गया है।

पदार्थीकृत समाज या पूंजीवादी समाज में प्रकाशन, समाचार पत्र, साहित्यिक पत्र-पत्रिका, एक शब्द में अभिव्यक्ति के प्रमुख साधनों पर, वैयक्तिक स्वामित्व होता है और उस व्यक्तिगत-आधिपत्य और सर्वाधिकार की पद्धति की रक्षा के लिए, ऐसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः अपने अधिष्ठाताओं-सम्पादकों-प्रबंधकों के कृतित्व के गुण गाए जाते हैं और इस निजीस्वामित्व के विरोधी व्यक्तियों की वैचारिक भूमिका को अवमूल्यित किया जाता है। "धर्मयुग" में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा, दिल्ली में आयोजित ताजे लेखक सम्मेलन पर प्रकाशित रपट इसका प्रमाण है।

ज़ाहिर है कि स्वामियों और सम्पादकों की अनुकूलता के बिना इन साहित्यिक और गैर-साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में स्वाभिमानी-साहित्यकारों के लिए कोई स्थान

नहीं मिल सकता अथवा जो वह लिखना चाहते हैं, वह नहीं छप सकता। छपेगा तो वह सम्पादित-संशोधित होकर ही छपेगा।

यह नहीं है कि पूंजीवादी प्रेस में इस औपचारिक या मुद्रानुबंधित जनतंत्र और उसके समर्थक पूंजीवादी प्रेस में व्यवस्था विरोधी विद्रोही लेखन नहीं छपता। 'धर्मयुग' के ताज़ा अंक में जहाँ ताई दुर्गा भागवत का लेख है, वहीं उसी अंक में क्रान्तिकारिणी लेखिका, महाश्वेता देवी का इन्कलाबी साक्षात्कार भी है। स्वतंत्रता के नाम पर पूंजीवादी-प्रेस, चीजों को इतना मिश्रित कर परोसता है कि तेजस्वी लेखन, यथास्थितिशील लेखन में छिप जाता है और समग्रतः प्रभाव यह पड़ता है कि वर्तमान व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है, इसे ही सहते-सुधारते चलना चाहिये और साम्यवादी-समाज तो पूंजीवादी-समाज से भी अवांछनीय है क्योंकि उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है।

संचार के अन्य माध्यमों पर हमारे औपचारिक जनतन्त्र में शासन का एकाधिकार है। रेडियो और दूरदर्शन पर शासन विरोधी कोई वक्तव्य नहीं दिया जा सकता, औपचारिक-आलोचना की जा सकती है, वह भी सामान्यीकृत मुहावरे में।

स्पष्ट है, साहित्यकार और कलाकार के लिए राज्य-एकाधिकृत संचार-माध्यमों में, अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य की पर्याप्त सुविधा नहीं मिल सकती। अतः प्रश्न यह है कि अन्ततः साहित्यकार, अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए क्या करे ?

स्वाधीनचेतना के लेखकों ने अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए लघुपत्रिका आन्दोलन शुरू किया जो आज काफी विकसित हो गया है और सत्ता तथा पूंजीवादी प्रतिष्ठानों को चुनौती दे रहा है। वह अभी भी असंगठित, किसी एक विचारधारा और एक मूल्यमान से अनिबद्ध है और पृथक-पृथक दलों, ग्रुपों और व्यक्तियों से सम्बद्ध है तथापि उसमें सामान्य तत्व, वर्तमान व्यवस्था और सत्ता के प्रति घोर आक्रोश है और उसमें जो वामोन्मुख पत्रिकाएँ है, वे यकीनन इस सामन्ती-पूंजीवादी संरचनाओं के स्थान पर, समाजीकृत-सहयोगी संरचनाओं और जनस्वामित्व की स्थापना करना चाहती है।

जब वास्तविक समाजवादी जनतंत्र के समर्थन का प्रश्न आता है और जब-जब उसे पूंजीवादी-उपभोक्ता-समाज-व्यवस्था, भ्रष्ट चुनाव प्रथा, जड़ीभूत नौकरशाही और सत्तालोलुप नेताशाही के विकल्प में खड़ा किया जाता है, तब तब व्यक्तिगत अभिव्यक्तिस्वातन्त्र्य का प्रश्न उठाकर व्यक्तिवाद की वेदी पर समाजवादी-व्यवस्था के लिए किये जा रहे संघर्ष का बलिदान कर दिया जाता है।

अतः मैं यहां बार–बार ब्रह्मास्त्र की तरह प्रयुक्त इस तर्क के उत्तर में यही कहना चाहता हूं कि स्वतन्त्रता, स्वायत्त और सहयोगी संरचनाओं (Structures) में ही सम्भव है और उत्पादन-वितरण के साधनों (जिनमें संचार के साधन : माध्यम भी शामिल हैं) का स्वायत्तीकरण, सिर्फ़ समाजवादी–व्यवस्था में ही सम्भव है।

समाजवादी समाज में ही सहयोगी-स्वायत्त संस्थाओं-संरचनाओं का विकास किया जा सकता है क्योंकि सामन्ती-पूंजीवादी समाजों में तो जो यत्र-तत्र स्वायत्तीकरण होता है, वहाँ भी व्यक्तिवादी मूल्यों-ममताओं और राज्य या निजी आधिपत्यों से स्वायत्त संस्थाएँ विकृत हो जाती हैं जैसाकि शिक्षालयों और कॉपरेटिव-सेक्टर में हो रहा है।

यह सम्भव है कि हमारे गणतन्त्र में जनता जागरूक होकर समाजवादी शक्तियों को सत्ता सौंप दे और वे संसाधनों का समाजीकरण कर दें और सर्वत्र सहयोगी-स्वायत्त संस्थाएँ बना दें किन्तु जो जनतन्त्र के समर्थक हैं, उन्हें मात्र अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की चिन्ता है, जो एक असम्भव प्रत्यय है क्योंकि निजी और राज्य के एकाधिकार से ग्रस्त प्रतिष्ठानों में अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। इसीलिए अभिव्यक्ति-स्वाधीनता की विशिष्ट समस्याएँ, सार्वभौमिक और बुनियादी सामान्य समस्या से संबंधित है यानी यह कि आर्थिक संरचना को बिना मूलतः बदले, अभिव्यक्ति का स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं है।

अतः बदलाव का प्रश्न अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से जुड़ जाता है और मूल-परिवर्तन का अपना विज्ञान है। मसलन् सोवियत रूस में, पूंजीवादी घेरे की अवधि में निरपेक्ष स्वतन्त्रता सम्भव नहीं थी किन्तु आज विकसित समाजवादी व्यवस्था में नए संविधान के अन्तर्गत अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता है। जैसे-जैसे विश्व के संसाधनों पर पूंजीवादी-प्रभुत्व और एकाधिकार कम होता जायेगा, यह स्वतन्त्रता बढ़ती जायेगी और राज्याधिकृत सेक्टर, सहयोगी-स्वायत्त सेक्टर में बदलता जायेगा। यह याद रहे कि साम्यवादी देश अभी भी घिरे हुए हैं।

यदि कहें कि सोवियत या अन्य साम्यवादी-समाजवादी समाजों में राज्य की इज़ारेदारी तथा पार्टी का प्रभुत्व स्थिर हो गया है। अतः हम उस मॉडल का अनुकरण नहीं करना चाहते तो यह तर्क भी विचारणीय है किन्तु इसके लिए संसद में बहुमत प्राप्त कर, उद्योग-धंधों, भूमि, व्यापार, सर्वत्र स्वायत्त-सहयोगी संरचनाओं के विकास के लिए संकल्पशील होना होगा। समाजवादी परिकल्पना में राज्याधिकार अस्थायी विकास-सोपान माना जाता है किन्तु यह स्पष्ट है कि जनगण को स्वायत्त सहयोगी-व्यवस्था के लिए तैयार न कर, उसे सामन्ती-पूंजीवादी संरचना के शिकंजे में कसकर, इस अराजक-शोषक-उपभोगी-जीवनपद्धति को बनाए रखने और ऊपर से अभिव्यक्तिस्वातन्त्र्य की मांग करने में कोई तुक या तर्क नहीं है।

यह स्मरणीय है कि क्रान्ति और विप्लव की बातें तभी होती हैं जब अन्य अहिंसक विकल्प असफल होने लगते हैं। तब जनगण निरूपाय होकर, अपनी मुक्ति के लिए हथियार उठाता है। उसके लिए हिंसा कोई कुण्ठा या सनक नहीं है। आज जो, देश के कुछ अंचलों में कृषिक्रान्ति के धमाके हो रहे हैं, उसका उत्तरदायित्व संसदीय जनतन्त्र और उसके आधार पर निर्मित सरकारों पर है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी स्वतन्त्रता का प्रश्न आवश्यकता से जुड़ा हुआ है। एथेन्स के कुलीनतंत्र (Asistocracy) की दृष्टि से, प्लेटो ने तो कलाकारों-लेखकों को नगर राज्य से बहिष्कृत करने का सुझाव दिया था—

"The selection of composures shall be in the hands of the Minister of Education, and his Colleagues, the Curators of Law. Who are to allow them this special privilege, their music and theirs only shall be free and uncessored whereas this liberty shall be granted to no one else".[1]

स्पिनोजा ने शायद सर्वप्रथम स्वतन्त्रता के प्रश्न को आवश्यकता की सापेक्षता में देखा था—

"Freedom consisting not of free desions but of a free accaptance of necessity."[2]

हीगेल ने इन दोनों प्रत्ययों की पारस्परिकता को रेखांकित करते हुए वतलाया था कि आवश्यकता या स्थितिबोध के बिना स्वतन्त्रता की मनमानी चाह, अमूर्त्त-आकांक्षा है। आवश्यकता की सचेत चेतना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है अत: स्वतन्त्रता, अराजकता में नहीं, विधि विधानपरक समाज में ही सम्भव होती है और विधिसम्मत समाजों में मनमानी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मिल नहीं सकती। हां, कल्पना में वह प्राप्त हो सकती है।

मार्क्स एंगिल्स ने भी, स्वतन्त्रता और आवश्यकता को पृथक-पृथक करके नहीं देखा और इसे वर्ग सन्दर्भ में ही समझाया कि वर्ग समाज में स्वतन्त्रता उच्च और समृद्ध वर्गों को ही उपलब्ध हो पाती है। पूंजीवादी समाजों में कानूनन सभी को समानाधिकार होने पर भी, वास्तविक व्यवहार में वह शोषित जनसाधारण को नहीं मिल सकती क्योंकि वह भी क्रय शक्ति पर निर्भर होती है। न्याय और स्वाधीनता मुद्रानुबंधित होती है।

कलावादियों और अस्तित्ववादियों ने अवश्य मनमानी आजादी का सवाल उठाया था। सोरेन कीर्केगार्द के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व और कर्म किसी भी रूप में पूर्व प्रतिवर्त्तित (प्रीकंडीशंड) नहीं होते। मार्टिन हेडेगर कलाकार भी सिर्फ अन्तर्मुखी-चेतना को मानता है और उसकी इच्छा को, मानवता तथा समाज के विरोध में रख कर देखता है।

जर्मन प्रत्ययवादी विचारक निकोलाई हर्टमैन (N. Hartmann) ने कलाकार की स्वतन्त्रता को, सामान्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता से भिन्न माना और कहा

---

1. उद्धृत, "फ्रीडम एण्ड द आर्टिस्ट", जैड एप्रोसियन. प्रोग्रेस, मास्को, पृष्ठ 13
2. वही, पृष्ठ 32

कि कलाकार को मनचाही स्वाधीनता मिलनी चाहियेः- "The Artistic freedom should not bow to any imperative"[1],

वस्तुतः व्यक्तिवादी विचारक किसी भी प्रत्यय को सर्वदा निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि मानवीय-अवधारणाएँ, मानवीय स्थितियों से सह-सम्बन्धित हैं। उन्हें जीवन और समाज के यथार्थ के सन्दर्भ में ही वस्तुगत विधि पर समझा जा सकता है। कलाकृतियों में भी उसके घटकों में सह-सम्बन्ध (कोरिलेशन) दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार कला के मूलाधार जीवन और समाज में भी मानवीय इच्छा और स्वाधीनता एक सापेक्ष स्थिति में ही अपनी सन्तुष्टि पा सकती हैं।

इसलिए अन्त में यही कहना है कि अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य के प्रश्न को, संचार माध्यमों पर स्वामित्व के प्रश्न के साथ जोड़ना होगा, उसी तरह जिस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं-पुस्तकों में अभिव्यक्ति की आजादी का प्रश्न, इन संसाधनों की मिल्कियत से जुड़ा हुआ है।

संसाधनों पर वैयक्तिक अधिकार के कारण आज तो यह हालत है कि क्रान्तिकारी साहित्य की जो ग्रन्थावलियाँ छप रही हैं, उनका लाभ पूंजीपति-प्रकाशकों को ही मिल रहा है। जिस तरह फिल्मकार, 'क्रांति' बेच रहा है, उसी प्रकार प्रकाशक, निराला, मुक्तिबोध, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रांगेयराघव की ग्रन्थावलियों की बिक्री से मुनाफा कमा रहा है और जनसंगठनों या जनपक्षधर प्रतिष्ठानों, संगठनों की दुर्बलता से हमारे प्रगतिशीलों में से कुछ आलोचक और सम्पादक, प्रकाशकों के एजेन्ट का काम कर रहे हैं। एक नयी "प्रगतिशील पूंजीवादी प्रकाशक" नाम की कोटि उभर रही है जिनकी पुस्तकों पर इनाम-इकराम दिलवाये जा रहे हैं और इसके माध्यम व्यवस्थाविरोधी बनने वाले "प्रगतिशील" ही हैं।

अतएव व्यवस्था के आमूल-चूल बदलाव के लिए संघर्ष के सिवा अन्य कोई विकल्प हमारे पास नहीं है। अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य की यह मांग सामंती पूंजीवादी व्यवस्था से स्वातन्त्र्य की मांग बने, तब हम सही दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

---

[1] वही, पृष्ठ 25

डॉ. रांगेय राघव-
व्यक्तित्व : चिंतन : लेखन

डॉ० रांगेय राघव अब यश:शेष है। उनका लेखन और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के संस्मरण ही यहाँ हैं, लेखक तो अपने को रिक्त कर, इस धरती से उठ गया।

रांगेय राघव के लेखन-चिंतन को हिन्दी ने महत्त्व दिया है। कई विश्वविद्यालयों में उन पर अनुसंधान हो रहे हैं, उनकी कुछ कृतियों को पढ़ाया और फिल्माया भी जा रहा है। उनके मित्रों और प्रशंसकों में अनेक संस्मरण गूंजते हैं। एक कसक, एक टीस के साथ मित्र उन्हें याद करते हैं, उनके मानस में रांगेय राघव की छवियाँ तैरतीं हैं और वे तैरतीं-बोलतीं रहेंगीं।

यह सच है लेकिन डॉ० रांगेय राघव का मूल्यांकन अभी भी नहीं हो सका है। उन्हें हिन्दी के सामाजिक-ऐतिहासिक कथाकारों-उपन्यासकारों में सादर गिना जाता है, आंचलिक कृतिकारों में भी और बस ! क्या रांगेय राघव की बस यही कीमत थी ? क्या वह आज की चेतना को अपनी कृतियों से प्रभावित करने में असफल रहे हैं। क्या आज के साहित्यक संवाद में, उनके दृष्टिकोण और मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं है ?

इन प्रश्नों के उत्तर तभी मिल सकते हैं, जब रांगेय राघव के लेखन पर, आज के सन्दर्भ में विचार किया जाए। लेकिन ऐसा हो नहीं सका। आगरा के एक दो पत्रों के "सामान्य" विशेषांक निकले। जयपुर से एक पत्र (निष्ठा) ने संस्मरण अंक निकाला, और इसके बाद सन्नाटा छा गया।

रांगेय राघव के प्राय: सभी समकालीन और सम्बन्धित लेखक अभी भी सक्रिय हैं—डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, धर्मवीर भारती (आलोचना के सम्पादक रूप में) डॉ० नामवरसिंह, अमृतराय इत्यादि। लेकिन इनमें किसने मनोयोग से रांगेय राघव का मूल्यांकन किया ? पास उठने-बैठने वालों में, आगरा के कई लोग थे। वे उन्हें आहें भर कर याद करते हैं। वे अच्छे लोग हैं। लेकिन रांगेय राघव की स्मृति ने इनमें किसी को इतना उत्तेजित नहीं किया जो वह उनके साहित्य पर लिखता। वे सिर्फ मन ही मन रोते-सिसकते रहे, चर्चे करते रहे।

इस काहिली या उपेक्षा से रांगेय राघव के मूल्यांकन में बाधा पड़ी है। रांगेय राघव के बहाने, अपने को सामने लाने के लिए, अनेक ऐसे झूठे किस्से चलाए गए हैं जो एकदम गलत हैं। डॉ० लालसाहब सिंह ने "डा० रांगेय राघव और उनके उपन्यास" पर, एक शोध प्रबन्ध प्रकाशित कराया है। इसके संस्मरण अंश में, कई मूर्खतापूर्ण बातें भर दी गई हैं।[1] इनमें कुछ बातें तो उनके मित्रों के लिए अपमानजनक भी हैं।

यही हाल, कुछ उन लोगों का है जो रांगेय राघव के नाम पर अपनी "पहचान" कराना चाहते हैं। ऐसे लोगों को भी रांगेय राघव महत्त्व दिया करते थे क्योंकि वह व्यवहार में "प्रगतिशील" दृष्टि अपनाते थे, छोटा-बड़ा नहीं मानते थे। "टटपूंजियों" को भी ऊपर उठाते थे। ये "टट्पूंजिए" रांगेय राघव के न रहने पर, उनके नाम पर अनेक भ्रमों का प्रचार करते रहते हैं। शोध के छात्र इससे भटक जाते हैं। यह प्रसंग अत्यन्त कटु और गौरवनाशक है, इसलिए इसका ब्यौरा देना व्यर्थ है, लेकिन यह कहना आवश्यक है कि जिज्ञासुओं को रांगेय राघव के विषय में हर एक सुनी हुई बात का विश्वास नहीं कर लेना चाहिए।

इन "सुनी हुई" बातों में एक बात, रांगेव राघव के चिंतन से सम्बन्धित है। क्योंकि इस देश में अभी तक, मार्क्सवादी चिंतन की जड़ें गहरी नहीं हैं, इसलिए रूढ़िवादी या मार्क्सवाद विरोधी दृष्टि के लोगों का विचार है कि रांगेय राघव, "स्वतन्त्र चिंतक" थे। इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—(1) मार्क्सवाद को आधार बनाकर, उसके चौखटे के भीतर रहकर, "स्वतन्त्र" चिंतन, (2) किसी एक दार्शनिक-पद्धति से न बँधकर, "स्वतन्त्र" हो कर सोचना।

इस सम्बन्ध में, कृतियाँ ही सच्ची गवाही दे सकती हैं। रांगेय राघव की प्रायः सभी रचनाएँ, शोधपुस्तकें, इतिहास और संस्कृति के ऊपर लिखे गए लेख और किताबें—मार्क्सवादी दृष्टि से ही लिखी गई हैं। उनका "मानववाद" बूर्ज्वामानववाद नहीं है। बूर्ज्वामानववाद में, मनुष्य के लिए सिर्फ चिन्ता या सद्भावना प्रकट की जाती है, उसके लिए लेखक में कोमल भावनाएँ होती हैं लेकिन समाजसंरचना का कोई स्पष्ट मानचित्र बूर्ज्वामानववादियों के सामने नहीं होता। वे प्रायः समाज में, यथास्थिति के समर्थक होते हैं। लेकिन रांगेय राघव के मानस में, मार्क्सवादी दृष्टि से सोचा हुआ, समाज का स्पष्ट नक्शा था। इस मानचित्र को अपनाने के लिए वह बराबर चुनौती देते रहते हैं—

"कल्याण अंततः मनुष्य का होना है। आज हम एक ऐसे मोड़ पर पहुँच गए हैं, जहाँ "हाँ" या "ना" के सवाल की नौबत आ गई है।"[2]

---

1. अनुपमा प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ 12
2. बंदूक और बीन—विनोदपुस्तक मंदिर, आगरा भूमिका

रांगेय राघव "वर्गवर्णविहीन" साम्यपरक समाज के हामी थे जिसमें शोषण न हो। बूर्ज्वा या पूंजीवादी समाजों में आर्थिक-सामाजिक शोषण रहता है। वहाँ आदमी क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाता है—इस स्थिति के विरोध में ही, रांगेय राघव का सारा साहित्य लड़ता हुआ प्रतीत होता है। अतएव "स्वतन्त्रचिन्तन" का रांगेय राघव के प्रसंग में अर्थ यह है कि मार्क्सवाद के आधार को वह अपना कर चले हैं लेकिन उनकी अनन्त जिज्ञासाएँ उन्हें, आगे जाने के लिए प्रेरित करती थीं। मार्क्सवादी मान्यताओं को मान कर भी, वह मार्क्स का यह सूत्र दुहराते रहते थे—"प्रत्येक चीज पर संदेह करो" अन्यथा दिमाग़ एक घेरे में घूमने लगेगा। इस प्रवृत्ति के कारण क्रमशः उनके सन्देह प्रबल होते गए लेकिन वह मूलतः लेखक थे, दार्शनिक नहीं, इसलिए वह, किसी नयी चिन्तनपद्धति के लिए तड़पते रहने पर भी, उसका विकास नहीं कर सके, फलतः मार्क्सवादी, "फ्रेमवर्क" में ही उन्हें काम करता हुआ देखा जा सकता है।

जो किसी विचार पद्धति को "मूलतः" सही मानकर उसके प्रचार-प्रसार में लग जाते हैं, वे इस प्रकार के "संदेहों" को "पथभ्रष्टता" समझते हैं। वे किसी नए चिंतन आयाम की खोज को, "बहकाव" कहते हैं। यह प्रवृत्ति "स्तालिनयुग" में चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। योरोप में जार्ज लुकाच ने, सैद्धान्तिक धरातल पर इस जड़ता का घोर विरोध किया। यही कार्य रांगेय राघव ने, एक सीमा तक, हिन्दुस्तान में किया। एक उदाहरण ही काफी है।

लुकाच ने, अपने "सौन्दर्यशास्त्र" के प्रकाशन के पूर्व एक "भूमिकालेख,' प्रकाशित कराया था। इसमें लुकाच, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की सम्भावना का समर्थन करते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा है कि साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्याओं में उग्रमतभेदों का एक कारण यह था कि लेनिन के प्रसिद्ध लेख "पार्टी और साहित्य" को ठीक-ठीक नहीं समझा गया। लेनिन की पत्नी, क्रुप्सकाया के अनुसार, लेनिन ने यह लेख, **"ललित साहित्य"** तथा "ललित कलाओं" के विषय में नहीं लिखा था। लुकाच ने क्रुप्सकाया के इस मत को उद्धृत किया है और सौन्दर्यशास्त्र के लिए लुकाच, मार्क्स के बिखरे विचारों (साहित्य : कलाओं से सम्बन्धित) को, परवर्ती व्याख्याकारों से अधिक महत्त्व देते हैं। यही प्रवृत्ति डा० रांगेय राघव में थी। वह तत्कालीन व्याख्याकारों से उग्र मतभेद रखते थे। विशेषकर कम्यूनिस्ट पार्टी के आंदोलन से सीधे सम्बन्धित लोगों पर वह तीखे आक्रमण करते थे पर थे वह, पार्टी के उद्देश्यों के हमदम और सहयात्री!

साम्यवाद से रांगेय राघव ने दृष्टि, पद्धति और मानवप्रेम लिया था लेकिन साम्यवादी नमूने (मॉडल) की समाज व्यवस्था के कई पक्षों पर वह क्रुद्ध रहते थे यथा रूस में "वीरपूजा" और लेखन चिंतन की स्वतन्त्रता के अभाव पर वह अवसर खीझा करते थे। वह कहते थे, वर्गवर्णहीन समाज में स्वतन्त्रता न होने से मानव-

विकास में बाधा पड़ती है। उनका निकष यह था कि यदि लेखक राष्ट्रद्रोही नहीं है तो उसे खुलकर सोचने और कहने की छूट मिलनी चाहिए। वह प्रायः इंग्लैंड का उदाहरण देते थे जिसने कार्ल मार्क्स को शरण दी। क्या रूस अपनी व्यवस्था के विरोधी, चिंतक को जीवित रहने दे सकता है ? इस प्रश्न पर, पार्टी के "पक्षधर" लोग बहुत चिढ़ते थे और रांगेय राघव का इससे बहुत मनोरंजन होता था। वह यह नहीं मानते थे कि पूंजीवादी घेरे के कारण रूस अपने देश के भीतर, लेखकों और चिंतकों को आजादी देने से नष्ट हो जाएगा। वह साहित्य पर पार्टी के मूर्खतापूर्ण निर्देशनों के विरोधी थे। वह, साहित्य में सरकार की स्तुतियों या पक्षसमर्थन को बुरा मानते थे क्योंकि इससे जो "पंचवर्षीय योजना" से सम्बन्धित साहित्य तैयार हुआ था, वह साहित्य नहीं था, उसमें ऊपरी प्रचार मात्र था, जैसा कि सूचनाविभागों के साहित्य में होता है। रांगेय राघव का मत सही था। आज रूस में भी, लेखक को अधिक स्वतन्त्रता है। फिर भी पास्तरनाक और सोल्जिनित्सिन के उदाहरण और अधिक स्वतन्त्रता के तर्क के पक्ष में पड़ते हैं।

ये बातें "कार्यनीति" से सम्बन्ध रखती हैं। स्थिति के अनुसार, व्यवस्थाएँ, कठोर और कोमल होती हैं, लेकिन इस "स्थिति" को लाने के लिए भी, लेखकों और बौद्धिकों को संघर्ष करना पड़ता है। साम्यवादी व्यवस्थाओं में आज (चीन को छोड़कर) जो अधिक उदारता और खुलापन है, उसे लाने में, देश-विदेश के लेखकों ने संघर्ष किया है। सरकारों को विश्वास दिलाया गया है कि वह ज्ञान और सृजन के क्षेत्रों में कार्य करने वालों पर विश्वास करे। सोवियत सरकार को अपने नागरिकों की देशभक्ति और चेतना पर इतना भरोसा होना चाहिए कि वह लेखकों और चिंतकों को, सोचने की पूरी आज़ादी दे। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के भय से, अपने अंतर्विरोधों के विश्लेषणों को सोवियत सरकार राजद्रोह न समझे लेकिन यह सब धीरे-धीरे होता है और रांगेय राघव, परिवर्त्तन या क्रान्ति के नैरन्तर्य में विश्वास करते हुए भी; "मानवीय" मामलों में किसी प्रकार की जोर जबरदस्ती को, "अमानवीय" कहते थे। उन्हें हर बात में जल्दी थी, लिखने में भी और सोचने में भी। साहित्यकार की आकुलता और "सदिच्छा" उनमें तीखापन भरती थी और वह किसी भी प्रकार के अंकुश को, ज्ञान के क्षेत्र में स्वीकार नहीं करते थे। वह "ज्ञान को ज्ञान से काटने" के विश्वासी थे; ज्ञान को पार्टी के दस्तावेज़ों से दबाने का वह कर्कश विरोध करते थे। रांगेय राघव इसी अर्थ में "मानववादी" थे। लेकिन चिंतनपद्धति की दृष्टि से, वह "साम्यवादी-मानववाद" के समर्थक थे। इसे न समझने के कारण, रांगेय राघव के प्रशंसक और शोधक, उनकी मनमानी व्याख्याएँ करते रहते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि जीवन के अंतिम दिनों में, आचार्य जी के मन में तात्त्विक स्तर पर अनेक संशय उठे थे। वह जिस "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" को आजीवन,

अपनी रचनाओं में प्रयुक्त करते रहे, उसका भी वह उपहास करने लगे थे। मैं इसकी व्यक्तिगत साक्षी भी दे सकता हूँ लेकिन उसके पूर्व मैं पाठकों का ध्यान, उनके द्वारा उठाये गये प्रश्नों की ओर खींचना चाहता हूँ। अपने उपन्यासों, निबंधों और संस्कृति पर लिखित अपने इतिहासों में राँगेय राघव, जगह जगह प्रश्न उठाते चलते हैं। इन प्रश्नों की सूची लम्बी है। इनसे उनकी 'जिज्ञासा-शक्ति' और 'चिन्तनक्षेत्र के विस्तार' का तो पता चलता ही है लेकिन इन प्रश्नों से वह भौतिकवादियों को भी ललकारते हैं कि इन प्रश्नों के उत्तर दो। दरअसल, उन्हें स्वयं इन प्रश्नों के उत्तर ज्ञात नहीं थे।

ये प्रश्न दो प्रकार के हैं। एक, जो अध्ययन-चिंतन से उगे हैं। दो, वे प्रश्न, जो लोक निरीक्षण के कारण जन्मे हैं। पहले प्रकार के प्रश्नों में मुख्य प्रश्न है, भूततत्त्व के गुणात्मक परिवर्तन के रूप में 'आत्मा' या 'चेतना' की धारणा से संबंधित प्रश्न। क्या जड़ भूततत्व में 'स्वचेतना' (self consciousness) पैदा हो सकती है? क्या 'स्वचेतना' में दिक्काल को वेधने की शक्ति है? क्या ज्ञान 'प्रयोगज' होकर ही विश्वसनीय होता है? बिना 'प्रयोग' के मात्र प्रातिभज्ञान से पाये गये निर्णय क्या हमेशा ग़लत होते हैं?

तत्त्वविद्या का यह मौलिक प्रश्न है। अध्यात्मवादी दर्शन 'आत्मा' के प्रश्न को, उसकी प्राथमिकता मानकर हल करते हैं, यानी पहले आत्मा थी, भूततत्त्व उसी की सृष्टि है अथवा वह 'माया' है। इसके विपरीत, भौतिकवाद, भूततत्त्व (मैटर) को प्रथम, मूलतत्त्व और 'चेतना' या 'आत्मा' को, 'तदुत्पन्न' या उसी भूततत्त्व से उपजा हुआ मानते हैं। दर्शन की यह बुनियादी ग्रन्थि है, जो आज तक नहीं सुलझी और शायद वह निकट भविष्य में सुलझ भी न सके।

मात्र, 'बौद्धिक' के लिए इस ग्रन्थि का सुलझाव कठिनन हीं है। उदाहरणत: मार्क्सवादो कह सकता है कि विज्ञान क्रमश: इस समस्या को सुलझा देगा, अतएव जल्दी से निर्णय मत करो। लेकिन राँगेयराघव मात्र "बौद्धिक" नहीं थे। उनका व्यक्तित्त्व, मात्र बौद्धिकता तक सीमित न था। वह एक कलाकार थे। कलाकार को बुद्धि से अधिक "अचानक" उपलब्धियों में विश्वास होता है। ये "अचानक उपलब्धियां" "अनुभूति" (फीलिंग एण्ड एक्सपीरियेन्स) के स्तर पर होती हैं। अचानक कोई बात सूझ जाती है, पात्र और परिस्थिति अनायास मन में मूर्त्तित हो जाती है, एकदम कोई उक्ति उभर आती है या कोई नया शब्द या नया विन्यास "उदित" हो जाता है। कार्यकारण में संलग्न "बौद्धिक" को, इस प्रकार के अनुभव "कम" होते हैं या उस तीव्रता से नहीं होते, जो कलाकारों में मिलती है। चेतना का यह "रहस्यमय लोक" राँगेय राघव को चकित करता था और उसे वह 'जड़भूततत्त्व' के चमत्कार रूप में मानने के लिए बुद्धि से तो तैयार हो जाते थे लेकिन उनके मन में, यह संशय रहता था कि "आत्मा" के साहसिक अभियानों, गूढ़ अबौद्धिक अनुभवों और "अजीब स्पर्शों" को जड़ की सन्तान कैसे मान लिया जाये?

आगरा में शाम को चुहुलबाज़ी और अदाबाज़ी से लौटकर कभी-कभी राँगेय राघव ऐसे ही सवाल उठाते थे। रात के अन्धेरे में, जिसे, बिजली की कमरे में बन्द रोशनी, और भी रहस्यमय बनाती थी, वह पूछते थे, "क्या तुम सोचते हो कि आदमी या चीजों की बुनियाद में ही जड़ता है ?"

दार्शनिक जिज्ञासा का यह उनका अपना ढंग था। हर स्थिति में वे अनूठे और औरों से भिन्न लगें, इसलिए वह सपाट ढंग से तो प्रश्न भी नहीं करते थे—

"जड़ता तो है ही अन्यथा यह प्रश्न क्यों उत्पन्न होता" ?—मैं उत्तर दिया करता था।

और एक खुले क़हक़हे के बाद, उनके संवेदनशील और "महर्षि-मुख" पर चिंतन के बादल घिर आते—

"मैं सीरियसली पूछ रहा हूँ। क्या मार्क्स सही था ? क्या उसने हीगेल को उलट कर अपना मॉडल नहीं बना लिया ? उपाध्याय, तुम मानो या न मानो, मार्क्स "चयनवादी" था। उसने इधर-उधर से लेकर अपना चिंतन-आदर्श गढ़ा है। उसकी संयोजनशक्ति अपूर्व थी। उसने एक स्पष्ट, विवेकसंगत और मानवप्रिय रास्ता खोला लेकिन क्या तुम्हें नहीं लगता कि मार्क्स ने, संवेदना और चेतना की सूक्ष्मताओं और दौड़ पर रोक लगाई ? क्या नहीं ? क्या 'बुद्धि' या "प्रयोग" से, प्रत्येक मानसिक घटना की व्याख्या सम्भव है ? क्या कारण-कार्य पद्धति लगाते ही, अनेक सूक्ष्म अनुभव गायब नहीं हो जाते ? स्मृति में भी वे नहीं लाये जा सकते ! तब उनकी बौद्धिक व्याख्या कैसे हो सकती है ? मार्क्स "मनुष्यों" के बारे में कहता है, उनके कार्यों में वह "कामन पैटर्न" खोजता है लेकिन "मनुष्य" के "द्वन्द्वों" और संगतियों" की खोज उसने कहाँ की ? साहित्य में इसी "मनुष्य" को परखा जाता है, उसकी एक एक सांस का हिसाब किताब सिर्फ साहित्य में ही मिलता है, क्या इसका इतना सरल समाधान हो सकता है कि…………?

इस तरह की चित्तवृत्ति से रांगेय राघव लोकानुभवों के स्तर पर भी, पीड़ित हो जाया करते थे। सांप-बिच्छू का विष, मंत्र से कैसे उतर जाता है। जो बात तुम्हारे मन में है, वह "योगी" के मन में कैसे आ जाती है ? तीनों काल कैसे प्रत्यक्ष होते हैं ? झाड़ने फूँकने से रोग क्यों दूर हो जाते हैं ? योग और रसायनविद्या में क्या सम्बन्ध है ? क्या योगज दृष्टि से, पदार्थ में परिवर्तन हो सकते हैं ? योगज पदार्थ क्या वस्तु है ? यदि भूततत्त्व चेतना की अभिव्यक्ति नहीं है (जैसा कि अध्यात्मवादी कहते हैं) तो चेतना की किसी हलचल से, भूततत्त्व पर असर कैसे पड़ सकता है ?"

एक व्यक्तिगत साक्षी यह है कि बम्बई में रोगशय्या से राँगेय राघव ने मुझे एक पत्र लिखा था, वह भी प्रश्नात्मक था—

"तुम तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में अब भी लगे होगे ?…………ये रोग क्यों होते हैं जो काम नहीं करने देते, क्यों ?"

यहाँ भी चिंता यही थी कि क्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सही है ? इसके अलावा, दूसरी चिंता थी,अनवरत लेखन की। रांगेयराघव का मानसिक धरातल यही था। वह कितना ऊँचा था, कितना प्रचेतस् !

इन संशयों के बावजूद, रांगेय राघव का चिंतनवृत्त, मार्क्सवाद से ही बना था और उसी वृत्त के भीतर रहकर उन्होंने साहित्य लिखा है। उनकी प्रत्येक रचना मार्क्सवादी दृष्टि से लिखी गई है, हर जगह वह भाष्यकार की प्रवृत्ति अपनाते हैं। यह भाष्य, प्रागैतिहासिककाल से लेकर, आधुनिकाल तक फैला हुआ है। मूलत: "मनुष्य" और उसके परिवेश और "व्यवस्था" के अध्ययन-मनन में रुचि रखने से, रांगेय राघव ने मार्क्सवादी, विश्वबोध के आलोक में, भारतीय इतिहास, दर्शन कला, संस्कृति और मानव सम्बन्धों की व्याख्या की है।

मार्क्सवादी समाजशास्त्र, समाजसंरचना का अध्ययन, आर्थिक आधार पर करता है। सांस्कृतिक स्तरों को, वह इस आर्थिक आधार से जोड़ कर देखता है। यही प्रवृत्ति रांगेय राघव की "भारतीय परम्परा और इतिहास" में है, यही "महायात्रा" में, यही, "मुर्दों का टीला" तथा "राह न रुकी" जैसे उपन्यासों में। कम्यूनिज्म के विकास के प्रथम सोपान में, "परम्परा या धरोहर" की पुनर्व्याख्या इसलिए होती है कि मार्क्सवादी अब तक के उत्कृष्ट मानवप्रयासों, मानवमूल्यों और दर्शनों का स्वाभाविक विकास लगे। यह न लगे कि बस कार्ल मार्क्स हैं और सब मानव विकास के लिए कूड़ा है। मार्क्सवाद, रांगेय राघव के अनुसार, "उत्कृष्ट मानव मूल्यों" (समता, अशोषण, भ्रातृत्व, स्वतन्त्रता) पर आधारित है और इन मानवमूल्यों के लिए, आदमी शुरू से ही लड़ता आया है। रांगेय राघव, "इस" लड़ाई में दिलचस्पी रखते थे। प्रकृति और "व्यवस्था" से निरन्तर लड़ते हुए, आदमी की खोज के लिये ही उन्होंने, "अवैदिक" परम्परा का विशेष अनुसंधान किया। सिद्धों, योगियों का साहित्य पढ़ा।

रांगेय राघव ने कहीं भी 'जातिवादी' या नस्लवादी नजर से, इतिहास को नहीं देखा जैसा कि कतिपय लोग कहते हैं। उनकी दृष्टि सर्वत्र ऐतिहासिक भौतिकवादी है, नस्लवादी नहीं। उन्होंने जो इतिहास पढ़े थे, उनमें आर्य-द्रविड़ का संघर्ष भी था। नस्लवादी इतिहासकारोंने इस प्रश्न पर, आर्य-द्रविड़ संघर्ष का सूत्रपात अपने ऐसे ही इतिहासों के द्वारा किया था लेकिन रांगेय राघव, आर्य-द्रविड़ संस्कारों से ऊपर उठ चुके थे। वह "अन्तर्भुक्ति" दिखाने के लिए "मुर्दों का टीला" लिखते हैं, "प्राचीन परम्परा और इतिहास" लिखते हैं।वह, तात्कालिक ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर मानते थे कि आर्य विजेता थे और आर्यों ने द्रविड़ तथा अन्य अनार्यों पर उसी तरह शासन किया था, जिस तरह, उन पर मध्यएशिया की अन्य जातियों ने किया। इससे उनका "नस्लवाद" सिद्ध नहीं होता। वह 'मुर्दों का टीला' जैसे उपन्यास, "व्यवस्था" में क्रमिक परिवर्तन दिखाने के लिए लिखते थे।

"भारतीय परम्परा और इतिहास" का मज़ाक बनाया गया कि वह "अव्यवस्थित" पुस्तक है यानी वह जल्दबाजी के लेखन का अद्वितीय उदाहरण है ! लेकिन इन दोनों आरोपों में सत्यांश होने पर भी क्या इन आरोपकर्त्ताओं ने इस किताब में प्रस्तुत, भारतके ऐतिहासिक और साँस्कृतिक विकास की ओर ध्यान दिया? क्या उन्होंने थोड़े धीरज से यह टटोला कि यहाँ 'नस्लवाद' है या "अन्तर्भुक्तिवाद' ? रांगेय राघव सारे देश को एक राष्ट्र के रूप में देखते थे। उसके वर्तमान "व्यक्तित्व" के भूतपूर्व घटकों के पारस्परिक मिलन और समन्वय को वह बार बार रेखांकित करते हैं।

सृजनात्मक साहित्य की दृष्टि से, राँगेय राघव, यथार्थवादी परम्परा के लेखक थे। उपन्यासों और कहानियों में उनका दृष्टिकोण तो मार्क्सवादी है लेकिन व्याख्या के लिए वह शक्तिभर, यथार्थ या वास्तविकता को, उसकी "यथातथता" में पकड़ते थे। यथार्थ को यथार्थ के स्तर पर, बिना आरोपण के पकड़ कर, फिर वे कारण-कार्य पद्धति पर सोचते हुए, उस यथार्थ की जड़ें, "आर्थिक आधार" में खोजते थे और "**जड़सहित पौधे**" के रूप में, वह कालविशेष में, समाज के स्वरूप को पेश कर देते थे।

रांगेव राघव के कथासाहित्य में राहुल जी से, 'वस्तुगतता' (ऑब्जैक्टीविटी) अधिक है। राहुल जी, प्रतिपक्ष (यथा, ब्राह्मणसभ्यता, ब्राह्मणदर्शन, अध्यात्मवाद आदि) का स्वरूप बोध, तटस्थता के साथ नहीं कराते। उनका पूर्वाग्रह इतना प्रबल था कि वह "गणतन्त्रों" (यौधेय, मालव आदि) पर लिखते समय ब्राह्मणसाम्राज्य-वादियों की भर्त्सना करने लगते हैं जबकि रांगेय राघव, सर्वत्र तटस्थ रहते हैं। उनका ध्यान सामाजिक शक्तियों और तदनुरूप व्यक्तियों पर रहता है। उनकी कारणकार्यपरक मेधा, पूर्वाग्रह से व्याकुल नहीं होती। इसलिए वह राहुल जी की आलोचना करते हैं, किन्तु इसी तरह वह रामचन्द्र शुक्ल के "ब्राह्मणवाद" पर भी चोट करते हैं। कारण यह था कि रामचन्द्र शुक्ल, कबीर, दादू, नानक अथवा सिद्ध सन्त परम्परा के साथ न्याय नहीं करते। तुलसी को भी वह ब्राह्मणवाद का समर्थक मानते थे। इन बिन्दुओं पर डा० रामविलास शर्मा से घोर मतभेद रहा है। डा० शर्मा, योग-सिद्ध-सन्त परम्परा की विद्रोहिणी प्रवृत्ति को, तुलसी के 'जनवाद' से अधिक महत्व नहीं देते।

"यथार्थ" के प्रति आग्रह के कारण, राँगेयराघव का कथासाहित्य, 'पंचभूतों' से बना है, कथा, परिवेश, पात्र, संवाद और उद्देश्य। ये हर जगह हैं और क्रमबद्ध हैं। रांगेय राघव इस शैली में इतने निपुण हो गये थे कि किसी युग का इतिहास और संस्कृति पढ़ते-पढ़ते उनके मन में, उस युग का चित्र तेजी से उभरता था, पात्रों के आकार और मुद्राएँ झाँकने लगती थीं और घटनायें, उनके मानस में अपनी सम्पूर्ण प्रक्रियाओं में घटने लगती थीं। इस "**युगावधारणा**" (The conception of an age)की शक्ति के कारण एक बार दिमाग़ में नक्शा बन जाने पर फिर उन्हें

उपन्यास लिखने में देर नहीं लगती थी। पात्रों का हिसाब किताब वह इतने विस्तार में लगाते थे कि वह प्राय: संवादों के टुकड़े जहां तहां लिख लेते थे और कमाल यह था कि वे संवाद अपने आप विकसित होती हुई कथा में अपनी जगह पर चिपक जाते थे।

अत्यन्त आत्मस्थ या अन्तर्मुखी लेखक में "युगबोध" को इतने ब्यौरों में अंकित करने की शक्ति नहीं होती। वह मन की गहराइयों में रमता है, गोताखोरी करता है लेकिन रांगेय राघव गोताखोरी कम करते हैं। वह "विराट" के स्रष्टा लेखक थे, "लघु" के अन्वेषक नहीं। इसीलिए उनका विश्वबोध, "क्लासिक" किस्म का है। वस्तुओं और घटनाओं को, उनकी समग्रता में देखने की शक्ति "क्लासिक" लेखकों में अधिक थी।

राँगेय राघव के उपन्यासों में चित्रफलक हमेशा लम्बा चौड़ा होता है। उस पर वे घटनाओं और सामाजिक शक्तियों की रगड़ से उत्पन्न, प्रमुख पात्रों या "टिपीकल" पात्रों द्वारा युगविशेष के "यथार्थ" को प्रस्तुत करते हैं। उनका उद्देश्य मात्र कलात्मक नहीं, सामाजिक है यानी उनकी रचनाएँ, मात्र कलात्मक प्रेरणा से नहीं बल्कि सामाजिक चेतना से एक निश्चित पद्धति पर उद्भूत हुई हैं।

कलात्मक और सामाजिक चेतना का "द्वन्द्व" भी रांगेयराघव की रचनाओं में है। "जब आवेगी काल घटा" में चर्पटनाथ के चरित्र से उपन्यास शुरू होता है लेकिन उपन्यासों में घटनाएँ खिलजियों के युद्ध से सम्बन्धित हैं, उनमें चर्पटनाथ बहुत कम योगदान करता है। नतीजा यह हुआ कि उपन्यास का ढाँचा ढीला हो जाता है। मुख्य पात्र अलग हैं, मुख्य घटनाएँ अलग। रचनासूत्रों का यह बिखराव अन्यत्र भी खूब है लेकिन जहां लेखक ने "जमकर" लिखा है, जैसे "मुर्दों का टीला" या "कब तक पुकारूं" में, वहाँ संगति अधिक आ गई है। अधिक विषयवस्तु समेट कर चलने वाले उपन्यासों में, अनेक पात्रों की रचना करनी पड़ती है, अन्यथा "यथार्थ" प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, इसलिए इन पात्रों की भीड़ को सँम्भालना कठिन हो जाता है। फिर भी राँगेय राघव अपनी विशिष्ट संगति स्थापित कर ही लेते हैं और रचना को पढ़ने योग्य बना देते हैं। घटनाओं और पात्रों के विकास में वह, "उत्सुकता" का ध्यान रखते हैं। बीच-बीच के असम्बद्ध विवरणों या ऐतिहासिक तथ्यों का औचित्य भी चरितार्थ हो सकता है अगर ये उपन्यास मात्र उपन्यास की दृष्टि से नहीं, बल्कि, "सामाजिक जिज्ञासा" से पढ़े जाएँ।

"क्लासिक" परम्परा के उपन्यासों में सभी तरह के पात्रों को गढ़ा जाता है लेकिन नायकों से लेखक के मानसिक झुकावों का कुछ पता लग सकता है। रांगेय राघव के अधिकतर नायक पात्र, "उदात्त" किस्म के हैं। ऐसे पात्रों के चित्रण में उन्हें सफलता इसलिए मिली है क्योंकि उनका स्वभाव और चरित्र "उदात्त" प्रकार का था। प्रेमिकाओं के चित्रण में राँगेय राघव अपने मन के अनुराग से काम लेते थे। इस विषय में 'अनुभव' से कम, रोमांटिक कल्पना से अधिक काम लिया गया है।

लेकिन एक संकोच, एक मर्यादा सर्वत्र मिलती है। प्रेमवृत्ति के गहन विश्लेषण के स्थान पर, नीलूफर, लीला, श्रीमती रोज़ालिण्ड जैसी प्रेमिकाओं को, उनकी परिस्थितियों के सन्दर्भ में अधिक समझा गया है। किसी भी वृत्ति का गहरा मनोवैज्ञानिक उत्खनन, रांगेय राघव में कम है लेकिन समग्र जीवन के सन्दर्भ में, घृणा प्रेम, क्रोध, भय और दूसरी वृत्तियों के वाहक पात्रों का मानसिक जीवन इतने ऊपरी ढंग से भी नहीं देखा गया है कि उपन्यास सर्वथा अविश्वसनीय हो जाएँ।

रांगेय राघव "अस्तित्व" की समस्याओं के लेखक नहीं थे, वह "सामाजिक अस्तित्व" के लेखक थे। इसीलिए वहाँ, पात्रों के परिदृश्य अधिक हैं, पात्र के विशिष्ट अस्तित्व की सभी शाखाओं की तलाश उनमें नहीं है। इस दृष्टि से "प्रतिनिधि" पात्रों की सृष्टि करते समय पात्रों की बहुत सी निजताएँ छोड़नी पड़ती हैं क्योंकि ध्यान, "युगबोध" पर रहता है।

बहरहाल, रांगेय राघव ने निर्जीव ऐतिहासिक उल्लेखों को, सजीव पात्रों के रूप देने में सफलता प्राप्त की है, उनमें वैविध्य भी खूब है। अब यह तो स्पष्ट ही है कि पानी का पाट लम्बा चौड़ा होने पर, गहराई का अभाव हो जाता है।

धारात्मक या प्रवाही शैली के कारण भी, रांगेय राघव में "चित्रण त्वरा" अधिक आ गई है। संवादों का भी यही हाल है। वे भी 'त्वरा' में बहते दिखाई पड़ते हैं। ठहरे हुए, सोचते हुए अन्दाज़ में, लेखक पात्र के मन में सुरंग नहीं लगाता वह "वाढ़" विधि का लेखक है। कहीं से भी उदाहरण उठाइए, यही प्रवृत्ति मिलेगी—

अलख निरंजन ! आदेश !
अलख निरंजन ! आदेश !

दवा घोंटने वाले का ध्यान जाता है। देखता है, सिर उठाकर, कौन ? अरे !

उठता है वह !
आगुन्तक भी उसी आयु का है।[1]

"महायात्रा" में तो संवादों की विकट हड़बडी दिखाई पड़ती है, बीच बीच में युग का भाष्य !

क्या ऐसा बहुलेखन के कारण हुआ है ? मेरी जानकारी में इसका कारण बहुलेखन ही है। रांगेय राघव, 19 वीं शताब्दी के बहुविदों जैसे एक विद्वान कलाकार थे। उनकी जिज्ञासा का वृत्त क्रमशः बड़ा होता गया। उन्होंने अनेक विषयों पर लिखा। उन्हें अपनी त्वरित ग्राहिका शक्ति पर इतना भरोसा था कि वह प्रायः 'बहुलेखन' के आरोप लगाने वालों से कहा करते थे कि मैं क्या करूं कि मैं विषय को जल्दी समझ लेता हूँ ? मन्दप्रतिभाएँ (मिडियाकर) हर काम में देर लगाती हैं" !

---

1. "जब आवेगी काल घटा"

रांगेय राघव के घर में प्राय: यह मज़ाक चलता था कि "पप्पू" को भैंस का दूध : मट्ठा पिलाया जाये तो इसकी मेधा कुछ मोटी हो जाये अन्यथा इसका दिमाग़ आगे भागेगा, शब्द साथ न दे पाएँगे !

इन सारी कमजोरियों और जल्दबाज़ियों के बावजूद, रांगेय राघव के कथासाहित्य ने हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। उनकी प्रत्येक रचना से तो हलचल नहीं मची लेकिन उनके रिपोर्ताजों, "गदल" जैसी कुछ कहानियों ("कुत्ते की पूँछ") और "मुर्दों का टीला" तथा "कब तक पुकारूँ" ने साहित्यिक जगत् को आन्दोलित किया था। बीच-बीच वह साधारण रचनाएँ भी दिया करते थे जैसे महापुरुषों पर लिखे गए उपन्यासनुमा जीवनवृत्त यथा "यशोधरा जीत गई" या "रतना की बात"। काश, उस प्रतिभा को सिमटने का अवसर मिलता लेकिन ऐसा नहीं हो सका क्योंकि रांगेय राघव ने लेखन को जीविका बनाने का साहस किया था, इसलिए जल्दी-जल्दी किताबें तैयार करने के अलावा कोई चारा न था। इसमें श्रम भी अधिक होता था और खीझ भी उठती थी। लेकिन वह इतने स्वाभिमानी थे कि नौकरी या दासता को वह अपमानजनक मानते थे और इस हैंकड़ी की रक्षा में ही उन्हें अपने को अधिकाधिक निचोड़ना पड़ा। अपने भीतर धधकती हुई प्रतिभा से उनमें एक अद्भूत सृजनाकुलता आ गई थी जो लेखनवृत्ति के कारण और भी दीप्त रहा करती थी, इसलिए निरन्तर लेखन उनका जीवन बन गया था। इस त्वरा का प्रभाव उतकी रचना-प्रक्रिया पर भी पड़ा है, शैली पर भी। वह इस दबाव के कारण, "**धावक शैली**" के सशक्ततम लेखक बन गए थे।

"**धावक लेखन**" में प्रत्येक शब्द चुन चुनकर या तौल-तौलकर नहीं प्रयुक्त हो सकता लेकिन लिखने की लपेट में, बीच-बीच बढ़िया विन्यास उभर आते हैं। बीच-बीच उदित ऐसे सटीक शब्दों और उक्तियों का एक आकर्षक भंडार रांगेय राघव में मिलता है। न जाने कितने "नए निरीक्षणों" (न्यू आब्ज़रवेशन) का प्रयोग रांगेय राघव की कृतियों में हुआ है। आश्चर्य है, डा० लालसाहबसिंह जैसे खोजियों का ध्यान इनकी तरफ नहीं गया। प्रकृति और लोकजीवन के इस "द्रष्टा" लेखक में, जैसे, दृश्यों, बिम्बों और जीवनविधि के सूक्ष्म निरीक्षणों ने अपने को प्रकट करने की, ("हम पहले, हम पहले" कहते हुए) होड़ लगाई हो, और वे, शब्द से आगे, भागते-उछलते, सभी को समेटते रागेय राघव के मानस की चुम्बक से खिंचते चले आए हों। मुझे लगता है, योग-साहित्य के दीर्घ चिंतन-मनन से उनमें यह शक्ति उत्पन्न हो गई थी, उनकी "कुंड़लिनी" जग गई थी। योगियों के अनुभवजगत में डूबते रहने से ही शायद उन्हें "कालारूढ़" होने की प्रेरणा मिली थी। उसी के बल पर, विगत, वर्तमान और भविष्य का वह निकटतम साक्षात्कार कर लेते थे।

इसी से, आचार्य जी, वातावरण-निर्माण में अधिक सफल हुए हैं। जीवन की विभिन्न स्थितियों और वृत्तियों के अनुरूप उनके उपन्यासों में वातावरण बनाने

की कोशिश है। कुछ प्रकृति और कुछ व्यक्तिचित्रण द्वारा वह वातावरण बनाते हैं, इसलिये उनके द्वारा चित्रित चाहे मुर्दों के टीले हों या सजीव गाँव या जरामयपेशा जनजातियों के अड्डे वा शहर—हर जगह वर्ण्यवस्तु के अनुरूप वह माहौल बना लेते थे। ऐसे स्थानों पर उनका शब्द चुनाव भी आकर्षक है।

शिल्प की दृष्टि से रांगेय राघव ने अधिक प्रयोग नहीं किए। यथार्थवाद की लीक उन्होंने कहीं नहीं छोड़ी यों बीच-बीच प्रयोग किए हैं जैसे "जब आवेगी काल घटा" में, लोकगाथा कहने की शैली अपनाई गई है। उन्होंने अतियथार्थवाद, अंतश्चेतना, या फैंटैसी की विधियों का प्रयोग नहीं किया, न प्रतीकों या मिथकों से से ही, कला के गूढ़ प्रयोजनों को पूरा किया। वह कथा कहने की ही विधि अपनाकर चले हैं। इस सपाट रचनाव्यापार के बीच-बीच वह यत्र तत्र, "फ्लैश बैक", "दिवास्वपन", दुःस्वप्न आदि विधियाँ अपनाते हैं।

रांगेय राघव का रचनात्मक दृष्टि से मुख्य योगदान उपन्यास-क्षेत्र में ही है। यद्यपि वह प्रत्येक लेखक की तरह अपने को "मूलतः कवि" मानते थे। कविता में भी उनकी कोशिशें प्रशंसनीय रहीं। "मेघावी" काव्य को उन्होंने, 'कामायनी' के प्रत्युत्तर में लिखा था, उसी तरह जिस तरह उन्होंने भगवतीचरण वर्मा के "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" के जवाब में, "सीधे-सादे रास्ते" लिखा था। लेकिन "कामायनी" में, एक प्रौढ़ कवि की मँजावट है जबकि 'मेघावी' में कच्चापन, ताजगी और त्वरा है। रांगेय राघव ने अनेक कविताएं लिखीं है, द्रोपदी पर एक खण्ड काव्य भी लिखा लेकिन ये सब "प्रयास" मात्र हैं। उनकी कवि प्रतिभा के लिए आवश्यक था कि वह "अनुभूति" में देर तक डूबें, शब्द और पंक्ति पर घण्टों मंथन करें, नवीन उद्भावनाओं की प्रतीक्षा में तड़पें, वहशत में भटकें लेकिन रांगेय राघव के पास कविता और ऊब डूब के लिए, समय नहीं था। यह भी उनके लिए सम्भव न था कि वह "द्रष्टा" से आगे बढ़ कर, "भोक्ता" बनें, जविन के दलदल में स्वयं उतरें। उनकी घरेलू पृष्ठभूमि ऐसी थी कि वह शिक्षाकाल में निश्चित रहे और बाद में भी उनकी देख-भाल करने वाले भाई थे। उसके बाद तो वह स्वयं उनकी देखभाल करने लगे।

लेकिन जैसा कि सभी जगह हुआ, कविता के क्षेत्र में भी, रांगेय राघव ने अनूठी और धारा मोड़ देने वाली कविताएं चाहे न लिखीं हों लेकिन उनकी कविताओं का एक स्तर है, एक अपनी छवि है और सबसे ऊपर उनमें "शक्ति" और "प्रवाह" है। अपनी प्रगतिशील रीढ़ के कारण, उनकी कविताएँ प्रभाव डालतीं थीं। वह कविताओं को बड़े उदात्त, मन्द्र, गम्भीर स्वर में पढ़ा करते थे जैसे कोई "क्लासिक कवि" पढ़ रहा हो।

रांगेय राघव ने अंग्रेजी से नाटकों, काव्यों· इतिहासों के अनुवाद किए, एक दो मौलिक नाटक भी लिखे। समाजशास्त्र, पर पुस्तकें लिखीं, चित्र बनाए। संस्कृत से अनुवाद किए। यह सब कार्य महत्वपूर्ण है। लेकिन इस सबसे, उन्होंने जो अपना

आत्मविस्तार किया था, उसका चमत्कार तो आगे प्रकट होता और यही वह कहा भी करते थे। उनके मनमें नाथ योगियों की तरह, कुछ चमत्कार दिखाने की इच्छा रहती थी लेकिन इतने आत्मनिष्पीड़न से जैसे प्रकृति ने उनका साथ छोड़ दिया। वह किसी अद्‌भुत नक्षत्र की तरह चमके और अस्त हो गए जैसे उन्हें जल्दी थी कि जल्दी लिखो। "कालारूढ़" प्रतिभाओं को काल कभी नहीं बख्शता।

योगियों के ऊपर लिखे गए उनके साहित्य को पढ़कर, उनके व्यक्तित्व का रहस्य खुलता है। "गोरखनाथ" पर उन्होंने बहुत काम किया था। नाथपंथियोगियों ने संयम, शक्ति और चमत्कार की परम्परा शुरू की थी। क्रमश: चित्त को ऊर्ध्व धरातलों पर ले चलना और दुर्बलताओं से लड़ना उनका लक्ष्य था। अप्रतिहत अहंकार या स्वाभिमान ही उनकी पूंजी थी। इस अहंकार की विशेषता यह थी कि नम्र और सरल के सम्मुख यह झुकता था लेकिन आडम्बरी और अहंकारी व्यक्तियों को वह चुनौती देता था। रांगेय राघव, अपने समय के किसी विद्वान और लेखक को अपने से बड़ा नहीं मानते थे। वह अत्यन्त "सभ्य" थे लेकिन वह व्यक्तित्वों की रगड़ में. पीछे न हटते थे, आगे बढ़ते थे और टकरा जाते थे। वह कार्य करके दावा करते थे कि देखो, हम तुमसे कम नहीं हैं, आगे हैं। चुनौती को स्वीकारने के ये तेवर, अनवरत साधना की माँग करते थे। गोरख से रांगेय राघव ने यही सीखा था और इसी का उन्होंने अभ्यास किया था।

गुरु गोरखनाथ की तरह इस "लेखनयोगी" ने "सोते हुए" "मछन्दरों" को ललकारा था, " जाग मछन्दर गोरख आया" ! गोरख की तरह ही, उन्होंने अपने आकर्षक यौवन, को तपा-तपा कर कुंदन बनाया। जब लेखन-सिद्धि मिल गई, तभी विवाह किया।यही उनका व्रत भी था। गोरख की तरह ही राघव ने, मनुष्य और समाज में जो क्रूर, छुद्र और निम्नगामी है, उसे काटा, उसका उपहास किया, व्यंग्यों से छेदा और जो मानवोचित है, उसे उन्होंने ऊँचा उठाया। गोरख की तरह ही वह, वह किसी भी प्रकार की कुटिलता और अधोमुखता को बरदाश्त नहीं करते थे। वह गोरख की तरह, मनुष्य के भीतर सोई शक्ति को भड़काते थे। वह इसीलिए बिना बात, लोगों को "प्रवोक" करते रहते थे, सहलाते नहीं थे, न "साधारणता" की वह प्रशंसा करते थे। वह चाहते थे, सभी "महान" हों, "विराट" हों।

ऊँचाई और तेज़ी में रांगेय राघव दसवें "नाथ जी" जैसे ही थे। हम लोग उनकी बड़ी-बड़ी आँखें, चुनौती भरी चितवनि, अकड़भरी मस्त चाल को देखकर, उन्हें "साईं जी" कहा करते थे। जब आसपास फैली साधारणता के बीच रांगेय राघव का मानसचित्र उभरता था तो लगता था, बीसवीं शताब्दी में कोई उदात्त या पुण्यात्मा भटक रही है। प्रगतिवादी आन्दोलन द्वारा, जिस सामाजिक क्रान्ति का आह्वान हुआ था, मानों आचार्य रांगेय राघव, उसी की धारणा और अनुभूति को, पाठकों में उतारने आए हों। रोज-बरोज़ की पेशेवर राजनीति ने उन्हें विकृत नहीं

किया था, न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें अपने को गिराना पड़ा था। महत्वाकांक्षाओं में सिर्फ़ एक थी कि लेखक रूप में महत्ता कैसे प्राप्त हो किन्तु उसके लिए भी उन्होंने, "स्थापना-युद्ध" में भाग नहीं लिया। वह हर एक सस्ती उपलब्धि से घृणा करते थे, उन्हें विश्वास था कि उनकी प्रतिभा और श्रम रंग लाएँगे और वही हुआ भी।

फिर भी रांगेय राघव को कहीं दुःख था कि उनके कार्य का उचित आदर नहीं हुआ। उनकी तेजस्विता को उनके आलोचक सह न सके और न आलोचकों की नुक्ताचीनी को, रांगेय राघव ही सह सके। मार्क्सवादी दृष्टि से, इतिहास और साहित्य की व्याख्या के मतभेद इतने उग्र हो गए कि पारस्परिक समझ का सम्मान भी कम होता गया। तर्क की चिनगारियों की आँच इतनी बढ़ी कि उनके न रहने पर भी, उनके व्यक्तित्व और साहित्य पर, आलोचकों ने मौन धारण कर लिया और आज भी वही स्थिति है।

साहित्यिकों की इस अंतर्मुखता को देखकर मुझे अत्यन्त दुःख होता है। वस्तुगतता के लिए प्रतिक्षबद्ध होने पर भी, अहंवाद प्रबलतर साबित होता है। रचना की सही स्थापना के लिए, साहित्य में भी, समाज की तरह "सम्बन्धों" या "परस्पर प्रशंसा" का एक दुश्चक्र बन जाता है। इस दुश्चक्र से रांगेय राघव जैसे, सर्वथा, अकेले चलने वाले लेखक को वह स्वीकृति और सम्मान नहीं मिला, जिसके वह हक़दार थे। यह कसक आचार्य जी के मन में अवश्य रहती थी। इसी से वह आलोचकों के प्रति आक्रामक रवैय्या अपनाते थे।

रांगेय राघव की मृत्यु का समाचार मुझे नैनीताल में मिला था। रोग का समाचार तो पहले से ही ज्ञात था। मैंने, "भारती" के सम्पादक, श्री वीरेन्द्र कुमार जैन को पत्र लिखा कि वह रांगेय राघव का चित्र छापें और सरकारों से अपील करें कि वह उन्हें विदेश भेजें ताकि उनका उपचार हो सके। वीरेन्द्र कुमार जैन ने 'भारती' में, बड़ी सहृदयता के साथ यह सब किया। उस समय, उत्तरप्रदेश के शिक्षामंत्री, आचार्य जुगलकिशोर आचार्य थे। उन्हें मैंने एक साहित्यिक गोष्ठी में बुलाया, उन्हें 'भारती' का विवरण' दिखाया। वह प्रभावित हुए और कुछ करने का वचन दिया लेकिन जब मैंने यह विवरण रांगेय राघव को लिखा तो वह नाराज़ हो गए। वह यह बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि कोई उन पर दया दिखाए अंततः उनमें गोरखनाथ जो बैठे थे, वह किसी भी अनुकम्पा को कैसे सह सकते थे ?

इस घटना से मेरे मन पर, उस महापुरुष का और भी अधिक प्रभाव पड़ा। फिरभी अगर वह जीवित रहते तो शायद उन्हें विदेश भेजने का प्रबन्ध हो जाता लेकिन वह परवाह नहीं करते थे। उन्हें अपने लेखकीय स्वाभिमान की ही सबसे अधिक परवाह थी।

डॉ० रांगेय राघव के साथ रहने का एक नतीजा यह निकला कि मुझे बहुत कम लोग "जँचते" हैं। वैसा भव्य, ऊँचा और निरन्तर साधनारत व्यक्ति अब कहाँ

मिलता है ? साहित्यिक जगत् की व्यक्तिगत आपाधापी और नाम के लिए पागलपन, कुंठा और प्रतिशोध के कुकृत्य देख-देख कर, मुझे रांगेय राघव और भी याद आते हैं। कुछ वर्षों पूर्व, टायफायड में, मैं ज्वर और दुर्बलता के क्षणों में देखता था कि वह मुझे बुला रहे हैं। वही सफेद लम्बा कुर्ता और धोती, आधा सिर खल्वाट, आँखों में पैनापन, पर मुद्रा में शांति, जैसे कह रहे हों कि अब और क्या देखना चाहता है भाई, मन भरा नहीं क्या ? मैंने उनसे कहा था कि मुझ में आप ही तो जिन्दा हैं। मैं वही तो कर रहा हूँ जो आप चाहते थे। अब और हो भी क्या सकता है, सिवा इसके कि जलते : दहकते रहकर अंधेरे से लड़ना जारी रखा जाए। इस रूप में देखा जाए तो क्या रांगेय राघव अनुपस्थित हो गए हैं ? वह अब भी जीवित हैं, मुझ में, उनके अन्य मित्रों, पाठकों, प्रशंसकों और शोधकों में।

उनकी पुत्री सीमंतनी में उनके मुख का बिम्ब अब भी देखा जा सकता है। उनके भाइयों में एक जीवित भाई में उनकी झाँकी ली जा सकती है, उनकी पत्नी सुलोचना के अंत:करण में वह अभी उपस्थित हैं, और जहाँ तक उनकी कृतियों का प्रश्न है, उनमें कई एक कृतियाँ, कालजयी प्रमाणित होंगी। रांगेय राघव ने हिन्दी को आत्माहुति दी थी, उससे जो लपट उठी थी, वह हमेशा-हमेशा उनकी कृतियों के पाठकों की चेतनाओं को दीप्त करती रहेगी। देश में ही नहीं, विदेशों में भी उनके अनूदित साहित्य से पाठकों की मेधा जगमगाएगी, और सत्य तो यह है कि जब रूस और अन्य समाजवादी देश, उनकी कृतियों का जयगान करेंगे, तब हमारे देश के आत्मीय लेकिन आलसी मित्र और आलोचक भी पुकार उठेंगे—"पप्पू हमारा था, वह महान् था"।

प्रेमचन्द : प्रेमचन्दोत्तरता

प्रेमचन्दोत्तर कथालेखन में साफ़-साफ़ दो ध्रुवीकृत धाराएँ हैं, व्यष्टिवादी और समष्टिवादी।

व्यक्तिवाद भी दो प्रकार का होता है, स्वस्थ और अस्वस्थ या प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी। 18वीं–19वीं शताब्दी में पूँजीवाद के अभ्युदय के समय, सामन्ती रूढ़िवाद के विरुद्ध जो व्यक्तिवाद विकसित हुआ था, वह प्रगतिशील था; क्योंकि वह व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास, स्वतन्त्र और साहसी निर्णय लेने की क्षमता में बाधक सामन्ती प्रथाओं तथा मर्यादाओं को तोड़ता था और व्यक्ति के स्वतन्त्र विवेक और संवेग को महत्ता देता था किन्तु प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र–अज्ञेय, इलाचन्द जोशी वगैरह के व्यक्तिवाद में प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना के विरुद्ध प्रतिक्रिया है और वह रोमांसों-रिरंसाओं-कुंठाओं-विषमजालों के मनोविश्लेषणों और उन्हें औचित्य प्रदान करने वाले हेत्त्वाभासों में फंस जाता है। परिणामस्वरूप वह अन्त में समाजवादविरोध या साम्यवादविरोध का स्रोत बन जाता है।

समाजवाद-विरोध का अर्थ है कि व्यक्ति को समाज के सन्दर्भ में न रखकर, उसे निरपेक्ष रूप में देखना; व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व और संगति की उपेक्षा कर एक कलाकार या लेखक व्यक्ति की अद्वितीयता का मिथक खड़ा करना और अपने अहम् एवम् वासना को मनोविश्लेषण के सहारे समाजनिरपेक्ष रूप में वन्दनीय बनाना। अतएव प्रेमचन्द के बाद अहम्मूलक व्यक्तिवाद (अज्ञेय:जोशी) तथा अध्यात्ममूलक व्यक्तिवाद (जैनेन्द्र) सामाजिक-चेतना के साहित्य में समावेशक प्रेमचन्द के बाद एक विचलन (डीवियेशन) के रूप में दिखाई पड़ता है या दिखाई पड़ना चाहिए।

विचलन आकर्षक लगता है किन्तु वह वरेण्य नहीं होता अथवा सर्वदा वरेण्य नहीं होता।

प्रेमचन्दोत्तर अहंमूलक व्यक्तिवाद यदि अभुक्त कामवासना के प्रसंगों तक ही सीमित रहता, वह यदि प्रेमचन्द की विरासत में मिली सामाजिक चेतना के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी शक्तियों के समर्थन में खड़ा नहीं हो जाता तो भी उसे पूरक लहर के रूप में माना जा सकता था क्योंकि प्रेमचन्द में वैयक्तिक प्रेम की सघन, स्वच्छन्द

और मुक्त अनुभूतियाँ और सन्दर्भ नहीं हैं, गांधीवाद के प्रभाव अथवा पारम्परिक नैतिक आदर्शवाद के दबाव से उत्पन्न एक मर्यादा है, जिसमें प्रेमचन्द के प्रेमी पात्र बँधे रहते हैं। लेकिन प्रेमचन्द के समाज-मानस-विश्लेषण के विरुद्ध व्यक्तिमानस विश्लेषण की प्रतिक्रिया आगे चलकर किस तरह शीतयुद्ध की अवधि में (और अब भी) प्रेमचन्द द्वारा साहित्य में स्थापित मानवमूल्यों (शोषणविरोध) के विरोध में खड़ी हो गई और किस प्रकार अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, धर्मवीर भारती आदि वासनावाद को मानववाद बताकर, साम्यवाद विरोध के पर्याय और प्रतीक बन गये, यह सर्वविदित तथ्य है। अतः उस पर अधिक कहना फिजूल है।

इस प्रेमचन्द-चेतना या सामाजिक-राजनैतिक-क्रान्ति की चेतना के विरुद्ध खड़े होने से प्रेमचन्द की हानि नहीं हुई; हानि अहंवादियों-वासनावादियों की हुई क्योंकि अंधसाम्यवादविरोध ने व्यक्तिवादियों को विकृत, एकांगी और जनविरोधी बना डाला और आज वे जनचेतना की ओर उन्मुख होने वाले लेखकों को पूँजीवादी घरानों के साथ सांठगाँठ और साधनों के बल पर बरगलाकर प्रगतिशील आंदोलन को बहुविधि बदनाम करने में लगे हुए हैं।

प्रेमचन्दोत्तर कालावधि में दूसरा विचलन कतिपय 'नई कहानी' के कथाकारों में आया। इन्होंने प्रेमचन्द की सरलता या असंकुलता, हृदयपरिवर्तनवाद और गंवइ-गांवपन पर चोट की और नागर-जटिलता तथा नारी-पुरुष सम्बन्धों के द्वन्द्वों पर ध्यान केन्द्रित किया और प्रामाणिक अनुभूति के नाम पर लेखन के क्षेत्र से पर्यवेक्षण का बहिष्कार किया। मसलन् सामाजिक स्थितियों, शक्तियों-द्वन्द्वों और हलचलों का ज्ञान लेखक को पर्यवेक्षण से होता है, सर्वदा साक्षात् अनुभव से नहीं। साक्षात् अनुभव सर्वत्र संभव ही नहीं है, अतः लोकमानस और व्यक्तियों का चित्रण अवलोकन और कल्पनाशक्ति से होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो कोई उपन्यासकार या कहानीकार असाक्षात्कृत किन्तु पर्यवेक्षित (आब्ज़र्व्ड) जीवनस्थितियों तथा व्यक्तियों पर लिख ही नहीं पाता। इसी प्रकार 'प्रामाणिक-अनुभव' के मिथक को मान लेने पर कोई समाज-द्रष्टा विवेचक सामूहिक लोकमानस (सोशल-साइक्लोजी) का विश्लेषण ही नहीं कर सकता था।

अतएव राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश मध्यवर्गीयता के शिकार हो गये। उन्होंने अपने प्रामाणिक-अनुभव के वृत्त को बढ़ाने के लिए गांव-गलियों, मज़दूर-बस्तियों तथा जन संघर्षों में न जाकर या तो काम-सम्बन्धों में स्वतंत्रता के प्रामाणिक-अनुभव लिखे अथवा "महाजनी सभ्यता" (प्रेमचन्द का शब्द) की संरचना शोषणपद्धति और उसकी प्रतिक्रियावादी भूमिका को एक्सपोज़ किये बिना सामाजिक यथार्थ के कुछ चित्र दिये। इनमें यादव और राकेश में अस्तित्ववाद की भी अन्तर्ध्वनियां गूंजती हैं जो वैयक्तिक अस्तित्व चिन्ता से सामूहिक अस्तित्व के अवलोकनों और अनुभवों की ओर नहीं बढ़ने देतीं। फलतः मध्यवर्गीय मन की भूख-प्यास बुझाने तक ही इनकी 'नई कहानी' सीमित होने लगी।

यह आकस्मिक नहीं है कि इन 'नई कहानी' के प्रवक्ताओं ने प्रेमचन्द की सिर्फ उन्हीं कहानियों को नया और आधुनिक माना, जिनमें इन्हें मूल्यचेतना अमुखरित जान पड़ी। उदाहरणत: 'कफ़न' और 'पूस की रात' में मूल्यहीन मनोदशा है किन्तु यह नहीं समझा गया कि 'कफ़न' और ''पूस की रात'' में मनोदशा (पात्रों की) स्थिति के कारण है और यह स्थिति वास्तविक और सामान्य स्थिति है; सम्पत्तिहीन या अत्यन्त अल्प सम्पत्ति वाले लोगों की स्थिति है।

प्रेमचन्द के लिए 'कफ़न' के पात्रों का मूड किसी अस्तित्वदर्शन से नहीं, वास्तविक जीवन स्थिति से जन्मता है। अत: 'कफ़न' और 'पूस की रात' यथार्थवाद की कहानियाँ हैं, उस पछांहीं पूंजीवादी आधुनिकता की नहीं, जिसमें 'अनुभव' को मूल्य और मानवममता से विच्छिन्न कर दिया जाता है। मज़ा यह है कि मानवीयता की जगह सर्वत्र मूल्यममताहीन 'आधुनिकता' के द्रष्टा डा० इन्द्रनाथ मदान भी 'कफ़न' को आधुनिक कहानी मानते हैं और राकेश और कमलेश्वर भी! यदि ये तीनों किसी बिन्दु पर सहमत हों तो समझना चाहिए कि धारणाओं (कंसैप्ट्स) को ठीक से समझा नहीं जा रहा है, कहीं न नहीं गड़बड़ी है।

इस सम्बन्ध में नवीनतम घपला राजेन्द्र यादव ने पेश किया है। वह ''प्रेमचन्द की विरासत और अन्य निबन्ध'' में कहते हैं :

''....प्रेमचन्द की यह संवेदना आदर्शवाद से यथार्थवाद तक आई, उसी तरह, जैसे गांधीवाद के मोह से छूटकर उस समय बहुत से लोग मार्क्सवाद पर आए (थे)। लेकिन मैं यहीं एक दूसरा सवाल करना चाहूँगा—क्या मोह भंग आदमी को हमेशा ही वास्तविक और सही ज़मीन पर छोड़ जाता है? क्या वह उसे स्तब्ध या असंतुलित नहीं कर डालता?....'कफ़न' और 'पूस की रात' की तारीफ़ करते समय क्या हमने कभी यह सोचने की ज़रूरत महसूस की कि हृदयपरिवर्तन का आदर्शवाद छोड़कर प्रेमचन्द हृदय-स्तब्धता या विजड़ित-संवेदना के बिन्दु पर सांस तोड़ते हैं?'' (पृष्ठ 86)

यादव 'कफ़न' और 'पूस की रात' में अमानवीकरण की प्रक्रिया देखते हैं। यकीनन यहां अमानवीकृत मनोदशा है पर उसका कारण ठोस और स्पष्ट है। साधनहीनता मनुष्य को सर्वाधिक अमानवीकृत करती है—आरत काहि न कीन्ह कुकर्मू! आर्त्त व्यक्ति कौन-सा दुष्कर्म नहीं करता? बुभुक्षित व्यक्ति निष्करुण हो जाता है।[1] यह सभी जानते हैं किन्तु इससे प्रेमचन्द की संवेदना की स्तब्धता या जड़ता नहीं प्रमाणित होती; 'कफ़न' के पात्रों की जड़ता प्रमाणित होती है और 'पूस की रात' में तो यह वर्ग-बोध भी है कि छोटा किसान—दुर्दशा के चरम बिन्दु पर पहुँचकर ही श्रमिक बनता है क्योंकि ज़मीन-ज़ायदाद चाहे वह ज़रा-सी भी हो,

---

[1] राजस्थान में अकाल पड़ने पर कई विवश व्यक्ति अपनी संतान को बेच देते हैं, संवेदना का यह विजड़न मोहभंग से नहीं, भूख से होता है।

सम्मान और सुरक्षा का स्रोत होती है, एक ऐसे समाज में जो समाजवादी नहीं है अर्थात् जिसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व है।

राजेन्द्र यादव की यह बात ठीक है कि प्रेमचन्द की विरासत का मतलब वर्ण्यविषय-निष्ठता नहीं, प्रेमचन्द की यथार्थवादी मानववादी दृष्टि के प्रति वफ़ादारी है लेकिन कहानी में गाँव और शहर की कहानियों की जिस ढंग से समानान्तरता स्थापित की गई, क्या वह प्रेमचन्द की विरासत के प्रति वफ़ादारी थी? प्रेमचन्द के लिए यथार्थ अविभाजित है अतः वह दोनों स्थानों गांव और शहरों में पात्रों को ले जाते हैं। यह भी देखा जाना चाहिए कि प्रेमचन्द का हृदयपरिवर्तनवाद या सद्भावनावाद, उनके यथार्थदर्शन में बाधक नहीं हुआ, क्योंकि वह प्रक्रिया में नहीं है, परिणति में है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में यकीनन हृदयपरिवर्तन दिखाते हैं (गोदान को छोड़कर) किन्तु प्रक्रिया में वह तात्कालिक यथार्थ का पूरा ब्यौरा पेश करते हैं। उनके उपन्यास भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के आज भी सर्वाधिक प्रामाणिक दस्तावेज हैं और उनमें शुरू से ही समाजवाद (साम्यवाद) के प्रति रुझान दिखाई पड़ता है। राजेन्द्र यादव यह नहीं देख पाए कि गांधीवाद और समाजवाद की दृष्टियां साथ-साथ, प्रायः परस्पर विद्ध होकर चली हैं। इनमें पूर्वापर क्रम नहीं है, सहविकास है। सोवियत रूस की राज्यक्रान्ति के बाद से ही गांधीवादी तत्त्वों में अनेक नेताओं को समाजवाद प्रभावित करने लगा था। नेहरू, लोहिया, जयप्रकाशनारायण, नरेन्द्र देव आदि, अनेक उदाहरण हैं। इसी सिलसिले में प्रेमचन्द में भी दोनों प्रभाव सक्रिय दिखाई पड़ते हैं, अतः गांधीवाद और समाजवाद में पूर्वापर क्रम मानने पर ही 'स्तब्धता' की कल्पना संगत हो सकती है। राजेन्द्र यादव भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास को गौर से देखें तो लगेगा कि अनेक नेता, गांधीवादी आँदोलन की विधि मानकर भी, सामाजिक संरचना की दृष्टि से समाजवाद की ओर उन्मुख थे। क्रांतिकारी भगतसिंह, यशपाल आदि की "हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी" का घोषणा-पत्र, यशपाल के 'सिंहावलोकन' में छपा है। उसमें स्पष्टतः समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता घोषित है।

यह भी भ्रम है कि समाजवाद या साम्यवाद हृदयपरिवर्तन की धारणा नहीं मानता या यह कि वास्तविक जीवन में आदमी बदलता नहीं है। आपत्ति तब होती है जब हृदय परिवर्तन अचानक या लेखक की मनमानी से दिखा दिया जाए। स्वयं राजेन्द्र यादव का हृदयपरिवर्तन हो रहा है, जो 'प्रेमचन्द की विरासत और अन्य निबन्ध' पुस्तक से प्रमाणित है। अब यादव शनैः-शनैः वामोन्मुख लेखन धारा के निकट आते जा रहे हैं, और यशपाल की प्रशंसा करते हुए अज्ञेय और नामवरसिंह को कसकर एक्सपोज कर रहे हैं। फिर भी कहीं मोह है अन्यथा वह समर्पण में नामवरसिंह को 'ईमानदारी की समाधि' ही कहते, 'जीवन्त' समाधि नहीं!!

प्रेमचन्द में सरलता है, परिचित-यथार्थ है, प्रयोगशीलता नहीं है, अछूती और असामान्य अनुभूतियाँ नहीं हैं; नवीनता नहीं है, भाषागत चाकचिक्य नहीं है; बिम्बात्मकता और प्रतीकत्व नहीं है; शैलीगत विचलन नहीं हैं किन्तु प्रेमचन्द की कला की विशेषता यह है कि उनके द्वारा प्रस्तुत पात्र अपनी जीवन्तता के कारण स्वयं प्रतीक बन जाते हैं जबकि राजेन्द्र यादव को ज़बरदस्ती प्रतीकत्व लाना पड़ता है। प्रेमचन्द की सरल और सीधे यथार्थवाद की कहानियाँ, वास्तविकता पर सही पकड़ के कारण स्वयं जटिलता की व्यंजक बन जाती हैं। इस कमाल को 'नए कहानीकार' नहीं समझ पाए।

उदाहरण के लिए 'शतरंज के खिलाड़ी' आज की सत्ता की राजनीति के खिलाड़ीवर्ग तथा नवधनाढ्यवर्ग की व्यसनप्रियता की प्रतीक है। इस तथ्य को सत्यजित रे ने समझा है।

इसी तरह 'नशा' वर्ग संक्रमण, और 'दो बैलों की कथा' मानवीय-अलगाव (एलियनेशन) की प्रतीक बन गई है। फणीश्वरनाथ रेणु ने शायद प्रेमचन्द की इस कहानी का मर्म समझकर भैंस के बच्चे (किसुना) पर कहानी लिखी थी जो अपने मानव प्रेम से ग़रीब का खेत काटने वाले ज़मींदार पर हमला कर देता है और मारा जाता है। अलगाव, जटिल पूँजीवादी समाज की प्रवृत्ति होती है पर प्रेमचन्द की 'सरल' कहानी उसे सहजता से दिखा देती है और गहरे मर्म की ओर इशारा करती है। सरल में सांकेतिकता नहीं होती, यह बात केवल राजेन्द्र यादव ही कह सकते हैं!

प्रयोगशीलता भी कोई स्थिर या विचित्र प्रत्यय नहीं है। प्रारम्भ से अन्त तक प्रेमचन्द में कहानीकला का एक विकास दिखाई पड़ता है, उनके उपन्यास लेखन में भी। प्रेमचन्द एक युगप्रवर्तक लेखक थे। उन्होंने सम्पूर्ण पारम्परिक[1] और रोमांटिक लेखन से अप्रभावित रहकर यथार्थवादी लेखन की स्थापना की थी और सामाजिक-यथार्थवादी चेतना को साहित्य के केन्द्र की ओर खींचा था। ऐसा लेखक चेतना प्रवाह के बारीक अंकन की जगह यथार्थ प्रवाह या वास्तविक गतिविधि तथा आंदोलनों को अंकित करता है। अतः ऐसे पायोनियर लेखक में वह खोजना, जो उसमें नहीं है, उतना ही ग़लत है, जितना वह न खोजना, जो उसमें है!

प्रेमचन्द साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम मानते थे और सामाजिक परिवर्तन के लिए उन्होंने उस निराशा का प्रयोग किया है, जो किसानों-मज़दूरों में व्याप्त थी। होरी इसी का प्रतीक पात्र है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को लगा था कि प्रेमचन्द साहित्य को प्रचार में बदल रहे हैं जबकि प्रेमचन्द हिरण्यमय पात्र से ढँके सत्य को उद्घाटित कर रहे थे। वाजपेयीजी को आज के नवीन समाजशास्त्रियों की तरह यह भ्रम था कि परिवर्तन

---

1. क्लासीकल

सर्वप्रथम संस्कृति, विचारणा और मूल्यों के क्षेत्र में होता है, फिर वह सर्वत्र फैल जाता है। वे मार्क्सवाद की इस अंतर्दृष्टि को नहीं जानते थे कि सामाजिक परिवर्तन निराशा या सामाजिक-परिस्थिति में निहित सम्भावनाओं के उजागर कर देने से भी हो सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में हृदय परिवर्तन के बावजूद भारतीय जन-जीवन की निराशाओं का उन्मीलन है। निराश व्यक्ति भड़क कर उस सामाजिक संरचना को नष्ट कर सकता है।

गोदान में होरी की निराशा, समूचे कृषक वर्ग की निराशा है और इसे देखकर परिवर्तन की चेतना उबलने लगती है और शोषक वर्गों के प्रति घृणा और क्रोध पनपता है।

जब छायावाद कल्पित ब्रह्म के साथ अभिसार कर रहा था और कामायनी में प्रसाद, आनन्द भूमि में विचर रहे थे तब प्रेमचन्द परजीवी भद्र समाज के सामने उस नरक और निराशा पर सर्च लाइट फेंक कर दिखा रहे थे कि लेखक और मनुष्यता के लिए चुनौती यह है !

प्रेमचन्द लेखन द्वारा यह बता रहे थे कि व्यवस्था (सामन्ती-साम्राज्यवादी) किस तरह करोड़ों आम आदमियों और औरतों का पाशवीकरण करती है और यह कि संघर्ष द्वारा ही इस सामन्ती और महाजनी पद्धति और सभ्यता को समाप्त किया जा सकता है। अतएव प्रेमचन्द के पात्र मात्र द्रष्टा नहीं, प्रामाणिक जीवनानुभव के भोक्ता और संघर्षशील हैं। वे 'नए कहानीकारों' के पात्रों की तरह इन्द्रियपरायण (सैंसेट) नहीं हैं; इन्द्रों के बाह्य विलास और शान के भीतर छिपी अमानवीयता और कुत्सा का अनावरण करते हैं।

प्रेमचन्द को जनसाधारण की आर्त्त जीवनपद्धति का प्रामाणिक-अनुभव था। फिर भी वह अपनी इंसानियत के कारण उससे कटकर, उस चूहा-दौड़ में नहीं पड़े, जिसके शिकार राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, अज्ञेय, निर्मल वर्मा और दूसरे लेखक हुए, अत: इन सबको प्रेमचन्द कहीं न कहीं कष्ट पहुँचाते हैं। ये सब प्रेमचन्द की विरासत का संवाहन पूरी तरह नहीं कर सके। उनकी चेतना, संवेदना और यथार्थवादी कला का निर्वाह और नैरन्तर्य यशपाल, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर और साठोत्तर उन कथाकारों में मिलता है, जो सामन्ती-पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध में लिख रहे हैं। अतएव समकालीन कथा साहित्य में प्रेमचन्द की 'आत्मा' का नवोन्मेष है और आज हालत यह है कि जनता और उससे सहानुभूति रखने वालों की निगाह में न गिरने की मंशा से 'नई कहानी' और पाश्चात्य पूंजीवादी आधुनिकता के प्रयोक्ता लेखक भी प्रेमचन्द से अपने को जोड़ रहे हैं।

यह हृदय परिवर्तन बुरा नहीं है, बशर्ते कि अब भी वे महाजनी सभ्यता के कुचक्र को नग्न करें और उसके विरुद्ध पाठकों में घृणा उत्पन्न करें।

मात्र वर्जना विरोध के कथासाहित्य से प्रेमचन्द की विरासत मज़बूत नहीं होती वह तो सम्पूर्ण सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे को तोड़ कर, समाजवादी नवनिर्माण

से ही होगी । दूसरे शब्दों में सम्बन्धों में क्रान्ति भी तभी होगी, जब समाज का सामंती-पूँजीवादी तानाबान छिन्न-भिन्न कर दिया जाए ।

अतएव प्रेमचन्द की विरासत की सर्वाधिक रक्षा जनपक्षधर, वामपन्थी सृजन में हुई है और यह कार्य 'नयी कहानी' के बाद साठोत्तर कथासाहित्य में उपलब्ध है ।

प्रेमचन्द को हिन्दी और उर्दू में पुनः पहचाना जा रहा है किन्तु पाकिस्तान में प्रेमचन्द को नकारा जा रहा है । पिछले दिनों दिल्ली की जामा मिल्लिया में हुए परिसंवाद में पाकिस्तान से आए उर्दू कथाकारों में अधिकांशतः लेखकों-आलोचकों ने उर्दू कथा साहित्य में प्रेमचन्द के योगदान पर मौन धारण किया या उसे अस्वीकार किया । इससे यह पता चलता है कि सम्प्रदायवादी तत्त्व प्रेमचन्द और मण्टो के मामले में, भारतीय 'आधुनिकों' के साथ हैं । प्रतिक्रियावादी, चाहे वे कहीं हों, किस तरह अपने-अपने विशिष्ट रुखों : रुझानों के बावजूद जनवाद के साथ गद्दारी करते हैं और किस तरह साहित्य की प्रतिक्रान्तिकारी भूमिका को पुष्ट करते हैं, उसका एक यह नमूना है ।

इन दो प्रतिक्रियावादी ध्रुवों की एकता के बीच कहीं हमारे वे 'नई कहानी' वाले लेखक हैं, जिनकी भूमिका मिश्रित रही है यानी वे प्रेमचन्द से भी अपने को जोड़ते हैं और भारतीय बूर्ज्वाज़ी के सेवक सम्पादकों के साम्यवाद-विरोध के भी अविरोधी हैं । प्रसन्नता की बात यह है कि राजेन्द्र यादव ने अब "प्रेमचन्द की विरासत", किताब में राजेन्द्र अवस्थी, भारती, कमलेश्वर आदि के अंतर्विरोधों और चालाकियों का भी भण्डाफोड़ किया है । सवाल यह है कि यह पवित्र कार्य उन्होंने पहले क्यों नहीं किया या अब सेठिया-पत्रिकाओं का वह आत्मप्रचार के लिए इस्तेमाल करने के लिए रोक दिए गए हैं ?

प्रेमचन्द की विरासत जनसंवेदना के लिए पूर्ण समर्पण चाहती है और यह साहसी भी, जिसके बल पर शोषकों और उनके समर्थकों पर हमलावरी होती है । अज्ञेय, धर्मवीर भारती तथा राजेन्द्र अवस्थी ईमानदार साम्यवादविरोधी हैं, प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द की विरासत को नए आयाम देने का दावा करने वाले क्या साम्यवाद या मार्क्सवाद के ईमानदार समर्थक हैं ???

कवितात्मक लेखन : विरोध का नैरन्तर्य और नवीनता

कविताओं के इधर जो नये संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें दो तीन तरह के संग्रह हैं। प्रथम प्रकार के संग्रहों में 'घास का घराना' (मणि मधुकर), 'लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ' (सौमित्र मोहन), 'कविताएँ-1 तथा कविताएँ-2' (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) और 'कबंध' (विश्वम्भरनाथ उपाध्याय) जैसे संग्रह हैं जिनमें पत्र पत्रिकाओं में पूर्व प्रकाशित और अपेक्षाकृत परिचित और प्रसिद्ध कविताओं का संकलन किया गया है, यों इन संग्रहों में नयी और अप्रकाशित कविताएँ भी हैं। इन रचनाओं में उक्त कविता लेखकों ने अपनी अभ्यस्त रीति से थोड़ा बहुत विचलित होने की भी कोशिशें की हैं। दूसरे प्रकार के वे संग्रह हैं, जिनमें पूर्वसिद्ध काव्यशैली या कथनप्रकारों से बच कर नयी ज़मीन तोड़ने की तरकीबें हैं, जैसे लीलाधर जगूड़ी की 'बची हुई पृथ्वी' में। 'मुर्दागाड़ी' (प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय) की कुछ चर्चा पत्रिकाओं में हो चुकी है लेकिन दीर्घकविता के रूप में क्रान्तिचेतना का एक लम्बा बयान 'मुर्दागाड़ी' में है अतएव वह भी प्रणव की पूर्व प्रकाशित कविताओं और संग्रहों से भिन्न धरातल पर है अतएव 'मुर्दागाड़ी' को भी इसी नवीन कोटि में रख सकते हैं।

तृतीय प्रकार के संग्रह वे हैं जिनकी रचनाओं से पाठक प्रथम बार परिचित होंगे, जैसे 'आग के अक्षर' (शिवमंगल सिद्धान्तकर), 'आवाज़ों के कटघरे में' (स्वदेश भारती), 'महानाटक' (सुरेश श्रीवास्तव), 'काई की ऊँचाई' (श्याम नारायण), 'समुद्र के बारे में' (भगवत रावत) और 'बीड़ी बुझने के करीब' (मान बहादुर सिंह)।

अमृता भारती के 'मिट्टी पर साथ-साथ' और 'मैंने नहीं लिखी कविता' उनके पूर्व संग्रहों का अगला सिलसिला है और उनमें उनका काव्यसंसार अधिक गहराता हुआ दिखायी पड़ता है।

इस कवितात्मक लेखन की थोड़ी बहुत जाँच के बाद ही सामान्य निष्कर्षों की ओर बढ़ना ठीक होगा अतएव हिन्दी कविता के गतिचक्र को समझने के लिए पहले कुछ ख़ुर्दबीनी की जाये।

चुभन को चुस्त जुमलों में बांधने, भाषा का एक भर्राटा खड़ा करने और अपराधबोध तथा आत्मस्वीकृतियों को बीच-बीच में विन्यस्त करने की प्रवृत्ति मणि मधुकर की सभी कविताओं में है। परिवेश के विसंगत परिदृश्यों पर ध्यान केन्द्रित कर उन्मादविधि और फ़ंतासी विधि के मिलेजुले प्रकार 'घास का घराना' में मिलते हैं। अनवरत, बेहिसाब शब्दफेंकू अन्दाज़ और विकल्पबोधहीन कवितात्मक चेतना के कारण यह प्रश्न उठता है कि कविता किस सीमा तक शब्दाघात सह सकती है ?

> दस्तख़त करते हुए हाथ
> और दृश्य
> एक लिफ्ट में चढ़ कर
> बहुत ऊपर जाते हैं
> वहाँ हवा "यह होना चाहिए" की मुहर के नीचे
> किसी जीभकटे घोंसले या
> चाबी भरे चिथड़े की तलाश कर रही है।

यहाँ उन्मादविधि इसलिये है क्योंकि दस्तख़त करने वाले हाथों और दृश्यों का एक साथ चेतना में उदित होना तो ठीक है लेकिन फिर कवि उन दोनों को लिफ्ट में भी चढ़ाते हैं ! यह उन्माद या स्वेच्छाचारी कल्पना (फैंसी) और अतिकल्पना (फैंटैसी) की पद्धति है जो रूपों, उमड़ते आवेगों, चुभनों और कचोटों में काव्यात्मक संगति नहीं बनने देती। मणि मधुकर का जितना ध्यान शब्दसंधान में विचलन (डीवियेशन) पैदा करने पर रहता है, उतना ध्यान काव्य प्रक्रिया के क्षणों में तेज़ी से आते हुए स्पन्दनों, प्रतिक्रियाओं और शब्दाघातों में सामञ्जस्य पर नहीं रहता। अतः उनकी रचनाओं में वक्रताओं का जितना वैलक्षण्य है, उतना काव्यतत्त्वों की संगति में नहीं। मणि मधुकर की मानसधारा में बिखरे तत्त्वों को एकसूत्रता देने वाला कोई विचार नहीं चलता, सिर्फ़ वातावरण या सामाजिक संदर्भ में स्थित गड़बड़ियों का तीखा अहसास रचना को अपने धक्के से आगे बढ़ाता चला जाता है, जैसे कवि शब्दास्त्रों से लड़ रहा हो और चुनींदा पदावली से प्रहार पर प्रहार कर रहा हो और कुछ न होते देखकर कभी ग़म, कभी आत्मघृणा, ग्लानि या अपराध भाव में कूद-कूद पड़ता हो। कवि की उद्विग्नता और तेज़ी तो प्रभावित करती है लेकिन ध्वंसेच्छाओं की धमाचौकड़ी और अनापशनाप स्मार्ट वाक्यांशों की बौछार एवम् विचार शून्यताओं के कारण ये कविताएँ चमत्कृत तो कर देतीं हैं पर कवितात्मक भूल भुलइयों की सृष्टि भी करती है, जिससे शब्द व्यूह में फँसे पाठक को द्वारहीनता (नो एक्जिट) का अनुभव होता है।

आक्रामकता और 'दिव्यजनों के उड़नखटोलों' से नफ़रत या ईर्ष्या खूब है लेकिन लगातार नकारात्मक मनोदशा में डूबे रहने से मणि मधुकर को चारों तरफ़ इल्लियों भरे आटे में घोड़ों की लीद महकती हुई जान पड़ती है। 'उड़न-

खटोला', और 'सिंधुघाटी में शंख' जैसी ज़बरदस्त कविताओं के भीतर पोल है और ऊपर व्यवस्थाविरोधी कवितात्मक अभियान है। यथार्थ विडम्बक ये कविताएँ किस प्रकार एक रहस्य रचती हैं, इसका एक नमूना ही काफ़ी है—

एक धूसर कपाल
वर्दियों और हथियारों से लैस
सिपाहियों पर तन जायेगा आकाश की तरह
और तुम विवश होंगे
यह कहने के लिये कि समुद्रों का पानी
संगीत से आधा है !

इस तरह अमूर्त्त अर्थों वाली लेकिन चटखदार-मुहावरेदार काव्यभाषा से मणि मधुकर की कविताएँ भरी पड़ी हैं। उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर कवि से पूछा जा सकता है कि 'समुद्रों का पानी संगीत से आधा है', जैसे विधान का क्या मतलब है और किस तरह वह 'धूसर कपाल' से सम्बन्धित है ?

जहाँ कवि वास्तविकता के विरोधाभास या विडम्बना का विश्लेषण करता है, वहाँ आज के व्यक्ति की कशमकश सही रूप में उभरती है—

फ़ाक़ाकशी सहूलियत है
और ऊब में नित्य चले जाने की आदत
हमसे पहले कि कोई पूछे, कैसे हो
मैं मुस्करा देता हूँ वेश्या के दलाल सा
वैसे अन्दर गुर्राने की कोशिश करता हूँ !

मणि मधुकर की यह बात सही है कि 'बर्राना बेमानी होता है' (सिंधु घाटी में शंख) और यह भी कि 'गंडासा थामने से पहले उसके आहार को तय करना ज़रूरी होता है।' लेकिन, सवाल वही है कि क्या कवि ने गंडासा का आहार क्या है, यह जान लिया है ? यह भी ठीक है कि कवि 'दिव्य दीनता के गुप्ताङ्गों की सीलन नहीं होना चाहता', लेकिन वर्ग शत्रुओं के चेहरे की पहचान के स्थान पर इन कविताओं में बार-बार गुप्ताङ्गों की झाँकियाँ क्यों हैं ?

जिसे तुम उपलब्धि समझकर
मुट्ठी में पकड़े हुए हो
वह एक कसबिन के उभरे अनिजी अंगों की धूल है ?

'घास का घराना' में कूदने का रवैया कम है और यहाँ क्रमबद्धता भी अपेक्षाकृत अधिक है। इस कविता में 'जब', 'तब', 'कि', 'ऐसे', 'जहाँ', जैसे संयोजकों से पंक्तियाँ आपस में जुड़ती चलती हैं। यहाँ आत्मकथा के माध्यम से आम आदमी की दुर्गति का चिट्ठा अधिक आश्वस्तकारी है, स्पष्ट भी—

मैं मिणिया वल्द भूर जी रेत में पैदा हुआ

रेत में बड़ा हुआ
कहीं भी रहूँ, कुछ भी कहूँ
धड़ तक हमेशा रेत में गड़ा हुआ
फिर ऊपर है एक बारूद का सिर
जो किसी तलघर में नहीं
तमंचे में घुसना पसन्द करता है
ताकि बाज़ीगरों की बुनियाद को झकझोर सके !

□

देखो प्रजापति ! एक पल इधर मुड़कर देखो
तुम्हारी दिग्विजय और दिलासा से दूर
भारत दुरदसा का यह सपाट सिफ़र अंक
जिसमें कहीं कथोपकथन तक नहीं ।

'घास का घराना' में मणि मधुकर की अपेक्षाकृत अधिक सफ़लता इसलिये मिली है क्योंकि यहाँ वह राजस्थान के पिछड़े इलाकों के चिरपरिचित परिदृश्य का सिलसिलेवार वर्णन करते हैं । परिदृश्य पर ध्यान केन्द्रित रहने से उनकी काव्य-भाषा स्वत: बर्राहट की मात्रा कम कर लेती है और ब्यौरे में कुछ संगति आ जाती है । अत: उच्छृंखल कल्पना यहाँ सर्जनात्मक कल्पना में बदलती प्रतीत होती है । कवि यहाँ जनजीवन पर सीधी निगाह रहने से, यह भी पहचान लेता है कि 'अभी लोग बालू में बिखरे बीज हैं जो कभी एकजुट होकर उगेंगे और सरफ़रोश पान फूलों की तरह उभरेंगे ।' इस सत्य के बोध के साथ कविता की समाप्ति के कारण यह रचना यथार्थ का दस्तावेज़ बन सकी है ।

मणि मधुकर अपने कलाजाल को तोड़कर नयी ज़मीन नहीं पा सके किन्तु लीलाधर जगूड़ी ने अपनी भूतपूर्व टिप्पणीपरक विधि को छोड़ कर नये कथन प्रकार प्रस्तुत किये हैं । उदाहरण के लिए 'अंतर्देशीय' में संतप्त मनोदशा में कौंधते यथार्थ के बोधों की जगह सहज कथन विधि है, आत्मीय स्तर पर परामर्शपरकता है । इन परामर्शों में पाठक के साथ सहज स्वरों में बातचीत की जाती है और इशारे से वस्तुस्थितियों के बिगड़ाव की ओर ध्यानाकर्षण किया जाता है—

इस पत्र के भीतर कुछ न रखिए
····न अपने सम्बन्धों की छाप
न दु:ख, न शिकायतें
न संक्रामक बीमारियाँ
न पारिवारिक प्रलाप
वरना यह पत्र पकड़ा जा सकता है
····सारा मुद्दा, सारा पत्र

पोस्टमैन का रक्तहीन चेहरा है
जो रोज़ गांज़ा जा रहा है
और जिसे शाम को वह जमा भी नहीं कर सकता !

यहाँ व्यवस्था का आतंक और आम आदमी (पोस्टमैन) की दुरावस्था बहुत ठण्डे लेकिन भीतरी मार करने वाले अन्दाज़ में संकेतित की गयी है अतः उसका प्रभाव और सम्प्रेषण दूर-दूर तक होता है—

मेरी कथा फावड़ा घिस जाने की
पत्थर के रेत हो जाने की
कोयले के आग हो जाने की कथा है
मेरी कथा, जाने हो जाने की कथा है !

लीलाधर जगूड़ी ने इस संग्रह में रोज़मर्रा के साधारण जीवन के धनात्मक पक्षों को आलोकित किया है और परिवर्तन की व्यग्रता मन में बनाये रख कर उस मनोदशा में बच्चों, पक्षियों, घर बाहर की स्वाभाविक क्रियाओं में गूढ़ अर्थ खोजे हैं अतः ये कविताएँ ताज़ा और सहज लगती हैं—

वे (बच्चे) फूल का एक एक रेशा नोचते हैं
कि आखिर खुशबू कहाँ पर है
....वे स्टोव के अन्दर बैठ कर भरभरा रहे हैं
आज के इस चितकबरे दिन को
वे फूल पर बैठी तितलियों की तरह देख रहे हैं
....अँधेरे को मसल कर महसूस करना चाहते हैं ।

'बलदेव खटिक' शीर्षक कविता में लीलाधर जगूड़ी एक वास्तविक स्थिति का वर्णन करते हैं और बदलाव की वर्तमान अवस्था को आलोकित करते हैं । पुलिस में होकर भी बलदेव खटिक पुलिस की अमानवीयता से दुःखी है और उसे यह बात बार-बार सताती है कि उसकी मां बिना इलाज के मर गयी है । दिमाग में गरमी चढ़ जाने से बलदेव खटिक गुस्से में कौओं पर गोली चला देता है और फ़रार हो जाता है । पागल बलदेव खटिक को गिरफ्तार कर लिया जाता है—

बाहर एक संतरी है
....यह भी अपने देश को
न कहीं पर पाता है
न कहीं पर खोता है
....अब देखना यह है कि ये कब पागल होता है ?
....यह केवल अफ़वाह नहीं कि देश में कुछ लोग
पेट से ही पागल होकर आ रहे हैं !
लेकिन वे जब फ़ायर करेंगे
तो यह तै है कि इस बार कौए नहीं मरेंगे !

लीलाधर जगूड़ी का यह नया और अजटिल कवितात्मक लेखन उस ऊल-जलूल बौखलाहट और बड़बड़ से अधिक असरदार है, जिसमें चौंध उत्पन्न करने वाले शब्द विन्यास तो हैं मगर दृष्टिहीनता और अंतर्वर्त्ती विचार सूत्र की अनुपस्थिति से कविता एक धमकी की तरह ऊपर ही ऊपर से गुज़र जाती है जबकि 'बलदेव खटिक' जैसी कविताओं में स्थितिवर्णन के बीच-बीच स्वतः अवतरित मर्मभेदी वाक्यांश पाठक के सामने इस व्यवस्था की भयंकरता को उजागर कर देते हैं और वह भी इस तरह गोया कवि कविता न करके बातें कर रहा हो।

यों 'बलदेव खटिक' कविता, जगूड़ी के इस संग्रह की उपलब्धि है किन्तु उनकी नन्हीं-नन्हीं और नन्हें-मुन्नों और चिड़ियों-बुढ़ियों की कविताओं में भी अवचेतन स्थित अथवा आंतरिकीकृत क्रान्तिबोध को अनौपचारिक प्रणाली अपना कर ध्वनित किया गया है और यह ध्वनि, यह झंकार बार-बार हासिल करने की इच्छा होती है।

यह ग़ौरतलब है कि इन कविताओं में न व्यर्थ बिम्बों की भरमार है, न प्रत्येक बात में ऐंठ भरने की इच्छा है, न सपाट बयानी है। यहाँ कविता और कविता के लक्ष्य या सत्य (क्रान्ति इच्छा) को वास्तविक, साधारण और जीवन्त पात्रों के वर्णन से पाया गया है और यह वर्णन अपराधभाव, आत्मघृणा और नकारूपन का अतिक्रमण कर जीवनप्रेम का प्रतीक बन गया है जो अपने मूल में उन उत्तरों को छिपाये हुए है जिन्हें कवि पाना चाहता है। क्रान्ति जीवन की पुष्टि करती है, उसके प्रति प्रेम पैदा करती है और उसी में सार्थकता और संकेत ढूंढती है। इसी वजह से लीलाधर की इन कविताओं में एक नयी और सहज रचना प्रक्रिया दिखायी पड़ती है जो मात्र स्थितियों पर टिप्पणी करके ही संतुष्ट नहीं हो जाती बल्कि जीवन को जीते हुए, जिये जाते हुए जीवन को देखकर उसके भीतर से बदलाव के बिन्दु हथियाती है। अतः इन रचनाओं से एक सुकून भी मिलता है, इशारा भी—

ये पेड़ जब पकेगा
बड़ी तड़ातड़ होगी !

□

अखण्ड रात की हवा में
जंजीर खड़मड़ा रही है
कुछ पता नहीं चल रहा
हम बंधे हुए हैं या खुल्ला

□

वर्तमान में भूत किसी भी समय दबोच सकता है
इस बात से कि बच्चे कहीं डर न जायें,
बड़े डर रहे हैं !

यह मैंने पहले भी लिखा है कि वास्तविक जीवनप्रसंग, जीवन्त पात्र या परिस्थिति अथवा परिदृश्य पर्यवेक्षण के सहारे लिखी गयी कविताएं इधर अधिक सफल हुई हैं क्योंकि ऐसी रचनाओं में वर्णनों को रीढ़ मिल जाती है और विशृंखलता कम कष्ट देती है। 'बलदेव खटीक' और 'घास का घराना' में मात्र चेतना की उछालें नहीं हैं, वास्तविकता का ढाँचा है, जिसके ऊपर कवितात्मकता की संरचना और शृंगार है। प्रणवकुमार की 'मुर्दागाड़ी' का लम्बा बयान भी इसी तरह 'मुर्दागाड़ी' के साथ-साथ बढ़ता है और बीच-बीच में स्थितियों का जायज़ा है जो बखान की लम्बाई को सहज बनाता है, पाठक को चुभ जाता है—

कागज पर नक्शा बनाना कितना आसान है
कितना आसान है
सिग्नल न हो तो रेलगाड़ी को रोक लेना
या बारूद की सबसे तेज कहानी लिखना
और अन्ततः कुछ न करना !

□

बग़ावत नहीं, हम गुनाह करते रहे हैं !

'मुर्दागाड़ी' में कलात्मक करतब बहुत कम हैं, वक्रोक्तियाँ और विदग्धताएँ नहीं है। फिर भी लगता है कि कवि ने यथास्थिति से उत्पन्न जड़ता और भटकाव को बहुत गहराई से महसूस किया है और वह इस विवादग्रस्त मन:स्थिति में सबको सम्बोधित कर रहा है और चाहता है कि हम अपने-अपने अन्धकारों तथा अहंकारों को छोड़कर उसकी बातें सुनें, जो तूफ़ान की रचना में व्यस्त है या वह किसी भूकम्प के उपकरण जुटा रहा है। उसे न अलंकृति की चिन्ता है, न चमत्कार बनने की, उसे तो अपने मूल्यांकन और सन्देश को ही सम्प्रेषित करना है। यातना की अनवरत अनुभूति और कुछ न होने का पछतावा 'मुर्दागाड़ी' को क्रान्ति की मानसिक तैयारी का अग्निलेख बना देता है और कवि की मनोगत सच्चाई का असर होता है—

कविता लिखनी चाही थी
लेकिन लिख गया सरगुज़स्त
कितना सुख मिलता है दोस्तों की याद से
हर याद में नारंगी खाता
पाँच बरस का लड़का होता है
लाशगाड़ी की धूल उड़ाती दोपहर होती है !

'मुर्दागाड़ी' का प्रतीक या रूपक आरोपित नहीं है। ऐसा लगता है जैसे गाड़ी की तरह धीरे-धीरे प्रणव का काव्य बयान चल रहा हो और यह कसक अंकुरित हो रही हो कि कुछ भी नहीं हो रहा है, क्यों ?

सौमित्र मोहन के 'लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ' में चमत्कृत करते हुए बिगड़ाव की जटिलताओं और मनोजगत् की संकुलताओं का संधान है; विकृतियों की विचित्र और विकट काव्याभिव्यक्ति है। यहाँ कविता और सभ्यता का पारंपरिक ढाँचा टूटता है, यथार्थ में छिपी फंतासी सिर उठाती है और विसंगत व्याख्या में विसंगत रचनाप्रक्रिया की पेशकश होती है। निषिद्ध और वर्जित का यहाँ खुल कर प्रयोग किया गया है और कहीं कोई भ्रम पालने या सहलाने की कोशिश नहीं है। हम जो जीवन जी रहे हैं, वह कितना गलीज़ और अनैतिक है, यही सत्य सौमित्र मोहन की अकविताओं से उपजता है लेकिन इस बिन्दु पर भी कवि की निषेधदशा समाप्त नहीं होती। उसने तय कर लिया है कि वह सिर्फ नकारेगा और तब स्वतः ही कोई विकल्प या धनात्मक पक्ष आएगा। अतएव, अन्य अकवियों की तरह सौमित्र मोहन का कविता संसार गलत के नकारने का संसार है, सही के सकारने की तरफ़ उन्हें ध्यान देने की फ़ुरसत नहीं है—

सूखे आंसुओं से गुदा मुख बनाते हुए
चेहरे में शहर इतने धुंधले नज़र आते हैं
कि बारिश और आदमी घुलमिल गये हैं
एक खामोश विद्रोह में
कब आयेगा वह दिन जब दुरुस्त चीज़ों के
दुरुस्त नाम हो जायेंगे
डायरी और जिन्दगी में।

इस 'बयान' कविता की इन पंक्तियों से इस अकवि की विद्रोहपरकता स्वतः प्रमाणित हो जाती है—

वह चुप था बिना जाने कि उसकी चुप्पी का अर्थ
उसके नियंत्रण में नहीं था
और इसके बावजूद वह बहुत कुछ कह रहा था
और वह कविता में से निकल रहा था
दूसरों के लिये नहीं, अपने लिये
बेशक वह सैरगाह में था
और उसे किसी का चीखना
लगातार सुनाई दे रहा था।

स्पष्ट है कि सौमित्र में परसंवेदन या दूसरों की चिंता है लेकिन वह विचित्र मार्गी है, सुकुमारमार्गी नहीं। अतएव वह व्यंग्य-विद्रूप-विडम्बना और वक्रता के अन्तहीन दाँवघातों से, कविता के पुराने आकारों को तोड़ते हुए चौंकाने वाली पद्धति अपनाते हैं—

बिस्तरों पर बार-बार चुहिया आ रही है
....मैं उसे 'समझना' चाहता हूं
....तुम्हें मालूम है कि पिंडलियों पर हाथ
फेरने से स्तनों में रोमांच हो जाता है
और औरत तब कश्मीरी दरवाज़े
की तरह चौड़ी हो जाती है !

अकविता का यह खास रुझान था जो अभी भी सौमित्र में बज रहा है। किन्तु इस संग्रह की कविताओं में, भूतपूर्व अकविताओं की तुलना में दायित्वबोध अधिक है।

'हवा में पत्ते का हिलना' अध्याय की कुछ कविताओं में धनात्मकता की ओर कवि का ध्यान गया है, जहाँ वह 'आकाश की कुहकती गंध' और 'नदी में संगमरमरी दीपक' को देखता है। यहाँ 'बाँहों घिरा' पेड़ है, अदृश्य मुट्ठी से झर रही पत्तियाँ हैं, मेढ़कों पर उड़ती हुई तितलियाँ हैं, दर्पण की चौंध की तरह ठहरी हुई दोपहरिया है। चाँदनी खुरचता हुआ बिल्ली का बच्चा और हिलते हुए अन्धकार सी प्रेयसी है, यह मनमोहक रूप निषेधों के अम्बार के बीच कुछ वैविध्य देते हैं और यह आश्वासन भी कि सौमित्र मोहन अपने ढर्रे को तोड़ भी सकते हैं; अमानवीयकरण से हटकर मानवीकृत संसार को भी देख सकते हैं।

अन्त में बहुचर्चित 'लुकमान अली' कविता है, जिस पर मैं 'समकालीन हिन्दी कविता की भूमिका' में तथा अन्यत्र लिख चुका हूँ। यहाँ तो यह देखना है कि क्या यह कविता आज भी प्रासंगिक और अ-बासी लगती है ?

'लुकमान अली' तभी अप्रासंगिक हो सकता है जब सप्तमदशक से आज स्थिति में कुछ सुधार या बदलाव आया होता। मध्यमार्गी या मध्यवर्गीय जब तक शासक है, तब तक वे जनतंत्र की दुहाई देकर वर्गवैषम्य की रक्षा ही करेंगे और कर रहे हैं। पहले जो थोड़ा बहुत समाज-विरोधियों और सम्प्रदायवादियों पर नियंत्रण था, वह भी अब गायब हो गया है और आज अराजकता की हालत है। इस अराजकता का उत्तरदायित्व पेशेवर राजनीतिज्ञों पर है जो सत्ता की राजनीति में कोई स्तर या मर्यादा नहीं मानते, फलतः जनसाधारण भी वही सब करने लगता है। इस अराजकता के पीछे सचेत, संगठित और विचारधारात्मक शक्ति से समपन्न कोई एक दल नहीं है। वामपंथ विभाजित है अतएव इस शून्यता और असुरक्षा की अवस्था में 'लुकमान अली' और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है—

वह जानता है कि चुनाव
लोगों की राय का प्रतीक नहीं
धन और धमकी का अंगारा है
जिसे लोग अपने कपड़ों में छिपाये

पानी के लिए दौड़ते हैं
लुकमानअली खुले गटर में खड़ा होकर
राष्ट्र की सेवा कर रहा है और उसे इसका पता नहीं है !

अकविता लेखन में सौमित्र मोहन की रचनाएँ दूसरों से भिन्नता के कारण अपनी पहचान बना चुकी थीं । 'लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ' की परवर्ती कविताओं के उपर्युक्त विहंगावलोकन से यह साफ़ लगता है कि सौमित्र मोहन लुकमान अली बनकर नहीं रह गये, उन्होंने वास्तविकता और व्यक्तित्व विश्लेषण की जो नयी विधि खोजी है, उससे वह फंतासियों के विधान से मुक्त हो सकते हैं और धनात्मक आयामों की ओर भी दृष्टिपात करके कुत्सा और सौन्दर्य का पलड़ा बराबर कर सकते हैं ।

बलदेव वंशी के 'अंधेरे के बावजूद' में आपात्कालीन अहसास हैं । वह 'काला इतिहास' में आपातकालीन कविताओं का सम्पादन भी कर चुके हैं । यह संग्रह उसी की अगली शृंखला है ।

सौमित्र मोहन में जो उखाड़ू वेधकबुद्धि है और बात को चमत्कारिक बनाने की जो प्रतिभा है, वह बलदेव वंशी में नहीं है पर विद्रोही कवियों का वह स्थायी मानस ज़रूर है जो किसी भी दशा में अपने प्रतिशोध भाव को नहीं भूलता । अतः यह कवि जनपक्ष की ओर खड़ा होकर शकटार की तरह सत्ताधीशों के विरुद्ध जलता उबलता रहता है—

आँखें गंवा कर कुणाल जीता है
सर्वस्व गंवा कर मैं जीता हूँ
भरोसे से खोदता हुआ सुरंग
शकटार जीता प्रतिशोध में !

सौमित्र की कविताओं में वाक्छल के जलवों के मध्य भावना अदृश्य हो जाती है लेकिन बलदेव वंशी में आदमी की स्थिति के प्रति लगाव बद्धमूल है । अतः उनकी कवितात्मक पंक्तियों में कहीं-कहीं घनीभूत भावना से घूर्णित पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो साधारण रचाव के बीच असाधारण तनाव पैदा कर देती हैं, जैसे शकटार का बिम्ब आज के प्रत्येक विद्रोही व्यक्ति की सच्ची पहचान देता है और जो आज शकटार जैसा नहीं है, वह विद्रोही नहीं है !

इस संग्रह में संकट यह है कि बलदेव एक राजनीतिक स्थिति को महान् संकट के रूप में प्रस्तुत करते हैं । लेकिन आपातकालीन घटना जैसी ऊपरी और सामयिक घटना से किसी व्यापक संकट का अहसास नहीं जगाया जा सकता । मूल संकट समाज और राजनीतिक व्यवस्था में मूल परिवर्तन के अभाव के कारण है लेकिन यह अजीब चीज़ है कि हमारे जनपक्षधर विद्रोही कवि राजनीतिक दाँवघातों को इस तरह दिखा रहे हैं गोया आपातकाल हट जाने से जनक्रान्ति हो गयी हो । डॉ० विनय के 'पुनर्वास का दण्ड' में भी ऐसी ही बचकाना और अवसरवादी कोशिश है ।

विद्रोही कवि में इतना बोध तो होना चाहिए कि वह यह समझ ले कि मध्यमार्गी मध्यवर्गीय चेतना के दल और नेता, न सम्पूर्ण क्रान्ति कर सकते हैं न जनक्रान्ति। वे क्रान्ति का नाम अवश्य लेंगे क्योंकि जनमानस में जो जनक्रान्ति का विकल्प समाया हुआ है, वह निकल जाये और उसकी जगह 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का खोखला बोध प्रतिष्ठित हो जाए। सम्पत्तिशाली तबकों, नौकरशाहों और पेशेवर नेतावर्ग से हृदय-परिवर्तन की आशा रखना मूर्खता ही नहीं, जनता के साथ शरारत भी है जिसे विद्रोही बन कर जनादर प्राप्त करने के महत्वाकांक्षी कवियों को एक्सपोज़ करना होगा अन्यथा कविता भी राजनीतिक कार्यनीति के अनुकूल ढल कर अपनी व्यापकता, केन्द्रीयता, और सार्वभौमिकता खो देगी।

जहाँ बलदेव वंशी में वर्गचेतना उभरती है, वहाँ कविता भी जीवित हो जाती है, अन्यथा इस संग्रह में कवि-प्रतिभा का उतार नज़र आता है अथवा यह भी संभव है कि कवि आपातकालीनग्रस्तता में अपने औज़ार तेज़ कर रहा हो और फिर 'उपनगर में वापसी' जैसी कविता स्फ़ुरित हो। बहरहाल, 'स्वीकार' की यह पंक्ति बढ़िया है—

> और आज ?
> पहचान की जगह सुअर का बाल!

'उनका डर', 'संघर्षदर्शन' और 'इतिहास चिंता' जैसी कुछ कविताओं से 'अंधेरे के बावजूद' संग्रह अपने कवितात्मक अस्तित्व की कुछ रक्षा कर सका है। 'इतिहास चिंता' में बलदेव वंशी वर्तमान जनता सरकार पर हमला करते हैं परन्तु कष्ट यह है कि यहाँ भी सामयिक राजनीति के पचड़े से वह बच नहीं सके क्योंकि वह हरिजन समस्या के असमाधान में जनताशासन की असफ़लता खोजते हैं। जबकि बलदेव वंशी को यह जानना चाहिए कि हरिजन या श्रमिक समस्या का समाधान श्रमिकों के जनतंत्र में ही सम्भव है, पूंजीवादी जनतंत्र कभी भी जातिवाद, शोषण, अलगाव और वैषम्य का निराकरण नहीं कर सकता, लेकिन 'इतिहास चिंता' में कवि की दृष्टि संकुचित हो जाती है।

श्यामनारायण के 'काई की ऊँचाई' में आंतरिकीकृत क्रान्तिचेतना है। यहाँ बहुत भीतर बैठी हुई बदलाव की बेचैनी को युक्तियों की सहज भाषा में कहा गया है। क्रान्तिकारी विचारधारा यहाँ व्यक्तित्व में भिद गयी है, रेशे-रेशे में समा गई है और वह आतंककारी चमत्कार फैलाये बिना जैसे दिल के करीब पहुँच कर लोगों को सहृदयता के साथ समझा रही है कि कुछ किए बिना कुछ होगा नहीं।

श्यामनारायण की अधिकतर कविताएँ आपातकाल में लिखी हुई हैं किन्तु वह बलदेव वंशी की तरह मतिभ्रम में नहीं फँस गये। उन्होंने सही सामाजिक दृष्टि के बल पर जान लिया है कि भूतपूर्व और वर्तमान शासक समाज में सुधार चाहते हैं पर इसे जड़ से नहीं बदलना चाहते। आम आदमी की दृष्टि से सुधारवादी अमूर्त्त

रूप में जनकल्याण चाहने पर भी, मूल परिवर्तन की शक्तियों के दुश्मन होते हैं अतः विकल्प चयन का प्रश्न यह नहीं है कि इनमें किन्हें चुना जाए, प्रश्न यह है कि सुधारवाद से जनमुक्ति होगी या जनक्रान्ति से ?

आपातकाल तथा उसके बाद जनता शासकों और उसके समर्थकों द्वारा लतियाए गये इस सवाल पर ही साहित्य और समाज की परिवर्तन कामना कायम है, कि सुधारवादी शक्तियों का प्रभुत्व रहता है या क्रान्तिकारी वामपंथी शक्तियों का, जो एक झटके में जन को अभिजन के आर्थिक प्रभुत्व से मुक्त कर देंगी और सोपानपरक समाज के स्थान पर सहयोगियों और साथियों के समाज की रचना करेंगी। साहित्य से तब तक इस सवाल को खारिज नहीं किया जा सकता जब तक सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में उसकी अप्रासंगिकता सिद्ध नहीं हो जाती और जहाँ तक सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न है, जनवाद और समाजवाद के अलावा कोई विकल्प नहीं है। लेकिन आठवें दशक में, लेखकों में यह असमंजस जगा है कि क्या गाँधीवाद मार्क्सवाद को अप्रासंगिक कर सकता है ? लेकिन जनप्रबुद्धता और जन-औद्धत्य इतना बढ़ गया है कि जनसमस्याओं के असमाधान से जनता ने 'जनता शासन' नामधारी, अल्पवित्तीय मनोवृत्ति वाले मध्यवर्गीय नेतृत्व को नकारना शुरू कर दिया है और वह दिन दूर नहीं, जब पवित्र हिन्दी प्रदेश के महाकवि यह महसूसने लगें कि अब दक्षिण या वाम में एक को चुने बिना गति नहीं है। यह ध्रुवीकरण इतनी तेजी से हो रहा है कि ये शक्तियाँ अन्त में टकराकर देश का जनभविष्य निश्चित कर देंगी और यह निश्चय ही है कि सामान्य जन साम्प्रदायिक जहनियत को पसन्द नहीं करता, उसका संघर्ष आर्थिक तथा सामाजिक है। अतएव अन्त में उन्हीं शक्तियों की विजय होगी जो आधुनिक समता मूलक समाज बनाने का हौसला रखती हैं और इसी बुनियादी मुद्दे पर राजनीतिक संगठन खड़ा करती हैं।

शिवमंगल सिद्धान्तकर के 'आग के अक्षर' में यही वामपंथी क्रान्तिचेतना है। इस वामचेतना से सौन्दर्य बोध बदल जाता है। कवि को प्रकृति में सामाजिक संवेदन और संकेत मिलते हैं—

एक तना हुआ बरगद पसरता जा रहा है
तमाम झुकी हुई लताएँ सीधी खड़ी होती जा रही हैं
....एक उफ़नी हुई नदी चट्टानें छिपा रही है
एक टूटता हुआ किनारा नावें छिपा रहा है
एक गहराता हुआ जल प्रवाह....आता जा रहा है।

विचार-कविता की अवधारणा को जमाने के साथ-साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि किस तरह विचार आदमी को उसकी व्यावसायिक आत्मा का अतिक्रमण कर आदमी बनना सिखाता है, शर्त यह है कि वह विचार सिर्फ व्याख्या के काम का न हो, परिवर्तन के काम का भी हो—

कहीं कुछ भी स्थगित नहीं है
न कविता, न कहानी
····स्थगित पड़ावों के पास से हमें दूर गुज़र जाने दो
मैं चला जाऊँगा बहावदार उन नदियों की ओर
जहाँ तुम्हारे पैंतरे के आसपास
सिर्फ़ मछुआरे होंगे
कोई निषादराज नहीं होगा
जिसकी दलाली कर, मेरे विरुद्ध तुम
पुण्डरिक प्रकार कोई चाणक्यनीति गढ़ सको।

शिवमंगल सिद्धान्तकर की आत्मा में मुक्तिबोध की चेतना बोल रही है जो वास्तविक व्यवस्थाविरोधियों में सतत् सक्रिय रही है और रहेगी। क्रान्ति सनातन है ! नाप तौल कर, गणित लगाकर निन्दा-प्रशंसाकर्त्ता कवियों में जो अज्ञेयता होती है, वह 'आग के अक्षर' में नहीं है। यहां व्यक्तित्व में पारदर्शिता है, सब कुछ आलोकमय है क्योंकि कविचेतना युद्धरत है और उसे ज्ञात है कि आदमी का शत्रु कौन है, कौन-कौन हैं ?

'आग के अक्षर' में वक्तव्यबाजी भी है पर वह राजनीतिक है, व्यक्तिगत नहीं। उसमें राजनीतिक रिहटौरिक को कविता में प्रयुक्त करने की कोशिशें हैं। इनके अलावा ऐसी कविताएँ भी हैं, जिनमें राजनीतिक यथार्थ भूमिगत हो जाता है और वहाँ से वह कविता को अनुशासित करता है। यह रचना प्रक्रिया संघर्ष में निमग्न कवि में स्वतः शुरू हो जाती है, इसलिए अकिवतात्मक पंक्तियों के बावजूद कवितात्मकता भीतर की बेचैनी से प्रस्वेद की तरह छलछला उठती है।

सुरेश श्रीवास्तव के 'महानाटक' में चुटीली कविताएँ यथास्थिति पर प्रहार करती हैं। यहाँ विचारधारा के हण्डे के नीचे कवि काम नहीं करता, वह अपनी संवेदना शक्ति के बल पर यथार्थ को सूँघ लेता है—

सुना है कि कोई गंगा
अपने प्रिय पापियों को मँझधार में छोड़कर तर गयी
····सुना है कि कोई जीवित लाश
अपनी वसीयत अपने ही नाम कर गयी !

'आवाजों के कटघरे में' (स्वदेश भारती) की कविताएँ 'आग के अक्षर' के प्रवाह की कविताएँ हैं। यहाँ भी लड़ता हुआ आदमी बोलता है। इन्हें 'राजनीतिक कविता' भी कहा जा सकता है। अभी तक हिन्दी में उत्कृष्ट राजनीतिक कविता की स्वतन्त्र कोटि नहीं बन पायी। पर वह है और भारतेन्दु युग की राजनीतिक कविता से आज तक उसका अविच्छिन्न प्रवाह है। अफ्रीका और एशिया में राजनीतिक दासता और वर्णभेद-संत्रस्तता एक 'प्रामाणिक-अनुभव' है, उसी प्रकार जिस

प्रकार नवधनाढ्यवर्ग के लेखकों में सिर्फ यौनगत अस्वतन्त्रता की वेदना एक 'प्रामाणिक अनुभव' है !

जनवादी संघर्षशील कविता वहाँ अधिक मर्मबेधक हो जाती है, जहाँ जीवन के प्रत्येक क्षण के अहसास में कायाकल्पेच्छा सम्पृक्त हो जाती है, ज़िन्दगी और समाज के प्रति पुराना, आत्मसन्तुष्ट नज़रिया ही बदल जाता है । मानबहादुर सिंह की कविताएँ इसी प्रकार की कविताएँ हैं—

एक कमीज़ जिसमें अपनी पहचान
वह पहनता है
....मुँह में बीड़ी का पतला बासी सिरा
कसैला धुँआ उगलता है
....धुँआ आंखों में छलकता है
धुँआयी हथेली को माथे पर धर कर
सलाम ठोंक पूछता है
अगला चुनाव कब होगा !

□

वह सिद्धान्तों को चाटता हुआ
अपनी ज़िन्दगी को अपवाद की तरह पी रहा है ।

भगवत रावत, 'समुद्र के बारे में' शीर्षक काव्य संग्रह में रोज़ ब रोज़ का चित्र देकर फिर उसमें छिपी हुई अकिंचनता को पकड़ते हैं अतः वक्तव्यता के बिना भी कविता चमक उठती है—

अल्मूनियम का वह दो डिब्बों वाला कटोरदान
बच्चे के हाथ से छूटकर
नहीं गिरा होता सड़क पर
तो यह कैसे पता चलता कि उसमें
चार रूखी रोटियों के साथ साथ
प्याज़ की एक गाँठ और दो हरी मिर्चें थीं !

जीवन जो हमारे चारों तरफ़ चल रहा है, उसकी प्रत्येक गति में एक भाषा, एक कविता छिपी रहती है । भगवत रावत चीजों और घटनाओं में स्थित भाषा को टटोलते हैं अतः उनकी कविताओं में दैनिक जीवन के प्रसंगों से निकलते हुए नये अभिप्राय एक सुखद विस्मय उपजाते हैं, यह देखकर कि लघु और स्पष्ट में कितना विशद और सूक्ष्म संकेत छिपा हुआ है । ये कविताएँ सपाट बयानी की नहीं, बारीक बयानी की कविताएँ हैं । यहाँ मुहावरा गौण और वस्तुओं में स्थित मर्म प्रधान हो जाता है ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने इधर 'कुआनो नदी' और 'जंगल का दर्द' में संघर्षशील चेतना का साथ दिया है । उनकी पूर्ववर्त्ती कविताओं और इधर की

समकालीन द्वन्द्वयुद्धपरक कविताओं की अन्तर्वस्तु में अन्तर है । यहाँ सामाजिक चेतना लड़ाकू मुद्रा में व्यवस्था और तज्जन्य असंगतियों पर प्रहार करती है । कहीं मर्मभरी अभिव्यक्तियाँ हैं, कहीं ऐसा विस्तार है कि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की तरह कुछ भी अनकहा नहीं छोड़ा जाता और कविता साधारणता से ग्रस्त हो जाती है । मर्म भरे वाक्यांशों और अछूते मगर ज्ञेय बिम्बों की पकड़ सर्वेश्वर की शक्ति है लेकिन सर्वत्र यह बात न रहने से उनकी कविता पतली होती चली जाती है, गाढ़ता गायब हो जाती है । 'जंगल का दर्द' में मर्म भरी पंक्तियों का एक नमूना देखें—

कितनी ठंड है
कपोलों पर आंसू जम गये
कितनी ठंड है
शब्द कंठ में ही बर्फ़ हो गये ।
फिर भी स्मृतियाँ आग की तरह धधकी रही हैं
जैसे बर्फ़ में मशाल लेकर कोई जा रहा है !

लेकिन बात के फैलाव के अनेक इलाके सर्वेश्वर की कविताओं में हैं । 'आग का उत्तरार्ध', 'तुम्हारे हाथों' में, अन्तिम से पहले का परिच्छेद (सम्भावनायें निरंतर हैं……पनपती हैं) 'भेड़िये' इसके उदाहरण हैं । सर्वेश्वर के काव्यसंग्रहों में अनुभव और अभिव्यक्ति के झीनेपन के अनेक नमूने हैं लेकिन यह भी सच है कि 'जंगल का दर्द' में यह बीमारी कम है । यहाँ सम्भोग और संघर्ष दोनों प्रसंगों में पर्यवेक्षण का सम्पुटीकरण अधिक है । तबियत और रूह के लड़ाकूपन के मानसिक माहौल में अभिव्यक्ति भी ढोलक सी कस जाती है । लड़ाकू कवि मुख्य मुद्दा और शत्रुपक्ष की मंशा खोजता है, वह वाग्जाल को चीर कर वर्ग स्वार्थ को पहचान जाता है और प्रपंच को भेद कर मूल सत्य को गिरिफ्त में ले आने वाली कवि चेतना प्रतीतियों में में छिपी असलियत की ओर इशारा करती है या उस प्रतिक्रियावादी, टटपूंजिया, मनोवृत्ति से भिड़ जाती । क्रान्तिकारी मानसिकता के निर्माण में यह ज़रूरी है कि अल्पवित्तीयवर्ग की सुधारवादी सुविधावादी मानसिकता पर चोट की जाये । सर्वेश्वर बाक़ायदा सिखाते हैं कि क्या किया जाये—

समय आ गया है
जब इन्हें आदमी और गधे का
रिश्ता समझाना होगा
इन्हें आदमी होने का अहसास कराना होगा
और उनको गधा होने का !

□

भेड़ियों की आखें सुर्ख हैं
उसे तब तक घूरो
जब तक तुम्हारी आंखें सुर्ख न हो जायें

□

जब भी भूख से लड़ने कोई खड़ा होता है
सुन्दर दीखने लगता है
झपटता बाज
फन उठाये साँप
कांटों से नन्हीं पत्ती खाती बकरी
दबे पाँव झाड़ियों में चलता चीता !

'देह का संगीत' में सर्वेश्वर सम्भोग के संसार में हैं। इस आदिम आयाम का सीधा सम्बन्ध विप्लव से है क्योंकि क्रान्ति में प्रबुद्धों और प्रजाओं का आदिम आयाम ही भड़कता है। शायद इसी वजह से वर्जना और व्यवस्था, दोनों के खिलाफ़ साहित्य में लड़ाई चली है क्योंकि दोनों जीवन की बुनियाद का दमन करती हैं। यह भी सम्भव है, सर्वेश्वर की पुरानी रोमांटिक आत्मा, संघर्ष के मध्य बोल उठती हो।

यह ग़ौरतलब है कि सर्वेश्वर की रूह क्रान्ति के साथ है, क्रान्ति की मिथ और वास्तविकता के साथ है लेकिन राजनीतिक दृष्टि से सर्वेश्वर साम्यवाद के विरोधी व्यक्तितत्व के रूप में सामने आते हैं। उनका भारतीय समाजवाद (सम्भव है, अब वह लाइन बदल चुके हों) वामपंथी शक्तियों के प्रति प्रतिकूलता का रवैया अपनाता है। बहरहाल, यदि आत्मगत् स्तर पर बुर्जुआ प्रतिष्ठानों में कार्यरत लेखक उग्र बदलाव की चेतना का समर्थन करें तो यह स्वागत योग्य है।

क्रान्ति चेतना की कविताओं के बाद अन्त में अतिक्रान्ति (अध्यात्मवादी क्रान्ति) की मनोदशाओं का एक संग्रह सामने है। 'मैंने नहीं लिखी कविता' (अमृता भारती) में कवयित्री अध्यात्म और रहस्यवाद के धरातलों पर रमती है। उस तन्मयता में पदार्थों के क्रम बदल जाते हैं या चराचर में एक ही चैतन्य व्याप्त दिखाई पड़ता है। जागतिक अनुभव और यथार्थ, फंतासी की तरह तटस्थ चेतना में उभरते हैं जिनका अवलोकन कर, पूर्व अनुभूत जीवन के रोमांच, कचोट और कराहें ऐसे अर्थ उगलती हैं जो नारी मात्र के वास्तविक दुःखों, द्वन्द्वों को आलोकित करने लगती हैं। आत्मदर्शन के बीच कौंधते हुए विगत अनुभव इस रचना को ऐसा बनाते हैं, गोया रहस्यानुभूतियों से जीवन यथार्थ निकल रहा है तथा भोगने और भुगतने के पछतावे और आकर्षण अधिदार्शनिक परिप्रेक्ष्यों की दरारों से झाँकने लगते हैं। अरविन्ददर्शन के प्रभाव से भारती की वैश्विक दृष्टि अधिदार्शनिक हो गयी है, लेकिन अरविन्द दर्शन में अनुभव का वध स्वीकृत नहीं है। यही कारण है कि मदिर अनुभूतियों और क्रान्ति की मनोदशाओं का अमृता भारती के अरविन्दवाद के साथ विरोध नहीं है क्योंकि सभी क्रियाओं में परम चैतन्य रम रहा है !

इस तरह अमृता भारती की रचनाओं में अध्यात्म, आस्वाद और क्रान्ति-कामना के तीनों स्तर साथ चलते हैं और उन सबसे एक संघर्षशील और संघर्षातीत व्यक्तित्व सामने आता है।

अमृता भारती की पहली कविता अहिल्या पर है। यहाँ अध्यात्म, यथार्थ की कटुता और मधुरता को नहीं छिपा पाता, यों उसके सम्पुट से अहिल्या को एक प्रभामण्डल मिलता है। अहिल्या, सामन्ती नैतिकता की शिकार महिला थी और वह नैतिकता आज भी वर्जनाओं के रूप में विद्यमान है। इसके सिवा नारी की समस्या, मनोवैज्ञानिक स्तर पर, पुरुष की समस्या से कहीं अधिक जटिल और विविधपक्षीय है। पति के व्यक्तित्व के अधूरेपन से वाकिफ़ पत्नी क्या करे, सामन्तवादी नैतिकता के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। क्या पुरुष नारी को प्रेम-सम्बन्धों में मुक्तता दे सकता है अथवा क्या स्थायी सम्बन्ध सम्भव भी है, ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका कोई समाधान नहीं हो पा रहा है फलतः अनेक कवयित्रियों की रचनाओं में यह वेदना रहती है। यह वेदना अमृता भारती में भी है।

अहिल्या (कटे हुए दरख्तों के बीच) में कविता अपनी कला दिखाती हुई चलती है (वह जो उड़ गया आकाश में, किसी रजत पक्षी सा वह चाँद है)। अध्यात्मवादियों की चिरप्रिय महाकल्पना ब्रह्माण्डपरक (कॉस्मिक) होती है। वह बिम्बों के अलावा, महादृश्यों का विधान करती है—

जिन पहाड़ियों को इन्द्र समेट अपनी बांहों में
मेरे वक्ष पर सुला गया था
वे सौ सौ नागिन सी जाग उठीं है मेरे केशों में
आसमान बजा रहा है बीन
और ये—अनन्त गिरिमालाओं सी
सिर उठा, खड़ी और खड़ी होती जाती हैं
मेरी हृदय घाटी की पिटारियों से

इस रचना में बहुत काव्यवैभव है, बहुत कुछ नया है पर यहां इसके विश्लेषण का अवसर नहीं है। इस काव्यवैभव के बावजूद अहिल्या पर लिखी गई अब तक की सारी रचनाओं में श्रेष्ठ इस रचना में कवयित्री द्वारा किया गया अहिल्या का स्थितिविश्लेषण कल्पना के जुलूस में दबता नहीं, भास्वरित होता है—

मैं शापिता हूँ, क्षता नहीं
और वह इन्द्रधनु जो आकाश में
मेरे लिए खिल आया है
उसकी लिपि मेरी झुकी मुन्दी दृष्टि में भी प्रकाशित है
····अनावरित हूँ मैं आज
लोक की दृष्टि में उजागर हो गया है मेरा पाप
····कौन है वह इन्द्र, जिसने अपराजित अहिल्या का
जीता है अन्तर्तम ?

····मैं बस अहिल्या, नदी सी बहती रही हूँ अविकल
और जीवन दूरान्त तक फैले
बालू प्रदेश सा
मेरे तट पर बिछा है !

अहिल्या में अपने को माध्यम बनाकर एक पूरे नारी समुदाय की स्थिति और नियति की खोज सर्वातीत उड़ानों या तन्मयताओं के बावजूद जारी रहती है—

सबसे परे दूर आत्मसम्मोहित
चेतना के किन्हीं रहस्यमय द्वीपों में
जलाशयों में, अपनी देह को डुबोती थी
सुखाने के प्रयत्न में और अधिक भिगोती थी
कोई सहस्रनेत्र एक नेत्र बन देख रहा है !
मैं नहीं उतरी थी नग्न पानी में
नदी के हाथ भी खाली थे
सब व्यर्थ हुआ
आखिर जिससे टकरायी
वह एक शब्द था !

दीवाल पर चंचल धूप के टुकड़ों को अपने अन्दर हिलता हुआ देखने वाली इस कवयित्री की नज़र जहाँ आत्मकथन और कल्पित दृश्यों, फंतासियों और बिम्बों को मिलाती हुई चलती है, वहाँ वह रचना के कसाव की उपेक्षा कर जाती है। कविता कताई नहीं, बुनाई है, संरचना है अतएव रचना को धनुष की तरह कसा हुआ होना चाहिए। यह एक आदर्श है, लेकिन ढीलेपन या बाढ़ की तरह बहते जाने में भी, कहीं ढाँचे और बढ़ाव के अनुपातों और संगति का ध्यान रखा जाता है। आत्माभिव्यक्तिपरक रीति में यही गड़बड़ हो जाती है कि बात फैलती चली जाती है और कविता आत्मगत स्तर पर समृद्ध लेकिन संरचनात्मक स्तर पर कमज़ोर लगती है।

अमृता भारती के इस संग्रह में और भी कविताएँ हैं, जिनमे वस्तुओं और रूपों के स्थानान्तरण की विधि से दृश्यायोजन किया गया है—

सिग्नल हो चुका था और
उसके अन्दर रेल की पटरियाँ बिछ गयी थीं
आंधी ने बघनखे पहन लिये थे
आखिर वे मुझे मिल ही गये
जिन्हें ईंधन बनना था !

युयुत्ससंतापों, रहस्यमय अनुभूतियों और परिदृश्यों से भरा हुआ यह संग्रह 'मैंने नहीं लिखी कविता' शीर्षक को इस अर्थ में सार्थकता देता है कि अमृता भारती

यथार्थ के समानान्तर आत्मगत आलोकों में मग्न रहती हैं अतः लिखते समय ऐसा लग सकता है कि कोई और लिखा रहा है या सृजन आविष्ट दशा में स्वतः हो रहा है।

अध्यात्म की वायवीयता के नीचे वही मानवयथार्थ है जो कवियों में अध्यात्म के भीतर से या अध्यात्म के बावजूद मुखरित होता है। सामाजिक बदलाव के मुद्दे पर यदि अरविन्दवादी साथ देते हैं तो उन्हें आत्मगत क्षेत्रों में विचरने का पूरा हक है। यह जरूर है कि हम अरविन्द दर्शन में की गयी जीवन और जगत की व्याख्याओं से सहमत नहीं हैं क्योंकि दिव्यदृष्टियों के आधार पर वास्तविकता, पदार्थ जगत, प्रकृति और समाज को नहीं समझा जा सकता। वस्तुगत संसार के ज्ञान के लिए वस्तुगत या बुद्धिगत उपाय ही ठीक हैं, कल्पनाओं और रहस्यानुभूतियों में भी यह शक्ति नहीं है कि वे देश, काल और चेतना पर पड़े जीवन संस्कारों का अतिक्रमण कर सकें और जब दिक्काल अतिक्रमण असम्भव है तब 'शुद्ध चैतन्य या अतिचेतना' (सुपरा मेंटल) के आगे प्रश्नचिन्ह लग जाता है। मानव चेतना का विकास हुआ है और वह परममुक्ति और आत्मस्थ अवस्थाओं में भी वास्तविक जगत और जीवन के अनुरंजन या स्पर्श से बच नहीं पाती। समाधि या चेतना की स्थगित अवस्था के बाद चेतना पुनः भौतिक हो जाती है।

अब अन्त में दूरबीनी से काम लिया जा सकता है। समग्रतः इस कविता-लेखन के तत्व और तेवर वही हैं जो प्रथम दशक में थे। या तो कवि आलोचनात्मक यथार्थवादी हैं अथवा घोषित रूप में क्रान्तिकारी चेतना के दावेदार हैं।

कला के स्तर पर सप्तमदशकीय कवियों में, अपने ही विन्यास-विधान से न निकल पा सकने की मजबूरी साफ़ दिखाई दे रही है। इस दृष्टि से लीलाधर जगूड़ी ने अपनी रीति बदल ली है। वक्तव्य, भाषण और संहारक कथन-भंगिमाओं के स्थान पर नवागत साथियों में बारीक बयानी और ठण्डी मार है। इस सन्दर्भ में मानबहादुर सिंह, शिवमंगल सिद्धान्तकर, भगवत रावत की कोशिशें उस नयी पीढ़ी की झलक पेश करतीं हैं जिसने सप्तमदशकीय कवियों का शब्द अपव्यय और अराजक मुहावरे का अन्तर्विरोध देख लिया है और इस कारण ये कवि यातना भोगे हुए व्यक्ति की तरह गहरे और सहज स्वरों में बोल रहे हैं। उन्होंने शब्दों की भाँज की व्यर्थता भाँप ली है। संघर्ष लम्बा और घातक है अतः उसकी अनुभूति भी चेतना की नींव से उठेगी, वह मात्र प्रगल्भा नहीं होगी, वह सही समाजदर्शन से जन्मी दृष्टि से समन्वित होगी।

सप्तमदशक में उभरे कवि अपने बनाये जाल में फंस चुके हैं। उन्होंने अपनी एक विशिष्ट काव्यभाषा बनायी थी, अब वह उनका पीछा नहीं छोड़ती है अतः दुहराव नजर आता है। इस ठहराव को विषय बदलने से शायद तोड़ा जा सकता

है। कोई विशिष्ट लहजा, शैली सिद्ध हो जाने पर किसी ऐसे विषय (थीम) को चुना जा सकता है जिसमें अभ्यस्त शैली में कथ्य का विश्लेषण और बखान हो। इतिहास और मिथक इसमें सहायता कर सकते हैं। लेकिन यह साफ़ लगता है कि साहित्य में विद्रोही चेतना के सप्तमदशक के अधिकांश कवि रचनात्मक स्तर पर एक घिराव, एक असमंजस, एक स्थगन का अनुभव कर रहे हैं या अभ्यस्त अभिव्यक्ति-चातुर्य को दुहरा रहे हैं।

क्या यह व्यक्तित्व का संकट है ? सौमित्र मोहन और गोपाल कृष्ण कौल ने व्यक्तित्व की असंगतियों पर सर्वाधिक नुकीलापन दिखाया है। 'संवेद' के प्रवेशांक में छपी गोपालकृष्ण कौल की कविता शायद व्यक्तित्व की कमज़ोरियों का सीधा साक्षात्कार कराती है। इससे लगता है कि व्यक्तित्व का संकट व्यक्तित्व की न्यूनताओं के कारण है—

पहले ने गाली दी
दूसरा मुस्कराया
पहला गुर्राया
दूसरे ने समझाया
....हार जीत दोनों बराबर हैं !

पहले का चेहरा तमतमाया
....और दूसरे के गाल पर तड़ाक्
दूसरे ने दूसरा गाल भी आगे कर दिया
उस पर भी तड़ाक्
पहला गरज़ा कि क्या तेरे पास तीसरा भी गाल है ?

....दूसरा था निपट अकेला
गंगा की उस बून्द की तरह
जो समुद्र के सामने से बच कर
किनारे पर पड़ी प्रतीक्षा कर रही है
समुद्र के मीठा होने की !

समाज, समुद्र की तरह मीठा नहीं हो पा रहा है, खारापन वह कैसे छोड़ दे ? और इस स्थिति में सागर में मीठापन पैदा करने के लिए प्रतिबद्ध साहित्यकार और सामाजिक जिस महामंथन का, फंतासी में साक्षात्कार कर रहे हैं, उसके लिए वह अल्पतम करने को प्रस्तुत हैं, अधिकतम नहीं। फलतः क्रान्तिकारी मुहावरा एक अलंकार में बदल रहा है, जबकि क्रान्ति देश के कुछ अंचलों तक सीमित है और वे अलग थलग पड़े क्षेत्र हैं। उनसे उठती हुई धाराएँ अभी कमज़ोर और बिखरी हुई हैं। शेष देश में, सर्वत्र व्यावसायिकता का राज है। ऐसे मौसम में प्रज्वलित चेतना और तरल मानवसंवेदना का कवि, जीवनसंघर्ष के प्रपंच में पड़कर अपने

गालों पर तमाचे लगवाने लगे और कोई प्रतिक्रिया प्रकट न करे यह सर्वथा सम्भव है, यह भी कि प्रगतिशील 'विनयशील' हो जाएँ !

अग्रगामी, ख़तरनाक और अन्तहीन यातना की संवाहक चेतना के साथी बहुत कम कवि और लेखक होते हैं और आत्मसन्तुष्ट और दिशाहीन असन्तोष की अराजकता से संत्रस्त समाज में ऐसे पथबंधु और भी कम होते हैं जो युगव्यथा का समूचा भार अपनी चेतना पर सम्भाल सकें और पतन और प्रपंच के संसार में अपनी मानवीयता के इस घटाटोप में सेंध लगा सकें, बारूद भर सकें, जिससे एक दिन विस्फोट हो सके। यह प्रसन्नता का विषय है कि व्यवस्था के विरुद्ध कवितात्मक संघर्ष जारी है और नया ख़ून आ रहा है !

समकालीन कहानी : सामाजिक अंतर्वस्तु

निष्कर्षों की पूर्वघोषणा के स्थान पर पहले कुछ इधर की कहानियों की वैषयिक-पहुंच (थीमैटिक-एप्रोच) की जांच-पड़ताल करें और तब विहंगावलोकन करें कि इन कहानियों में सामाजिक अंतर्वस्तु किस रूप में है ।

मृदुला गर्ग की **उसका विद्रोह** में एक घरेलू नौकर मालिकों द्वारा रोज़-ब-रोज़ के अपमान के भीतर ही भीतर क्षुब्ध होता है और वह बर्त्तनों को पटक कर ज़ोर-ज़ोर से गाना गाता है ताकि मालिक उसके औद्धत्य के माध्यम से उसकी नाखुशी को समझ लें । **जलते हुए डैने** (हिमांशु जोशी) स्वतन्त्र भारत की पुलिस के जनान्दोलनों के दमन का एक चित्र है । **दरारों के बीच** (से० रा० यात्री) में दरिद्रता का किस्सा है । गरीबी में मनुष्य को अमानवीकृत होकर पशुदशा में पतित होना पड़ता है ।

सिम्मी हर्षिता की कहानी **उसका मन** में एक कुमारी के मन के स्वतन्त्रता-कामी प्रस्फुटन है किन्तु अन्त में कहानी सोच-विचार में ही समाप्त हो जाती है और सोच-विचार भी साधारण प्रकार का है, सहमा हुआ सोच । स्वयं प्रकाश की अन्य कहानियों की तरह **सूरज कब निकलेगा** में मारवाड़ में बाढ़ के कारण दुःखी मैराराम और सुगनी के अन्तहीन कष्ट का एक चित्र है । शैलेश मटियानी के **मैमूद** में भी गरीबी की तस्वीर है ।

विष्णु प्रभाकर की कहानी **पुल टूटने से पहले** में लोगों की बेहाली की पकड़ है । इस कहानी में सहनशीलता का मर्म भी खोजा गया है कि लोगों को विद्रोह का अधिकार तो है पर वे विद्रोह न करने पर भी, टूट जाने तक, सर्वग्रासिनी हताशा से लोहा लेते रहते हैं । लक्ष्मीनारायण लाल की कहानी **आत्मकथन** में विश्वनाथ और विनीता, दोनों बंधे-बंधे रहते हैं पर त्यौहार का बहाना कर वे वर्जनाएं तोड़ते हैं और मदिरापान कर, अपने-अपने प्रेमप्रसंग सुनाकर हलके हो लेते हैं । **मुर्दा मैदान** (रामदरश मिश्र) में गन्दगी, लाशों और दुर्गन्ध के मैदान में बच्चों का जरा-जरा सी चीजों के लिए झगड़ा होता है । यहां भी अभावों से अमानवीकृत संसार है ।

मणिका मोहनी की कहानी **हम बुरे नहीं थे** में, पति और पत्नी के स्वतन्त्रता के अधिकारों का द्वन्द्व है। कुलदीप बग्गा की कहानी **फ्रीजर में लगे सम्बन्ध** में सुखदायक वस्तुओं की खरीद की होड़ में आदमी-औरत को कितना नीचे गिरना पड़ता है, यह दिखाया गया है। अन्विता अब्बी की कहानी **अवांछित** में गरीबी के कारण पति-पत्नी को गर्भपात के निर्णय लेने के लिए विवश होना पड़ता है।

अमृतलाल नागर की **ओड़री सरकार** में आठवें दशक के उत्तरार्ध में उभरी संरक्षण की राजनीति और जातीय अहंकार एवं राजनैतिक भ्रष्टाचार का वर्णन है। इसी नमूने की कहानी है **पवित्र पुरुष** (आरिगपूडि) जिसमें शेषावतार तथा मंत्रीगण किस प्रकार सरकारी महिला कल्याण केन्द्र की असहाय स्त्रियों से खेलते हैं, यह प्रदर्शित किया गया है।

त्रिकोण (अभिमन्यु अनत) में भी राजनैतिक भ्रष्टाचार की कथा है। अब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी **तलाक के बाद** में धर्मान्धता का विरोध है। अरुणा कपूर की कहानी **गुलदस्ते, कब्र और रोशनी** में सम्बन्धों के आर्थिक आधार की त्रासदी प्रस्तुत की गई है। **कालापानी** (गुरुबचन सिंह) में किशनी इसलिए आत्महत्या कर लेती है क्योंकि गरीबी के कारण उसका विवाह नहीं हो सकता या फिर किसी अयोग्य व्यक्ति के साथ होगा। निरुपमा सेवती के **फिर कभी** कहानी में सम्बन्धों में स्वेच्छाचार के कारण विच्छेद और तज्जन्य अलगाव और उदासी का बयान है।

तिनकों का घोंसला (प्रतिमा वर्मा) में बूढ़ी और बेकार दादी की दुर्दशा की जाती है और ऊपरी ठाठ में इस भावात्मक दरिद्रता को छिपाया जाता है। लेकिन जब कमाऊ चाचा की अचानक मृत्यु हो जाती है तो हाहाकार मच जाता है। **खुरंड** (बदीउज्जमा) में अम्मा और बिटिया ममानी का टिपीकल नारी-कलह है और उसके तले बच्चों का प्यार पलता रहता है।

"इस देश में प्रेम का बीज मन और शरीर की पवित्र भूमि में नहीं, ठेठ घर-परिवार की उपजाऊ भूमि में ही फलता-फूलता है।" इस सामाजिक-सत्य का उद्घाटन मन्नू भण्डारी की **स्त्री-सुबोधिनी** कहानी में है।

महापुरुष (यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र') में अहसानों से लदी आदर्श कुमारी अपने उपकारी महापुरुष पी० लाल एम० पी० को, उनकी अमूर्त्त तकलीफ और इच्छा भांप कर समर्पण करना चाहती है। **बंगला नंबर दस** (राजेन्द्र अवस्थी) में बदलते हुए मिनिस्टरों के रुखों की झलक है। **छोटा अफसर** (राजेन्द्र राव) में निकम्मेपन और ओवर-टाइम के लिए मजदूर छोटे अफसर का अपमान करते हैं और किसी दुष्ट मातहत को सजा दे देने पर मारपीट भी हो जाती है।

संक्रमण (कामतानाथ) कहानी में एक सुखी रोग की मनोग्रस्तता का दृश्य है तो 'लड़के' में निकम्मे समाज कंटकों का, जिनकी संख्या बढ़ती जा रही है। **दीवारें** में अभावजन्य असहायता है, **अपराजेय** में भी यही स्थिति है, जहां शंकरलाल जैसे

आम आदमी, जीवन संघर्ष में टूटते-खटते रहते हैं और अन्त में बीमारियाँ पाल कर दम तोड़ देते हैं।

डॉ० कृष्णा अग्निहोत्री की **बन्द खिड़की** में बाबुओं (क्लर्कों) की बेबसी है तो 'नफीसा' में नफीसा, ईसाई-साध्वी (नन) बनने को मजबूर होती है पर वहां भी देह की भूख में मग्न मार्था उसे समलैंगिक प्रेम में गिरने को विवश कर देती है। **गाउन** में सदैव अतृप्त मन निम्न मध्यवर्गीय मधु की दयनीय खरीददारियों की कल्पनाएँ हैं जबकि यथार्थ में बड़ा परिवार, चौका-चूल्हे, आर्थिक तंगदस्ती और स्थानाभाव की चखचख है।

महीपसिंह की **पारदर्शक** में दुर्घटना-आशंका में अपने प्रियजन की बढ़ती हुई प्रीति की ओर संकेत है। **घिरे हुए क्षण** में आशंका का रूप दूसरा है। दिलीप को यहां यह आशंका है कि उसकी पत्नी मोहिनी कार्यक्रमों के सिलसिले में बाहरी व्यक्तियों के सम्पर्क में आती है तो वह कहीं परग्रस्त न हो जाए। व्यस्तता का आतंक बढ़ता जा रहा है और आत्मीय क्षण दुर्लभ होते जा रहे हैं। दिलीप अपनी पत्नी के साथ भ्रमण के लिए समय नहीं पा सकता क्योंकि वह भी व्यस्त है और पत्नी दूसरों के साथ कार्यक्रमों में व्यस्त है। **घिराव** में 'व्यवस्था' का आतंक है। सुम्मी अपने पति अमर से मुक्त होकर ओमी से सम्बद्ध हो रही है पर पति की छाया साथ लगी है। **पत्नियां** में पारिवारिक व्यवस्थाजन्य ऊब और नीरसता को लक्षित किया गया है। **ब्लाटिंग पेपर** में नारी के स्वतन्त्र वरण या चयन की प्रक्रिया में पुरुषों की दग़ाबाजी से टूटती प्रीती जैसी लड़कियों की त्रासद तस्वीर है। और **पुत्र** में त्रासदी यह है कि योग्य पिता के योग्य पुत्र, सिफारिशों-षड्यंत्रों के अभाव में दयनीय होकर नियुक्तयों के लिए इन्हीं उपायों को अपनाते हैं।

इब्राहीम शरीफ के **पूर्वाभास** में संवेदनहीनता पर चोट है। गत्यात्मक, समृद्ध और व्यस्त लोगों के मध्य कमजोर व्यक्ति को पग-पग पर अपमान और असहायता का बोध होता है। **दिग्भ्रमित** में सत्ता पर अधिकार के लिए पागल जुलूसों की होड़ में मामूली आदमी की मुसीबत है।

मर्यादाहीन में योग्य मगर बेकारी से पीड़ित व्यक्ति, साक्षात्कारों में बेईमानी देखकर मर्यादाहीन होने के लिए विवश हो जाते हैं। **इन्तजार** में गरीब मछली बेचने वालों के भद्देपन का कारण उनकी साधनहीनता में खोजा गया है। **जख्म, कथाहीन प्रलाप, मौत, गर्दिस के दिन, गणित, फैसले के बाद** आदि कहानियों में इब्राहीम शरीफ अधिकतर आर्थिक-अभावों को मुख्य संकट मानकर इस वास्तविकता को रेखांकित करते हैं कि मनुष्य का सर्वाधिक पतन या आत्मभ्रंश दरिद्रता में होता है। इस दरिद्रता के लिए शरीफ व्यवस्था को ही उत्तरदायी ठहराते हैं पर **गर्दिस के दिन** में वह हिन्दुओं की इस साम्प्रदायिकता पर भी प्रहार करते हैं कि वे स्वतन्त्र भारत में भी मुसलमानों को अपने मकानों में नहीं रहने देते।

हेतु भारद्वाज की **बनती बिगड़ती लकीरें** में भी इब्राहीम शरीफ की तरह आर्थिक अभावों को सबसे बड़ा व्यक्तित्व-भंजक तत्त्व माना गया है। आनन्द क्लर्क है। वह किसी और से गर्भवती हो जाने पर भी प्रिया से विवाह कर लेता है क्योंकि वह धनी पिता की पुत्री है और सुन्दर है। मिथिलेश्वर की कहानियों में भी आर्थिक विवशता को ही मुख्य समस्या माना गया है।

बयान (कमलेश्वर) में एक फोटोग्राफर अपनी पत्नी के नग्न छायाचित्र लेने के लिए विवश होता है और इस गिरावट तथा पत्नी के नौकरी से निकाले जाने की ग्लानि से आत्महत्या कर लेता है। **बरगद** (मधुकर गंगाधर) में ग्राम्यजीवन में व्याप्त गुरबत और ऊपर से पुलिसदमन की कहानी है। **अपंग-संज्ञा** (धर्मेन्द्र गुप्त) में एक बुद्धिजीवी, अपनी नौकरी में किस तरह अपने बड़े अधिकारियों के खिलाफ संघर्ष करता है, किस तरह वह छोटे कर्मचारियों को संगठित कर अपनी अस्मिता का इजहार करता है, यह दिखाया गया है। **टोपी का रंग टोपी** (सनतकुमार) में राजनैतिक दलों के अवसरवाद की दास्तान हैं। **फोड़ा** (सिद्धेश) में शहरीकरण की विसंगतियों को प्रतीकात्मक ढंग से दिखाया गया है। **हास्यरस** (ज्ञानरंजन) में विवाह-बंधन में बंधते व्यक्ति की उधेड़बुन (बूडिंग) है जबकि पत्नी प्रसन्न है क्योंकि वह स्वतन्त्रता नहीं पुरुष का आश्रय चाहती है। दूधनाथ सिंह के **स्वर्गवासी** में एक बेकार और इसलिए व्यर्थ व्यक्ति की, अपनी बहिन के घर में, बहनोई तथा बच्चों के सामने आत्म-अवमानना का मनोविज्ञान है। **बाढ़** (मधुकर सिंह) में एक मामूली नौकरी के लिए एक लड़की का संघर्ष और सिफारिश तथा रिश्वत का वातावरण है। यहां अफसर बेईमान है और चपरासी उस लड़की की रक्षा करता है। **गोह** (विश्वेश्वर) में शोषण का कारण, महाजनों के लोभ में खोजा गया है। **मुट्ठी भर फन** (अशोक अग्रवाल) में गृहस्थ-व्यवस्था भूतपूर्व प्रेमिका को जड़ और आत्मसंतुष्ट बना देती है।

अपना दुश्मन (माहेश्वर) में बेकार मगर क्रान्किारी राजन पुलिस से भिड़ता है और जनसाधारण के दुश्मनों की पहचान करता है, जो संगीनों से लैस सिपाहियों के पीछे छुपा हुआ है, जो बैंकों के सेफ वाल्टों में घुस गया है, जो स्काई-क्रेपर्स के गुम्बदों पर चढ़ गया है····जो तमाम परिवारों को आरों से चीरता रहता है। डॉ० माहेश्वर की **सांप, कोई आग, बुलडाग, अजनबी सुख, नायक : अनायक** आदि कहानियों में पूंजीवादी समाज की विकृतियों या उनके विरुद्ध गुरिल्ला-चेतना की सुगबुगाहट है। सशस्त्र संघर्ष का एक विकल्प है।

सतीश जमाली की **चुनौती** में छात्र-आन्दोलनों की असलियत खोली गई है और **सुबह-शाम** में अनाथ केसर के अमानवीकरण की जो ट्रक-ड्राइवरों की गंदी हविस का शिकार होता है क्योंकि केसर जैसे लड़कों के पास कोई विकल्प नहीं है। **ठाकुर संवाद** के ठाकुर की हालत भी ऐसी ही है जो रिक्शा चलाता है और

गालियां सहता है। ममता कालिया की कहानी **लड़के** में दिशाहीन छात्र-आन्दोलन का दृश्य है कि लड़के किस तरह नागरिक जीवन को अस्त-व्यस्त करते हैं, सरकारी सवारियां ले भागते हैं और बड़े-बड़ों की बिना बात दुर्दशा कर डालते हैं। **बसंत सिर्फ एक तारीख** में एक महिला कालेज का दृश्य है, जहाँ प्रिंसिपल एक गर्भवती लेक्चरर को निकाल देती है क्योंकि वह गर्भ धारण कर लेती है। **तस्कों को हम न रोयें** में पुरानी होती हुई पत्नी और अधेड़ पति की चखचख है और **अपत्नी** में संतति निग्रह के उपाय हैं एवं **एक अदद औरत** में पत्नी होने की ऊब है।

काशीनाथसिंह की **सूचना** कहानी में बनारस नगर के अ-लगावग्रस्त, असुरक्षित और कलहपरक माहौल को खींचा गया है। **निधन** में भोला बाबू नीम का पेड़ लगाकार सोचते थे कि छांव मिलेगी, कुछ ठण्डक भी परन्तु वह नीम का वृक्ष एक आंधी में उखड़ जाता है। **अपने लोग** में एक भ्रष्ट अफसर को मजा चखाने के लिए एक व्यक्ति एक अपमानित क्लर्क को चाकू इस्तेमाल करने का उपदेश देता है। **माननिय होम मनिस्टर के नाम** में व्यावसायिक और अवसरवादी नेता रामप्रसाद मौर्या एक ओर तो अफसरों से मिला रहता है, दूसरी ओर किसानों से। **मीसा जातकम्** में आपातकाल में सता की मनमानियों का प्रहसन है।

काशीनाथसिंह ने छद्म क्रान्तिकारियों के पाखण्ड को भी निरवसन किया है। **लाल किले के बाज** में क्रान्तिकारी होने का ढोंग करने वाले 'जादू' महाशय विवाह में दहेज भी ले लेते हैं और नौकरों से सेवा भी। इसके विपरीत क्रान्ति की असली झलक 'सुधीर घोषाल' कहानी में है, जिसमें श्रमिक सुधीर घोषाल, अपने साथियों के हत्यारे प्रशासक को खत्म कर देने के लिए प्रतिबद्ध है और अंत में अफसर को मारकर ही दम लेता है। इस प्रकार 'सुधीर घोषाल' एक 'कर्मकथा' (एक्शन-स्टोरी) है।

"समग्रतः ये सभी कहानियां, अपने समय से प्रभावित या कालांकित कहानियाँ हैं। दिक् या परिवेश में जीवित, वास्तविक व्यक्तियों की ओर उन्मुख होकर ये कहानियां अपनी परिणति में वर्तमान काल का बोध और स्पन्दन जगाती हैं, इसीलिए इन्हें 'समकालीन' कहा जा सकता है। समकालीन कहानी में चित्रित परिस्थितियों, जीवन दशाओं और पात्रों का जो 'प्रत्यय' (कंसेप्ट) पाठक में उत्पन्न होता है, वह केवल समकालीन कहानी से ही उत्पन्न हो सकता है, पूर्ववर्ती कहानी से नहीं। आज के आदमी के चेहरे को इन कहानियों में साफ-साफ देखा जा सकता है। इस चेहरे के अनुभाव बदलते हैं, मनोगतियों की भिन्नता के कारण चेहरे पर आकुंचनों में भी भिन्नता आ जाती है लेकिन इन सभी चेहरों में एक बात सामान्य है—स्थिति की प्रतिकूलता का अहसास। अतः समकालीन कहानी, प्रतिकूल स्थितियों में पड़े आदमी की कहानी है।[1]

---

[1] समकालीन कहानियाँ, पृ. 58

मेरा यह दूसरा सामान्यीकरण भी प्रासंगिक लगता है कि इस लेख में चर्चित कहानियों में कुछ एक कहानियों को छोड़कर अधिकतर रचनाओं में समकालीन कहानीकार विचारधारा (आइडियोलाजी) से बचता है।[1] उसके उद्वेलित और क्षुब्ध मानस में, वास्तविकता का साक्षात्कार करते समय अथवा अभिव्यक्ति के क्षण में कोई कारण कार्यक्रम नहीं दिखाई पड़ता, वह वास्तविकता को जैसा देखता या महसूस करता है, व्यक्त कर देता है,""किन्तु ये मात्र द्रष्टाओं की कहानियां नहीं हैं, भुगतते-भोगते व्यक्तियों की कहानियां हैं।

चन्द्रकांत बक्षी की **तिमिर निशीथे** तथा काशीनाथसिंह की **सुधीर घोषाल** को छोड़कर अन्य किसी कहानी में किसी विकल्प या नई कार्यदिशा का बोध नहीं है अतः अधिकतर कहानियां स्थिति-बोध की कहानियां हैं। स्थिति-परिवर्तन की दिशा की समझ उनमें नहीं है। निर्मल वर्मा के रोमानी अवसाद और निष्क्रिय तकलीफों के कारण, स्मृति में निमग्नता से समकालीन कहानी बहुत दूर निकल आई है और वह कल्पना, खलिश, अमूर्त्त वेदना और रोमान को छोड़कर स्थिति की विपरीतता का सीधा और प्रायः सपाट साक्षात्कार करती है, उसमें व्यंग्य, विद्रूप, प्रहसन, भर्त्सना और एक्सपोजर है, लेकिन अधिकतर कहानियों में यथार्थ के चक्रव्यूह में घिरे व्यक्तियों का बिम्ब उदित होता है, लड़ते हुए आदमी या औरत की तस्वीरें बहुत कम हैं। वर्जना-विरोध भी लड़ाई हैअतः लड़ाई शब्द के व्यापक अर्थ में तो यौन-कथाओं तक को घसीटा जा सकता है लेकिन मुख्य लड़ाई तो दो बिन्दुओं पर है, अभाव और अत्याचार। अभाव, शोषण के कारण है, अतः शोषण और वितरणात्मक अन्याय (डिस्ट्रीब्यूटिव इन्जस्टिस) 'अभाव' की कोटि में आ जाता है।

सवाल यह है कि अधिकतर कहानियों में सामाजिक शक्तियों की पहचान का अभाव क्यों है ? यह एक तथ्य है कि लोग जो विभिन्न व्यवसायों और वृत्तियों में काम कर रहे हैं, जमातों में संगठित हैं और जब कोई चक्कर पड़ता है तब वे जमातों अथवा राजनैतिक संगठनों के पास जाते हैं। वोट लेने की स्पर्धा में संगठन व्यक्तियों को अपनी ओर खींचते हैं और पिछले बीस वर्षों में पारम्परिक जमातों (जाति और धर्म पर आधारित संगठन) से राजनैतिक दलों की ओर संक्रमण हुआ है लेकिन समकालीन कहानी में यह संक्रमण यत्र-तत्र ही लक्षित होता है क्योंकि कथाकारों में अभी भी अनेक लेखक पुराने मिथकों से प्रभावित हैं। उनकी अराजनैतिकता, अलग-थलग रहने और दूर से देखने की आदत का असर उनकी कहानियों पर पड़ता है और जो वास्तविकता राजनैतिक जीवन में आ गई है, उसे भी कहानी से अलग रखने के कारण पात्र कष्ट उठाते हैं और आत्म-पीड़न तक सीमित रह जाते हैं।

उदाहरण के लिए 22 दिसम्बर, 1979 के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित शर्त (प्रतिभा सक्सेना) में नारी का घरेलू शोषण और उसकी वेदना खूब

---

2. समकालीन कहानियाँ पृ. 58

दिखाई गई है, यहाँ तक कि गीता जान पर खेल जाती है, लेकिन ऐसा लगता है कि पात्र, बाहर के लोगों के न सम्पर्क में आते हैं, न किसी के प्रभाव में। लगता है, कोई हस्तक्षेप करने वाला ही नहीं है, न कोई समझाने वाला है। पर वास्तविक जीवन इतना कटा हुआ नहीं है। अ-लगाव या एलियनेशन है पर वह उच्चमध्यमवर्ग में अधिक है।

पिछले दो दशकों में हमारे सामाजिक-राजनैतिक जीवन में एक प्रवृत्ति उभरी है कि बहुत व्यापक पैमाने पर वृत्तियों या व्यवसायों में काम करने वाले लोग संगठित हुए हैं। श्रमिक ही नहीं, बाबू वर्ग, वकील, डाक्टर, घरेलू नौकर, दूकानों के कर्मचारी, चतुर्थ श्रेणी के लोग, गरज कि हमें भूमिहीन श्रमिकों को छोड़कर सर्वत्र कार्यरत या सेवारत लोग अपने-अपने पेशों में संगठित नज़र आते हैं, किन्तु यह संक्रमण या व्यक्तियों की संगठनों द्वारा सहायता का यथार्थ कहानियों में बहुत कम दिखाई पड़ता है अत: व्यक्ति बनाम संगठन के नवयथार्थ के चित्र कहानियों में बहुत कम हैं।

इसी तरह राजनैतिक दलों की भूमिका और उनके अंतर्विरोधों पर निन्दात्मक कहानियों को छोड़कर बहुत कम कहानियाँ मिलती हैं। लेखक प्राय: राजनैतिक दलों से दूर-दूर रहते हैं अत: वे उनकी गत्यात्मकता और कार्यनीतियों से अपरिचित रहते हैं। समकालीन कहानी पढ़कर यह नहीं लगता कि भारतीय जनता में राजनैतिक परिपक्वता इस हद तक आ गई है कि राजनीति विशारद भी जननिर्णय की प्रतीक्षा करते हैं जैसे जनता कोई समाधान खोज देगी ! पिछले दो चुनावों में जनता ने वोट द्वारा सरकारों की जो सफाई की है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि देश में जनता नहीं है, सिर्फ भीड़ है। हिन्दी में इस सामूहिक मानस को समझने-समझाने वाली कहानियां कितनी हैं ?

हमारे कथाकारों के पात्रों में ऐसे पात्र बहुत कम हैं जो किसी वृत्ति-संगठन (प्रोफेशेनल आर्गनाइजेशन) या राजनैतिक संगठन के सदस्य या कार्यकर्ता की हैसियत से सक्रिय हों। आधुनिक सभ्यता की विशेषता यह है कि इसमें कारखानों, प्रतिष्ठानों, कार्यालयों, शिक्षालयों आदि में संगठित विधि पर काम होता है। राजकीय और व्यावसायिक संगठन एक पद्धति से अनुशासित होते हैं। जब तक इस पद्धति और स्वामित्व को नहीं बदला जाएगा तब तक विधवाविलापपरक कहानियों से कोई बात नहीं बनती। क्योंकि वे यह नहीं बतातीं कि दुखती रग का सबब कहां है। दुखती रग का कारण सामान्यजनविरोधी, सोपानपरक (हायरेर्किकल) व्यवस्था में है और स्वामी अदृश्य है। दुश्मन पद्धति है, उससे जन्य प्रपंच है, कोई व्यक्ति नहीं, उच्चवर्ग जिम्मेदार है।

जब इस सोपानपरक या सीढ़ीदार शोषक पद्धति को चुनौती दी जाएगी तो वह अकेले व्यक्ति से नहीं, संगठित जमात से ही आएगी। उदाहरण के लिए शिक्षालय

में प्रबन्धकों, प्रशासकों के शिकार किसी शिक्षक को शिक्षक-संगठन और राजनैतिक तत्व बचाते हैं, मज़दूर के लिए श्रमिक-संगठन और राजनैतिक दल लड़ते हैं; चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी संगठन बड़े-बड़े अफ़सरों को नाकों चने चबवा देते हैं। आज तो हालत यह है कि प्रतिष्ठानों में (मसलन् बैंकों में) बाबू वर्ग अधिकारियों से खुशामद करवा रहे हैं और हड़ताल के संकट से दोषी व्यक्ति के विरुद्ध भी निर्णय स्थगित हो जाते हैं।

निर्णय-प्रक्रिया इतने विशाल पैमाने पर संगठनों और दलों से प्रभावित हो रही है परन्तु हमारे कहानीकारों को यह प्रक्रिया दिखाई नहीं पड़ती है; अतएव अधिकतर कहानियों में संवैधानिक या जनतांत्रिक लड़ाई का भी प्रतिबिम्बन नहीं है, क्रान्तिकारी लड़ाई की तो आशा करना भी व्यर्थ ही है।

देश और समाज में संगठित दलों, वर्गों और जमातों की दादागीरी से आज अराजकता का भय भी उत्पन्न हो गया है पर कहानी में यह सब गायब है। 1980 के चुनाव से दक्षिणपंथी या साम्प्रदायिक तथा जातिवादी दलों को जनता ने रद्द कर दिया है और बंगाल तथा केरल में वामपंथी दलों की पकड़ मजबूत हो गई है, मगर हिन्दी प्रदेशों की औसत लेखकीय चेतना को यह लगता है कि कहीं कोई विकल्प ही नहीं है अतः लेखक सिर्फ भुनभुनाता है और आत्मपीड़ा में जीता है। नक्सलपंथी सशस्त्रहिंसा के उभार में, हिन्दी प्रदेश कहानीकारों ने वहाँ जाकर क्रान्ति के उभार और उतार का अध्ययन नहीं किया। उन्होंने साहित्य तक में उसका समर्थन नहीं किया, न क्रान्तिकारी पात्रों को, (जैसे कि वे थे) चित्रित किया। अतः उन्होंने सबसे सरल मार्ग अपनाया कि सामान्यीकृत दुःख, कष्ट, मानापमान, वेदना और दाह का वर्णन करते रहो और जो परिवर्तन, कुछ व्यक्तियों, दलों के माध्यम से हो रहा है या जहां जो मन-वचन-कर्म से संघर्षशील है, उसका चित्रण मत करो।

इस अमूर्त-आर्तनाद की कहानियों में वामपंथी लेखकों की कहानियां अपवाद मानी जा सकती हैं। डॉ० माहेश्वर, काशीनाथसिंह की कहानियों की ऊपर चर्चा है किन्तु 'सनातनवामपंथी' कमलेश्वर और उनके समांतरी लेखकों की कहानियों में दुःखी व्यक्ति, संगठन से अलग रखकर चित्रित किए गए हैं और आलोचना सरकार की है, सेठ की नहीं। कमलेश्वर की कहानी 'बयान' ही नहीं, उनकी किसी भी कहानी में व्यवस्थाविरोधी राजनैतिक शक्तियों की वस्तुगत समझ और विश्लेषण या प्रतिबिम्बन नहीं है। 'बयान' में चोट सरकार पर है, सेठ पर नहीं, जिसके वह तब नौकर थे, जब वह 'बयान' लिख रहे थे।

इसी तरह 'नयी कहानी' के बाद 'सचेतन' कहानीकारों में कोई एक भी ऐसा कथाकार नहीं उभरा, जिसमें परिवर्तनशील वास्तविकता और सामाजिक शक्तियों की समझ बिम्बित हुई हो। डॉ. महीपसिंह की कहानियों में बदलते मूल्यों-प्रतिमानों और ढबों की चेतना हैं, शक्तियों, संगठनों बनाम व्यक्ति के सम्पर्कों-सम्बन्धों-अंतर्विरोधों का अहसास और बोध गायब है। 'नयी कहानी' के कहानीकारों में संघर्षशील

पात्र नहीं थे पर वे सचेतन कहानियों में कहाँ हैं ? इन सारी कहानियों में धर्मेन्द्र गुप्त की 'अपंग संज्ञा' के नायक जैसे कहीं-कहीं कुछ पात्र हैं (नारी पात्र नहीं ।) मगर वे वर्जनाविरोधी अधिक है, व्यवस्था विरोधी कम ।

मैं अक्सर सोचता हूं कि हमारे समकालीन साहित्य ने प्रतिपक्ष की तगड़ी भूमिका अदा की है । उसमें भैरव प्रसाद गुप्त, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, शरीफ (इब्राहीम) धूमिल जैसे अनेक लड़ाकू विचारक और रचनाकार रहे हैं और हैं लेकिन कहानियों में सामान्यतः धनात्मक (पाजिटिव) चरित्रों का अभाव है। राजनीति और सामाजिक संगठनों में अनेक जनपक्षधर चरित्र हैं, जगह-जगह हमदर्द लोग हैं, मगर कहानियों में वे नहीं हैं । जनता में जो भी, जिस प्रकार की भी जुर्रत है, वह कहानियों में क्यों नहीं है ?

कहीं इसका कारण यह तो नहीं है कि लेखकों का पर्यवेक्षण सीमित है । 'प्रामाणिक अनुभव' की बात 'नई कहानी' के प्रवक्ताओं ने कही थी पर उनके 'प्रामाणिक अनुभव' में लेखक संघर्ष के समानान्तर सुखी जीवन की जुगाड़ में थे अतः जो विशेषज्ञता और बारीकी उन्होंने मधुर मनोगतियों की कहानियों या यौनप्रसंगों की कहानियों में दिखाई वह कठोर जीवन संघर्ष के प्रतिबिम्बन में नहीं दिखाई पड़ी ।

इस लेख में चर्चित कहानियों के सर्वेक्षण से एक और निष्कर्ष उभरता है । इधर की समकालीन कहानियों में सपाटता अधिक है । मिथिलेश्वर, इब्राहीम शरीफ, माहेश्वर जैसे प्रतिबद्ध लेखकों की कहानियों में भी मनोवैज्ञानिक गहराई का अभाव मिलता है । दूधनाथसिंह की कहानियों में अनुभूतियों और मनोदशाओं का भंवरजाल सबसे अधिक है किन्तु उसमें निर्षिक्रयता है। वास्तविक जीवन संघर्ष में भागकर्ता व्यक्तियों की मनोदशाओं की निविड़ता दूधनाथसिंह में नहीं है। निष्क्रियता, आत्मपीड़न और यौन-स्थितियों में जो मनस्तात्विक सूक्ष्मता हमारे सृजन में है, वह संघर्षपरक मानस के चित्रण में क्यों नहीं है ?

जब तक व्यवस्था-विरोधी शक्तियों की जटिल संरचना और गत्यात्मक भूमिका को नहीं समझा जाएगा, तब तक तिलिस्म सी दिखने वाली इस आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था के तोड़क व्यक्तियों और दलों की भूमिका अस्पष्ट, अनचीन्हीं और बेगानी लगेगी। हिन्दी कहानी को आयातित अवधारणाओं का आक्रमण झेलना पड़ा है । अ-लगाव (एलियनेशन), अस्तित्वचिन्ता, व्यक्तिवाद और उपभोक्तामानव की धारणाओं और इन धारणाओं के आविष्कारक विदेशी लेखकों की मनःस्थितियों और मूड्स के अनुकरण से हमारे कई कथाकारों को भारतीय परिदृश्य और लोग वास्तविक नहीं लगते और वे स्वयं संघर्ष केन्द्रों से कटकर अपने को वितृष्णा, समूह-घृणा और अजनबीपन में गिरिफ्तार पाते हैं, अतः कहानी में नवीनता तो आ जाती है, प्रामाणिकता लुप्त हो जाती है । फिर वह नवीनता कुछ समय बाद पुरानी लगने

लगती है या अप्रासंगिक प्रतीत होती है, अतः फिर एक नए नाम से कहानीकार गुट बनाकर प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं। किन्तु इस प्रतिक्रियात्मक (रीएक्टिव) चेतना को 'संचेतना' नहीं कह सकते क्योंकि संचेतना सदैव स्वतंत्र, मौलिक और अपने वास्तविक जीवन-यथार्थ और परिवर्तक शक्तियों को खोजती है।

अतः कहानी 'अंधेरे में चीख' (निर्मल वर्मा) नहीं, वस्तुगत रहकर व्यक्तियों और शक्तियों के अन्तर-सम्बन्धों की खोज है। कहानी यदि किसी स्थिति, व्यक्ति, परिस्थिति, प्रयत्न, संघर्ष और समाज के आंतरिक और अनिवार्य सम्बन्धों को नहीं देखती, उन पर लिखते समय नज़र नहीं डालती तो वह वास्तविकता का बोध पाठक में नहीं पैदा कर सकती, वह मात्र कहानीकारों के मनोविज्ञान को शब्दबद्ध कर सकती है। किसी विशिष्ट, मौलिक और विकसित लेखक या कवि के व्यक्तित्व और वैचित्र्य का आकर्षण मोहक और प्रभावक होता है परन्तु मानवयथार्थ के रंग-रेशों को घूरने की प्रक्रिया आत्मकेन्द्रीयता का अतिक्रमण मांगती है, जिसके लिए बहुत कम शब्दकार प्रस्तुत हैं। बहुत-से रचनाकार निजी अनुभवनिमग्नता छोड़कर अध्ययनशील पर्यवेक्षण (स्टडीड आब्जर्वेशन) का कंटकाकीर्ण मार्ग नहीं अपनाना चाहते। उनके लिए कहानी, मनोगतता, फंतासी, इच्छापूर्ति, चमत्कार या कला-कौशल के प्रदर्शन द्वारा, सामाजिक-प्रतिष्टा और साहित्य के इतिहास में (नए गुटों और गुर्गों को उछालकर) स्थान बनाने की कोशिश है। वह किसी समाजदृष्टि सम्पन्न परिवर्तन की तैयारी नहीं है, न उसमें क्षण-क्षण परिवर्तित-वास्तविकता और उसमें वांछनीय बदलाव के लिए मनुष्य को भीतर से बदलने की कशमकश है। यदि यह सच नहीं है तो उपर्युक्त अधिकांश कहानियों में मात्र स्थितिबोध क्यों है?

शेखरजोशी की **'बदबू'** जैसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गहरी और फिर भी समझने में सरल कहानियाँ बहुत कम मिलती हैं। **ज्ञानरंजन** की **'बहिर्गमन'**, **विश्वेश्वर** की **'गोह'** और **काशीनाथसिंह** की **'सुधीर घोषाल'** में यह यथार्थदर्शन की वेधकता और साथ ही कहानी रचने का शऊर दिखाई पड़ता है।

कहानी कोई प्रचार नहीं है, न वह यथार्थ का रेखाचित्र है। सामाजिकता अपने को व्यक्ति के माध्यम से व्यक्त करती है। व्यक्ति अपने को व्यक्त करते समय सामाजिक अंतर्वस्तु को भी बिम्बित करता है क्योंकि व्यक्ति जिसे अपना मनोविज्ञान समझता है, वह सामाजिक प्रतिवर्तन (सोशल कंडीशनिंग) से बनता है और यह प्रतिवर्तन कृति में ऐतिहासिक (एक अंश तक) भी होता है। एक ही विशिष्ट व्यक्ति और 'आम आदमी' में व्यक्तित्व का यह मिथकीय, ऐतिहासिक, अंधविश्वासपरक और विधिनिषेधमय ढांचा होता है जो समकालीन चुनौतियों और चिन्ताओं के सामना करते समय, उसके निर्णयों को प्रभावित करता है। कहानी, यदि समकालीन है तो वह इस ढांचे से टकराती है। यह टकराहट किसी बोध या विचार से ही हो सकती है, क्योंकि मात्र अभिवृत्तिपरक (एट्टीट्यूड) टकराहट हमें कहीं नहीं ले जाती। उक्त

चर्चित कहानियों में अधिकांशतः यह टकराहट नहीं है। **शैलेश मटियानी** की **'प्रेत मुक्ति'** में वह है पर वहां भी वह बारीक नहीं है। कहानीकार राजनैतिक-संघर्ष की मनोदशाओं से यदि घबराते हैं तो वे पाठकों की मिथकीय मनोवृत्तियों और मिथ्या-चेतनापरक अभिवृत्तियों से तो बड़े मजे से भिड़ सकते हैं।

और अब इस नवम दशक में खतरा मिथकीय मिथ्याचेतना से ही अधिक है। ईरान में ही नहीं, हमारे देश में भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और प्रबुद्धमुक्तता के विरुद्ध हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, सिक्ख, जैन आदि धर्म संगठनों ने मध्यकालीन मानसिकता का पुनर्जागरण शुरू कर दिया है। ये तत्व सत्ता पर एकाधिकार कर, धर्म के नाम पर, शोषण से मुक्ति के संघर्ष को दबाना चाहते हैं। विकासशील देशों में आधुनिक पूंजीवादी विकसित देशों के उपभोक्ता-समाज का नमूना अपनाया गया है अतएव उपभोक्ता मनोवृत्ति ने मानवतावादी मूल्यों का नाश कर डाला है और अंधी आर्थिक-प्रतियोगिता में संग्रहशील मनोवृत्ति ने जनसाधारण को भी अपनी लपेट में ले लिया है। इसे ही समाजशास्त्र में 'भ्रष्ट समाज' कहा जाता है।

अतः मनुष्य के पतन को देखकर पुनः यथास्थितिशील (कंजर्वेटिव) तत्त्व, धर्म द्वारा समाज की नैतिक मर्यादाओं और मानववादी ममताओं एवं संस्थाओं (परिवार, विद्यालय, मन्दिर, चर्च आदि) को बचाना चाहते हैं। साम्यवादी शक्तियों की आपसी कलह और अब शत्रुता (रूस और चीन) से कोमलमति मध्यवर्गीय को साम्यवादी विकल्प सुहावना नहीं लगता अतः मध्ययर्ग का शिक्षित-प्रशिक्षित तबका—अब, 'मनुष्यता' को बचाने और व्यवस्थाविरोधी समाजवादियों की पद्धति-विरोध, वास्तविक जनतांत्रिकता और प्रहारात्मकता को नष्ट करने के लिए धर्म के तर्क पर, गांधी के नहीं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मर्यादापुरुषोत्तम राम का वर्णानुशासित राज्य स्थापित करना चाहता है। वह स्वतंत्र विवेक के विकास के स्थान पर, श्रद्धामूलक अंधविश्वासी दर्शन को धर्म के नाम पर, सामने ला रहा है और इसके जवाब में सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, पारसी और जैन अपने-अपने धर्म के आधारों का विस्तार करने के लिए व्याकुल हैं। इनमें जो बुद्धिजीवी हैं, वे पुराने पैगम्बरों, धार्मिक ग्रन्थों और मजहबी मानसिकता के धर्मध्वजों की आधुनिकता और प्रासंगिकता सिद्ध कर रहे हैं और लेखक भी इस धार्मिक पुनर्जागरण और 'क्रूसेड' के लिए तैयार दलों के द्वारा बनने वाले जहर का उग्र विरोध नहीं करते हैं।

आधुनिकता, प्रगतिशीलता और धर्म का यह मिश्रण, अब बाढ़ पर है अतः इस दक्षिणपंथी विष का सामना, वामपंथी राजनीतिज्ञ और दल कर रहे हैं। केन्द्रवर्ती शक्तियाँ (कांग्रेस) भी 'सर्व धर्मसमभाव' की धारणा से, इस धर्मयुद्ध के प्रति सहिष्णुता बरतती हैं अतः मानसिक क्षेत्र में दक्षिणपंथी धार्मिकता के साथ सिर्फ वामपंथी सामाजिक दृष्टि के लेखक ही टकरा सकते हैं। पर अभी तक ऐसी कहानियां कहाँ हैं ?

फिर भी सारी सपाटता, दृष्टि की सीमा, आत्मग्रस्तता और अपने यथार्थ को परायों की नज़र से देखने की रुग्णता के बावजूद आठवें दशक की कहानियों की इस पड़ताल से यह स्पष्ट है कि हमारी कहानी **'नयी कहानी'**, **'संचेतन कहानी'**, **'समान्तर कहानी'** आदि का जाल तोड़कर आज ऐसे माहौल में आ गई है, एक ऐसे दशक में, जिसमें परिवर्तन और अपरिवर्तन की शक्तियों में ध्रुवीकरण हो रहा है, हो गया है और अब इस बिन्दु पर लड़ाई विश्वास और विवेक के मध्य है। स्वभावतः और वर्गतः सम्पन्न लोग विश्वास या धर्म की ढाल से, शोषण विरोधी ताकतों की चोट से बचना चाहेंगे अतः वे 'भगवान' पाल रहे हैं और दक्षिणपंथी सरकारों की स्थापना चाहते हैं, जो राष्ट्रीयकरण, वितरण, न्याय, श्रमिकस्वामित्व और पूंजीपतियों को बेदख़ल करने की बातें न करें।

अतः विश्वास या अंधविश्वास की बुनियाद व्यवस्था में होती है। व्यवस्था-विरोध का अभिप्राय यह है कि उसके रक्षक विश्वासों को तोड़कर विवेक की स्थापना हो, तर्क और विज्ञान की अभिवृत्ति जगे। कहानी का नवम दशक में मूल्यांकन इस आधार पर भी होगा कि क्या वह अपने प्रगतिशील विवेकवादी रोल के प्रति सचेत रही है? दरअसल उसे ही संचेतना कह सकते हैं, उसी के आधार पर सामाजिक-अंतर्वस्तु तै होगी। समाज की मुख्य चुनौती या अंतर्विरोध को जो लेखक टालता है, और अप्रासंगिक मानसिक भ्रमणों में फंस जाता है, उसमें मनोवैज्ञानिक गुण हो सकता है, सौन्दर्य बोधात्मक मज़े भी, किन्तु सामाजिक-अंतर्वस्तु की दृष्टि से ऐसी कहानियों की मूल्यवत्ता कम होती है।

अन्तर्वस्तु और रूप की संगति

कला और साहित्य में अन्तर्वस्तु का रूपायन होता है, यह सर्वस्वीकृत बिन्दु है किन्तु अन्तर्वस्तु (कन्टेण्ट) और रूप (फार्म) की संगति के इस सिद्धान्त पर जब प्रक्रिया की दृष्टि से सोचा जाता है तब अनेक कठिनाइयाँ सामने आतीं है।

उदाहरण के लिए अन्तर्वस्तु और रूप समान बल के तत्व हैं या इनमें से कोई एक अधिक निर्धारक शक्ति रखता है ?

इस प्रश्न पर अन्तर्वस्तु को रूप का निर्धारक या नियामक तत्व मानने वाले, अन्तर्वस्तु को रूप से अधिक मूल्यवान मानते हैं, इसके विपरीत रूपवादी, अन्तर्वस्तु को मात्र 'कच्चा माल' मानते हैं और रूपान्तरण-शक्ति को कला और साहित्य का सारतत्व कहते हैं। सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में कथ्य और रूप का द्वन्द्व प्रारंभ से अब तक चल रहा है ।

इस सम्बन्ध में मेरा मत यह है कि अन्तर्वस्तु और रूप की संगति का सिद्धान्त एक आदर्श (आइडियल) ही प्रस्तुत करता है। साहित्य की कृतियों का इतिहास गवाह है कि जिन्हें उत्कृष्ट और कालजयी कृतियां कहा जाता है, उनमें बहुत कम कृतियों में कथ्य और रूप की एकता है। मसलन् महाकाव्यों में अन्तर्वस्तु अर्थात् विचारों-भावनाओं-संवेदनाओं-मानवमूल्य-चिंतन आदि की समृद्धि है किन्तु महाकाव्यों में संरचनागत असन्तुलन दिखाई पड़ता है। महाभारत में व्यर्थ विस्तार, अल्पप्रासंगिक वृत्तों का विवरण भरा पड़ा है।

बाल्मीकि रामायण में गठनगत सौन्दर्य अधिक है किन्तु वहां भी तत्व और रूप की पूर्ण एकता नहीं है। इस दृष्टि से किसी भी महाकाव्य में कथ्य और कलागत एकान्विति की पूर्णता नहीं मिलती, रघुवंश, शिशुपाल बध, किरातार्जुनीयम् नैषधीयम् आदि सभी में कहीं न कहीं रूपगत या संरचनागत असामंजस्य है। तुलसीदास के रामचरितमानस में किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड कमजोर है।लंकाकाण्ड का युद्ध पौराणिक लगता है, वास्तविक नहीं। उत्तरकाण्ड मूल कृति का परिशिष्ट सा प्रतीत होता है, वह कृति का अनिवार्य अंश नहीं बन पाया। सूरदास के सागर में कथ्य का अमित विस्तार है, एक-एक विषय पर सैकड़ों पदों की वर्षा है किन्तु अन्तर्वस्तु और रूप की एकान्विति के सर्वस्वीकृत सिद्धान्त के आधार पर महाकाव्यों का अवमूल्यन किसी ने नहीं किया।

इसके दो अर्थ हो सकते हैं, या तो अन्तर्वस्तु और रूप की एकता का आदर्श मात्र आदर्श है, व्यवहार में, उसमें सर्वत्र तारतम्य, मात्रागत संगति ही सम्भव हो पाती है अथवा यह माना जाए कि साहित्य में अन्तर्वस्तु का महत्त्व रूप से अधिक है या साहित्य में अन्तर्वस्तु ही, रूप की निर्धारक या नियामक शक्ति है क्योंकि साहित्य में, मनुष्य को प्रभावित करने वाली मूल वस्तु मानवीय सार तत्व (ह्यूमन एसेंस) है, मात्र रूप का सौन्दर्य नहीं। जिस प्रकार कोई स्वादिष्ट वस्तु आकारगत सौन्दर्य के बिना भी, लोगों को प्रिय लगती है उसी प्रकार साहित्य में मनुष्य को मनोहर लगने वाली अन्तर्वस्तु होती है - साहित्यकार की मानवीय दृष्टि, भावना-क्षेत्र, वैचारिकता, मूल्यगतमार्मिकता, ऐन्द्रियबोध की सूक्ष्मता, निरीक्षण-क्षमता और वास्तविकता की समझ या स्थिति की जागरूकता। अब यदि इस समृद्ध अन्तर्वस्तु को रूपान्तरित करने की प्रक्रिया में साहित्यकार को पूर्ण सफलता न भी मिले तो भी मानवीय सारतत्व की वजह से ऐसा साहित्य, समाज के खासो-आम की प्रियता प्राप्त कर लेता है। हमारा अधिकतर साहित्य ऐसा ही है, जिसमें अन्तर्वस्तु की प्रबलता है और कला के उक्त नियम के अनुसार उसके रूपगत या संरचना गत (स्ट्रक्चरल) न्यूनतायें होने पर भी वह प्रशंसा का विषय है।

यह स्थिति प्राचीन और पूर्वमध्यकाल में ही नहीं है, उत्तरमध्यकाल और आधुनिक काल में भी है। उदाहरण के लिए उत्तरमध्यकालीन या रीतिकालीन कविता में, रूपगत जागरूकता अधिक है। जिस प्रकार स्थापत्य में जड़ाव का कौशल है, उसी तरह देव, बिहारी और पद्माकर की कविता में संरचनागत कौशल का चमत्कार है। कला की दृष्टि से रीतिकालीन कविता बेजोड़ है। रीतिकालीन कविता में, आदर्शों के आतंक का अतिक्रमण कर, नारी और प्रकृति के सौन्दर्यअंकन में जो स्वच्छन्दता, संगीतात्मकता, मादकता और क़लम की बारीकी तथा चतुराई है, वह अन्यत्र नहीं है तथापि उसमें मानवीय-उत्कर्ष और अभ्युदय-चेतना की दुर्बलता के कारण तथा भाव की असघनता और परिसीमन के कारण उसे भक्तिकाल के दीपक से उत्पन्न काजल कहा गया है यानी रीतिकाल में अन्तर्वस्तु की रुग्णता है, कलागत पूर्णता है जबकि अन्य साहित्य में इसके विपरीत स्थिति है।

आधुनिक युग में द्विवेदीयुग के सृजन में अन्तर्वस्तु की प्रधानता और रूपगत असन्तुलन है जबकि स्वच्छन्दतावासी कविता में रूपगत एकता अधिक है। पुनः प्रगतिवादी सृजन में अन्तर्वस्तु की प्रबलता और रूपगत कमज़ोरी है जबकि नयी कविता में पुनः रूपगत चेतना अधिक है पर पूर्ण प्रारूप "परफेक्ट माडल्स" वहाँ भी नहीं है। कामायनी गोदान-अंधायुग-अंधेरे में-मुक्ति प्रसंग-मोचीराम-जनगाथा आदि किसी भी कृति में अन्तर्वस्तु और रूप की पूर्ण संगति नहीं है तथापि ये कृतियां कालजयी हैं, क्लासिक हैं। तब क्या यही मान्यता ठीक नहीं है कि अन्तर्वस्तु और रूप की संगति एक आदर्श है जो प्राप्य तो है पर प्राप्त हो नहीं पाता।

इसके विपरीत साहित्य में ही, लघु रचनाओं या महाकाव्यों के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में अन्तर्वस्तु और रूप की लगभग पूर्ण संगति मिलती है। कालिदास की

उपमापरक उक्तियों, सूर के बिम्बों, तुलसी के द्वारा चित्रित मानवमूर्तियों और भावोद्वेलित प्रसंगों तथा कामायनी में मनोवृत्तियो के पृथक-पृथक चित्रणों में अंतर्वस्तु और रूप की संगति दिखाई पड़ती है ।

तब क्या यह माना जाए कि साहित्य में प्रायः दीर्घ रचनाओं में सावयविक एकता नहीं आ पाती, किन्तु अवयवगत, यानी स्फुट प्रसंगों में अन्तर्वस्तु और रूप का सामंजस्य अधिक मिलता है ? साहित्य में अन्तर्वस्तु की प्रधानता देखकर ही तो शास्त्रज्ञों ने साहित्य को, कलाओं की कोटि से पृथक कर उसे 'विद्या' का दर्जा नहीं दिया था ? साहित्य यदि विद्या है मात्र कला नहीं तो साहित्य के मूल्यांकन में मात्र कला के प्रतिमान कैसे लागू हो सकते हैं ?

कलागत पूर्णता की दृष्टि से संगीत में ही अन्तर्वस्तु और रूप की परिपूर्ण एकता दिखाई पड़ती है, शेष कलाओं में अन्तर्वस्तु, माध्यमों की विशिष्ट प्रकृति के कारण रूप में घुलकर एक नहीं हो पाती । चित्र और मूर्तिकला में भी स्थापत्य कला और साहित्य से अधिक वस्तुरूपगत एकता की सम्भावना रहती है अतः अन्तर्वस्तु और रूप की संगति का सिद्धान्त कोई अमूर्त-प्रत्यय नहीं है अपितु उसे कला के माध्यमों या उपकरणों और मानवीय सारतत्व के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त किया जा सकता है अथवा समझा-समझाया जा सकता है ।

अन्तर्वस्तु और रूप की एकान्विति के विषय में, इन दोनों तत्त्वों के बलाबल निर्णय के सन्दर्भ में अथवा इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्र के रूप में अथवा सामान्य सिद्धान्त स्थापना की दृष्टि से जो कहा गया है, वह एक आदर्श की अभीप्सा ही है । मसलन् समकालीन मनोविज्ञान में, सावयविकतावादी गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों[1] ने, सौन्दर्यशास्त्र की इस शास्त्रवादी गेस्टाल्ट धारणा को बल पहुँचाया कि सौन्दर्य और सार्थकता, अवयवी (Whole) में होती है, मात्र अवयव में नहीं । अवयव, यनक़ीन, अवयवी की सृष्टि में अनुपम योगदान करता है किन्तु इन योगदानी अवयवों या अंशों की संगति से, जिस पूर्ण या सावयवी सौन्दर्य या लावण्य या रूप की सृष्टि होती है, वह घटकों के योग का परिणाम नहीं है बल्कि वह घटकों के विशिष्ट संयोजन का परिणाम होता है ।[2]

भरत के नाट्यशास्त्र के रससूत्र में भी विभाव-अनुभाव-संचारी और स्थायी के विशिष्ट संयोग से ही सावयवी सौन्दर्य की सृष्टि मानी गई है जो रसानुभूति जाग्रत करता है । ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने, शायद इसी सूत्र से संकेत लेकर सावयविक लावण्य की अवधारणा दी थी :

---

[1] Max Wertheimer, Kurt Koffta, and Kohler.

[2] "They do not go from Meaningful whole down to parts which are still meaning-ful because of their role in making up the whole."
—Woodworth-General Psychology, p. 122

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ध्वन्यालोकं" ।

किन्तु इस सावयविक-सौन्दर्य को मानकर भी, रूपाग्रही लेखकों : विचारकों ने अन्तर्वस्तु की स्वतन्त्र और निर्णायक शक्ति को सर्वदा कम करके आँका है । मसलन् फ्लावेयर का मत था कि बिना सुन्दर रूपके सुन्दर विचार नहीं होते ।[1] यदि इसका अर्थ यह है कि रूप और कथ्य अपृथकस्थिति में एकमएक हो जाते हैं और उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता, तो यह ठीक है किन्तु साहित्य में कलाकौशल की परवाह किये बिना भी, विचार और आवेग अपनी मानवीयता के कारण प्रभावक होते हैं यथा कबीर की कविता में अन्तर्वस्तु की प्रबलता से रूप स्वत: खिंचा चला आता है, मीराँ की कविता में भी यही प्रवृत्ति है जबकि महादेवी में कथ्य और कथनकला में जागरूक होकर संगति की कोशिश है । स्वत: स्फूर्त्त या अन्त:प्रेरित (Inspired)कला और साहित्य में गीत और कविता में, प्राय: अन्तर्वस्तु भावानुभूति का प्रवाह, स्वयं अपने रूप रचता चला जाता है अत: वहाँ कला का सचेत-प्रयत्न वैसा नहीं दिखाई पड़ता जैसा कि आधुनिक कला में प्रतीत होता है ।

अन्तर्वस्तु और रूप की संगति के विषय में उत्तमकला और महानकला के सन्दर्भ से भी नया आलोक मिलता है । 'महान' मानी जाने वाली कृतियों में नियमत: अन्तर्वस्तु का स्वतन्त्र महत्त्व होता है, परिस्थिति की गम्भीरता, पात्रों की सजीवता, विचारों की संकुलता, जातीय चिंताओं और चुनौतियों का अनुचिंतन और संवेदन तथा संवेगों की उदात्तता, गहराई और सांद्रता-ये सब महानकलाकृति के निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं । इनके अभाव या मानवीय सारतत्त्व के कुत्सितीकरण या ह्रासशीलता से रूपवादी कलाकृतियों को आकर्षक या उत्तमकला (Good) तो कहा जा सकता है पर महान नहीं माना जा सकता ।

अतएव महान और उत्तम कला का भेद अन्तर्वस्तु की प्रधानता या अप्रधानता पर निर्भर है ।[3]

---

1. There are no beautiful thoughts without beautiful forms.
2. "Good art, but not necessarily great art, the distinction between great and good art depending immediately as regards literature at all events, not on its forms, but on the matter——it is the quality of the matter it informs or controls, it compasses, its variety, its alliance to great ends, on the depth of the note of revolt or the largeness of hope in it, that the greatness of literary art depends as the Divine comedy, Paradise lost, Les Miserable, the Bible——are great art".

क्रोचे और उसके ऊपर आधारित कलावादी, महान और उत्तम का भेद नहीं कर सके क्योंकि वे कला को विषय की महत्ता से सर्वथा स्वतंत्र मात्र आत्मगत वस्तु मानते हैं।[1] वस्तुतः क्रोचे का दर्शन, कलादर्शन नहीं, प्रातिभज्ञान का ज्ञान है अतः वह वर्ण्यवस्तु और वर्णन की द्वन्द्वात्मकता और संगति को बदलते मानवजीवन के सन्दर्भ में नहीं देखता इसलिए वह कला को मात्र अभिव्यंजना मान लेने के कारण सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र की सम्भावना ही समाप्त कर देता है। सौन्दर्य की वस्तुगतता और स्वनिष्ठता के समीकरणों पर न सोचने से क्रोचे के चिंतन में एकांगिता आ गई है, यही कारण है कि वास्तववादियों ने उसका इतना उग्र विरोध किया है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि रूप, अंतर्वस्तु के स्वरूप को नियमित या निर्धारित नहीं करता। बहुत सी रचनाओं में, रचनाकार, वर्ण्यवस्तु को अपने पर आच्छादित न होने देने का प्रयत्न करते हैं और शुभारम्भ, प्रचलित रूपों से भिन्न किसी नए रूप की गवेषणा से करते हैं। जिस प्रकार छंद से कथ्य की अभिव्यक्ति एक विशेष साँचे में ढल जाती है, उसी तरह वर्ण्यवस्तु का रूपायन सर्जक के इस निर्णय पर निर्भर है कि वह वर्णनात्मक-रूप अपनाना चाहता है या प्रतीकात्मक, वह विवरण देना चाहता है या बिम्ब, वह गागर में सागर भरना चाहता है या सागर में गागर, वह प्रचलित रूपविन्यास अपनाना चाहता है या रूपगत नये प्रयोग करना चाहता है? जेम्स-ज्वॉयस, एक नयी भाषा में, नया रूप रचना चाहता है, महाकाव्यशैली के उपहास (पैरोडी) का रंग पेश करते हुए आधुनिक युग के असहाय यूलिसिसों (सेल्समैन) को सामने लाना चाहता है अतः रूप पर ध्यान की एकाग्रता के कारण यूलिसिस की अन्तर्वस्तु की प्रकृति प्रभावित हुई है यानी यूलिसिस में, वर्तमान समाज की विडम्बना का विवरण नहीं, व्यंग्य है जो वर्णनात्मक रूपशैली में व्यक्त हो ही नहीं सकता था।

इसी प्रकार मुक्त कल्पना या फैंटेसी के प्रयोग के बिना मुक्तिबोध, समकालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक यथार्थ को, वर्णनात्मक रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। ब्रह्मराक्षस के मिथकीय रूप के बिना असन्तुष्ट-आत्माओं के सत्य को अन्य किसी प्रकार या रूप से व्यंजित नहीं किया जा सकता था अतः यथार्थ जिस प्रकार अनंत और अगाध है, उसी प्रकार उसे व्यक्त करने के रूप भी अनेक हैं। स्तालिन युग में जड़ानोव जैसे आलोचकों ने, समाजवादी यथार्थवाद के लिए वर्णनात्मक विधि (नैरेटिव स्टायल) को ही जो अधिकृत मान लिया था, वह गलत बात थी।

आधुनिक मार्क्सवादियों में रूपगत प्रयोग करने की स्वतन्त्रता को वांछनीय माना जाने लगा है। जड़ानोव की व्याख्याओं और लूसिएँ गोल्डमान, ग्रामशी और अडोल्फो संकेज़ बाजकेज़ (Adolfo Sanchez Bozquez) की नवमार्क्स-

---

2. यह सही लिखा गया है कि क्रोचे ने प्रतिपाद्य विषय का ही लोप कर दिया
Leo stein—ABC of Aesthetics

वादी व्याख्यायें भिन्न है। नवीन मार्क्सवादियों ने वस्तु और रूप की एकता के सिद्धान्त में, वस्तु और रूप के द्वन्द्व और उनके परस्पर प्रभाव को, रूप की महत्ता और नवीनता को अधिक मान्यता दी है। फलतः आधुनिक कला आन्दोलनों, अभिव्यंजनावाद, अतियथार्थवाद और अमूर्त्त-कला आदि को मार्क्सवादी, बूर्ज्वा-अधःपतन या ह्रासशीलता (डिकैडेंस) न मानकर उन्हें रूपगत,नवीनता के आन्दोलन मानने लगे हैं और काफ्का, जेम्स ज्वायस जैसे आधुनिक कला के पोषक तथा गहन-संरचना (Deep Structures) के धनी कलाकारों और लेखकों को सपाट-यथार्थवादियों की तुलना में अधिक मान्यता देने लगे हैं।

लूसिएँ गोल्डमान ने नए उपन्यास (रोब्बग्रिए) के नये रूपविधान को अंतर्वस्तु में बाधक नहीं, साधक माना है। 'नए उपन्यास' में पूंजीवादी सभ्यता में व्याप्त अलगाव (Alienation) का वर्णन है पर रूपगत नवीनता यह है कि मनुष्य का पदार्थीकरण (रीफ़िकेशन) हो जाने से उपन्यास में पदार्थ, पात्र को देखते हैं और टिप्पणी करते हैं। इस नए रूप विन्यास से, पश्चिमी समाजों में अवचेतन-चेतन स्थित आत्मनिर्वासिन सवाक् हो उठता है। वर्णनात्मक विधि से यह प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता था।

इसी तरह, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के समकालीन संघर्षशील विद्रोही, क्रान्तिकारी या व्यवस्था-विरोधी लेखन में, पुराने प्रगतिवाद से भिन्न नव प्रगतिशील रूप संरचना है। नए समकालीन कवि और लेखक पूर्वदीप्ति, चेतना प्रवाह, विच्छिन्न क्रम, फंतासी, मिथ और अन्यथाकरण आदि रूपविधियाँ अपना रहे है अतः अन्तर्वस्तु के क्षेत्र में वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर बढ़ने के बावजूद समकालीन कविता और कथा तथा नाटक-साहित्य में नए रूपों की सृष्टि हुई है और प्रगतिवादी पुराने लेखन में जो अन्तर्वस्तु के आगे रूप की अवहेलना थी, वह अब नहीं है। नवमार्क्सवादी व्याख्याकारों के प्रयत्न से, नववामपंथी लेखकों में वस्तु और रूप की अधिकाधिक संगति की स्पर्धा बढ़ती गई है।

वस्तुतः अन्तर्वस्तु के बाह्य (External) तथा आन्तरिक (Latent) दो प्रकार होते हैं। सपाट यथार्थवादी रचनाओं में वर्णनात्मक विधि से बाह्य शक्तियों का विग्रह दिखाया जाता है किन्तु काफ्का और जेम्स ज्वायस जैसे लेखकों की रचनाओं, ट्रायल, कैसिल और यूलिसिस में आन्तरिक स्तर पर, व्यवस्था की विसंगतियों को व्यंजित किया गया है, 'नए उपन्यास' (न्यू नावेल) में भी यही विधि है।

ए. एस. बाज़केज़ ने यह साफ-साफ स्वीकारा है कि लेनिन के प्रतिबिम्बन-सिद्धान्त की संकुचित व्याख्या कर अनेक मार्क्सवादियों ने अन्तर्वस्तु को मात्र ऊपरी और स्थूल चीज़ मानकर, कलात्मक प्रतिबिम्बनों की न तो विशिष्टता पर ध्यान दिया है न यह देखा है कि कलाकृति में कलाकार भी अपने को व्यक्त करता है और

यह भी कि महान लेखक और कलाकार अपनी विचारधारा के आरपार जाकर, सत्य और वास्तविकता को विमोचित करते हैं ।[1]

अब यह सभी शिविरों में स्वीकार किया जाने लगा है कि कला एक ऐसी परिघटना है जो कुछ उदाहरणों पर आधारित, सामान्यीकृत सिद्धान्त वाक्यों और एकायामी दृष्टिकोणों का अतिक्रमण कर जाती है । वह किसी भी कोटि के शिकंजे में पूर्णतः नहीं बंधती, उससे 10 अंगुल बाहर ही निकली रहती है (तिष्ठिति दशाँगुलम् : ऋग्वेद) ।

कला और समाज पुस्तक में वाज़केज़ का मत है कि विचारधारावादियों ने, विचारधारा पक्ष पर अति बल प्रदान किया है और बड़े यान्त्रिक ढंग से, समाज के मूलाधार (आर्थिक-संरचना : उत्पादन के साधन : वितरण) और उपरि-आधार (कला, साहित्य, विधि, दर्शन, धर्म और संस्कृति) में कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया है जबकि कला विचारधारा नहीं है, विचारधारा उसका एक घटक अवश्य वर्ग विचारधाराएँ आती और जाती हैं पर सच्ची कला स्थायी प्रभाव छोड़ती है और कालजयी हो जाती है ।[2]

सौन्दर्यशास्त्री दृष्टि से, कलाकृति मात्र उसकी प्रेरक विचारधारा और ज्ञानात्मक-प्रतिबिम्बक-शक्ति पर निर्भर नहीं है । कलाकृति की स्वायत्त सत्ता होती है जो अपने अस्तित्व में, वर्ण्यवस्तु और रूप को, संग्रथित और समन्वित कर लेती है । कलाकृति में बराबर बदलता हुआ और मानवीकृत यथार्थ व्यक्त होता है और वास्तविकता, प्रकृति और अन्य आयामों को, साहित्य और कला रूपों के नए-नए विन्यास देती हुई विकसित होती चली जाती है । जिस प्रकार व्यक्ति और समाज, परिवर्तन के प्रवाह में गतिशील रहते हैं, वैसे ही कला और साहित्य में भी अन्तर्वस्तु और रूप बदलते रहते हैं अदः "कला, कला के लिए है" जैसे प्रत्यय यदि कलापक्ष पर जोर देने के लिए हैं तब तो युक्तियुक्त हैं किन्तु यदि 'कला कला के लिए है' जैसी अवधारणाएँ सिद्धान्त वाक्य हैं तो वह एकांगी है और उससे अंतर्वस्तु की नियामक शक्ति की अवमानना होती है ।

अन्त में एक और बिन्दु की ओर ध्यानाकर्षण करना है ।

अधिकतर सिद्धान्त वाक्यों का निर्माण कला और कविता को लेकर हुआ है, जिनमें अन्तर्वस्तु से अधिक उसके रूपान्तरण का पक्ष प्रबल हो जाता है किन्तु गद्य-कृतियों-उपन्यासों-नाटकों-निबंधों आदि के सन्दर्भ में देखने पर अन्तर्वस्तु का स्वतन्त्र-

---

[1] Every great artist exceeds his idealogical limitations to reveal a truth about reality "Art and Society"

A. S. Vazquez, Page 16

[2] Class idealogies come and go but true art persists——the specific nature of art lies in its transcendence—"Art and Society".

आकर्षण इन विधाओं में स्वतः प्रमाणित हो जाता है । गद्यकृतियों में क्या कहा गया है, यह बात निर्णायक होती है । प्रेमचन्द, यशपाल, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, राहुल जैसे लेखकों के गद्य-साहित्य में अन्तर्वस्तु की प्रधानता है, रूप की नहीं यों एक विशिष्ट संरचना और रूप का संग्रथन वहाँ भी है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में अधिकतर सिद्धान्त-सूत्र काव्य से सम्बन्धित हैं । यह सच है कि मूल सूत्रों का सर्जनात्मक प्रयोग कर हम आधुनिक गद्य और पद्य की कृतियों पर उन्हें लागू कर सकते हैं पर ऐसा प्रयत्न अभी होना है । प्राय: सौन्दर्य-शास्त्री और काव्यशास्त्र विशेषज्ञ, सूत्र विवृति और प्राचीन खण्डन-मण्डन तक ही सीमित रह जाते हैं और आधुनिक युगीन तथा समकालीन साहित्य और कलाओं का पहले स्वतन्त्र अध्ययन नहीं करते, यत्रतत्र कतिपय उदाहरण चुन कर उन पर पुराने सूत्र याँत्रिक विधि पर चिपका देते हैं । इससे सौन्दर्यशास्त्र तो कला के आन्तरिक सम्बन्ध तक ही सीमित रह जाता है और काव्यशास्त्र अप्रांसगिक हो जाता है। हैरोल्ड ओसबर्न ने "सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना" नामक ग्रंथ में सौन्दर्यशास्त्र की अप्रासंगिकता को इसी आधार पर रेखांकित किया है ।

इस प्रकार, अन्तर्वस्तु और रूप की संगति के सिद्धान्त को मानवीय और सामाजिक सन्दर्भ के समानान्तर रखकर, अमूर्त रूप से नहीं समझा जा सकता । उसे रचनाओं, जीवनप्रकरण और बदलते मूल्यों-मान्यताओं के प्रसंग में रखकर ही उसकी द्वन्द्वात्मकता और संगति को स्पष्ट किया जा सकता है । अन्तर्वस्तु और रूप की संगति का सूत्र कोई जादू की छड़ी नहीं है जिसे मनमाने ढंग से, रचनाओं पर घुमा देने से वे अपना रहस्य खोल देंगी । नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । रचना-रहस्य खोलने के लिए, अन्तर्वस्तु और रूप की संगति के आदर्शों को ध्यान में जमाए रह कर भी, रचना का रहस्य, मानवीय और सामाजिक-सन्दर्भ में ही खुल सकता है। इधर जो कलाकृतियों को मात्र भाषिक संरचना मानकर विश्लेषण हो रहा है, इन शैलीवैज्ञानिक तथा संकेत वैज्ञानिक[1] विवेचनाओं में, अन्तर्वस्तु की अवहेलना हो रही है । पहले मात्र अन्तर्वस्तु-विश्लेषण (कन्टेण्ट एनालिसिस) को ही सब कुछ मान लिया जाता था, उसी तरह अब समकालीन भाषिक विश्लेषण और संरचनात्मक-विवेचनाओं में, कलाकृति की अन्तर्वस्तु को मात्र कच्चा माल समझा जा रहा है। इस असंगति और परिप्रेक्ष्य की एकांगिता के विरुद्ध भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

---

[1] Semantic Philosophy of Art—Yeugeny Basin.
इसमें Semioties (संकेत विज्ञान) Structure आदि भाषा और अर्थ तक ही सीमित दृष्टियों और प्रविधियों की सन्तुलित आलोचना है ।
Progress Publishing—Moscow
इसमें संकेत विज्ञान (Semiotics) तथा संरचनावाद की सीमाएँ भी दिखाई गई हैं ।

मार्क्सवाद-कला और साहित्य के सन्दर्भ में

मार्क्सवादी चिन्तन के प्रारम्भिक व्याख्याकारों, विशेषकर सामाजिक-जनतंत्रवादियों (Social Democrats) में एडवर्ड बर्सटींन तथा कार्ल कौत्स्की ने यह समझा था कि मार्क्सवाद के आधार पर कला और साहित्य पर आर्थिक संरचना का प्रभाव दिखाया जा सकता है, उसकी नींव पर नया सौन्दर्यशास्त्र खड़ा नहीं हो सकता क्योंकि सामाजिक गत्यात्मकता में, मार्क्स आर्थिक मूलाधार और उपरि-आधार (सुपर स्ट्रक्चर) का सम्बन्ध ही दिखा पाता है।

यह भ्रम इसलिए भी पुष्ट हुआ क्योंकि प्रारम्भिक मार्क्सवादियों ने, कला और समाज के सह-सम्बन्ध (कोरिलेशन) को ही अधिक दिखाया है, कला और साहित्य की विशिष्ट प्रकृति पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया। यथा, पाल लफ़ारगो, फ़ाँज़ मेहरिंग और जी. प्लेखानोव में यही प्रवृत्ति है अतः इनकी व्याख्याओं में, एक हद तक, वर्ग-अन्तर्मुखता (Class subjectivism) आ गयी है।

प्लेखानोव के प्रभाव से, कला और साहित्य की सापेक्ष-स्वतन्त्रता की मार्क्सवादी धारणा की उपेक्षा हुई और विश्लेषणों पर सामाजिक निर्णयवाद (Social determinism) हावी हो गया।

लेनिन ने, साहित्य की चेतना निर्माणकारिणी, पक्षधर भूमिका पर बल दिया पर यह देखा कि बड़े लेखकों में, उनकी प्रतिक्रियादी विचारधारा के बावजूद, जन-यथार्थ का क्रान्तिकारी चित्रण मिलता है अतः तोलस्तोय का साहित्य क्रान्ति का का दर्पण है यों उसकी विचारधारा धार्मिक अंधविश्वासों पर आधारित है।

1909 में लेनिन ने, "भौतिकवाद और तथ्यवादी आलोचना (Materialism and Empiro-criticism)" में प्रतिबिम्बन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि कला और साहित्य में, वास्तविकता का प्रतिबिम्बन (Reflection) होता है।

1930 में इसी व्याख्या को सब कुछ मान लिया गया परन्तु समकालीन कुछ चिन्तकों के अनुसार यह अधूरापन था। अडोल्फो संकेज़ वाज़केज़ का मत है कि लेनिन का प्रतिबिम्बन-सिद्धान्त, कला और साहित्य की परिज्ञानात्मक भूमिका के प्रसंग में ही प्रासंगिक है[1], अर्थात् वहाँ, जहाँ हम कला और साहित्य द्वारा प्राप्त ज्ञान या बोध[2] के पक्ष को देखते हैं। चूँकि कलात्मक साहित्यिक प्रतिबिम्बन,

---

[1] Art and Society— Adolfo Sanchez Vazquez London, 1973

[2] Cognition

वैज्ञानिक-प्रतिबिम्बन से भिन्न होता है अतः लेनिन की व्याख्या की सहायता से हम, कला और साहित्य के विशिष्ट यथार्थबोध को, वैज्ञानिक बोध से पृथक कर सकते हैं।

अडोल्फो एस. बी. का कहना है और मैं समझता हूँ कि वह सही है कि हमें, कलात्मक-साहित्यिक-प्रतिबिम्बन की विशिष्टता को पकड़ना चाहिए, मात्र प्रतिबिम्बन को देखना तो ज्ञानमीमांसा का विषय है। अडोल्फो एस. बी. का यह मत उपयुक्त लगता है कि कलात्मक-प्रतिबिम्बन में स्वयं कलाकार का अन्तर्मन भी तो प्रतिबिम्बित होता है अतः बिना लेखक या कलाकार की अन्तर्मुखता:अन्त:प्रक्रिया को समझे, मात्र बाह्य प्रतिबिम्बन को ही देखना, अधूरा कार्य है।

वस्तुतः व्याख्याकारों ने यह देखा था कि मार्क्सवाद में कलात्मक सृजन-प्रक्रिया के विषय में कुछ विशेष मिलता नहीं है अतः मार्क्स की 1931-1933 में प्रकाशित पांडुलिपि को ध्यान से पढ़ा गया।[1] 1956 ई. की बीसवीं कांग्रेस में, स्तालिन के संकीर्णतावाद का विरोध उग्र हुआ और मार्क्स-एंगिल्स के ग्रंथों की ओर लौटने का चाव बढ़ा।

यह देखा जाने लगा कि कला और साहित्य के क्षेत्र में, "समाजवादी यथार्थ-वाद' का नुस्खा उस रूप में नहीं चल सकता, जिस रूप में जडानोव जैसे राजनैतिक व्याख्याकारों ने प्रस्तावित किया था। यह भी कि साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रयुक्त कोई एक शैली (वर्णनात्मक : आकारप्रधान) लादी नहीं जा सकती और न पूंजीवाद के विरोध के नाम पर पूंजीवादी देशों में, स्वतन्त्र और प्रतिभाशाली लेखकों-कलाकारों द्वारा आविष्कृत प्रयोगों और कालान्दोलनों का बहिष्कार किया जाना चाहिए। यह भी सोचा जाने लगा कि मार्क्सवाद के मूल सूत्रों के आधार पर सौन्दर्यशास्त्र खड़ा करने की ज़रूरत है, तभी कला और साहित्य सम्बन्धी, सभी जिज्ञासाओं का जवाब दिया जा सकता है। संकीर्ण, सपाट और अश्लीली कृत (वल्ग-राइज़्ड) व्याख्याओं से, प्रश्नतृष्णा को तुष्ट नहीं किया जा सकता।

अतएव, समकालीन मार्क्सवादियों का रुख जिज्ञासाप्रधान, खुला हुआ और सूक्ष्म है। उदाहरण के लिए अलथूसर, आर्थिक मूलाधार और उपरिआधार के संबंध को सीधा सादा-सपाट नहीं मानता और उपरिआधार यानी विधि, राजनीति, दर्शन धर्म, कला साहित्य में से विधि (कानून)और राजनीति को अन्य अधिक सूक्ष्म दर्शन, धर्म, कला आदि से भिन्न मानता है क्योंकि उन पर आर्थिक मूलाधार का प्रभाव सीधा पड़ता है जबकि साहित्य : कला आदि में, समाज की नींव (आर्थिक आधार) अप्रत्यक्ष रूपेण गूंजती है, और कहीं नहीं भी गूंजती है।

अलथूसर के सिवा लूसिएँ गोल्डमान ने भी यह देखा कि "नव-उपन्यास" (रोब्बग्रिए) में अन्तर्वस्तु है पर सूक्ष्म है (लेटेन्ट कन्टेन्ट)। जो आधुनिक साहित्य

---

[1] . Economic and Philosophical Manuscripts —Karl Marx

और कला है, वह भी यथार्थ की प्रतिबिम्बक है। उसे समाजवादी यथार्थवाद के विरोध में रखकर बिना समझे-बूझे, पूंजीवादी-ह्रासवाद (डिकेडेंस) का पर्याय मानकर उसे निषिद्ध कर देना, मार्क्सवाद का अश्लीलीकरण और जड़वाद है।

अडोल्फो एस. वी. का मत है कि यांत्रिक भौतिकवादियों ने जेम्स ज्वॉयस, आंद्रे ज़ीद, काफ्का आदि को ह्रासवादी कह दिया पर ह्रासवाद (डिकेडेंस) कोई स्थिर प्रत्यय नहीं है। ह्रासवादी कला और ह्रासग्रस्त समाज की कला में अन्तर करना होगा। पूंजीवादी समाज यक़ीनन ह्रासग्रस्त है पर उससे असन्तुष्ट कलाकारों और लेखकों की रचनाओं में भी ह्रासशीलता हो, यह ज़रूरी नहीं है। पिकासो,जेम्स ज्वॉयस की कला में नए प्रयोग हैं पर ह्रासशीलता नहीं है। उसमें पाश्चात्य-पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न किमाकारता, विरूपता (Distortion) आदि का रूपायन है।

यह भी समझा गया कि कला एक ऐसी परिघटना (पित्तोमेनन) है जो सपाट सामान्यीकरणों के आरपार चली जाती है और एकायामी दृष्टि से कला के रहस्य का अनावरण असम्भव है।

इस बिन्दु पर भी बल दिया गया कि कला, मात्र विचारधारा नहीं है। विचार उसका एक घटक मात्र है। कलाकृति में अन्तर्वस्तु (विचार : भाव : संवेदनादि) और रूप की अन्विति होती है और सौन्दर्य के अपने नियम होते हैं। इसके लिए कार्लमार्क्स के इस अभिमत को उद्धृत किया गया—

"Man, therefpre, also forms things in accordance with the laws of beauty."[1]

यांत्रिक भौतिकवादी व्याख्याओं में, सौन्दर्य के अपने विशिष्ट नियमों की उपेक्षा की गई और विचारधारा पर ही सारा ज़ोर दे दिया गया।

समझदार समकालीन मार्क्सवादियों ने यह देखा कि विचारमूल्य और कला मूल्य पृथक-पृथक होते हैं और कलाकृति वर्गीयता का भी अतिक्रमण कर जाती है। वह व्यक्ति और वर्ग का अतिक्रमण कर सार्वजनिक या सार्वभौमिक दर्जा प्राप्त कर लेती है।

वर्ग-विचॉरधाराएँ आतीं और चली जाती हैं पर सच्ची कला कालजयी होती है।[2]

इस ओर भी ध्यान दिया गया कि कला और समाज का सह-सम्बन्ध सम नहीं, विषम रहा है। अर्थात् पिछड़े और प्रारम्भिक दाससमाजों (ग्रीक समाज) में बेजोड़ कला और साहित्य की सृष्टि हुई है।

---

1. The Economic and Philosophical Manuscripts, 1844
2. Class idealogies come and go but true art persists — Art and Socitey Adolfo S.V. p. 25

प्लेखानोव आदि में कला को 'बिम्बों में चिन्तन' (Thinking in Images) कहा गया था, परन्तु कला और साहित्य मात्र बिम्बात्मकता तक सीमित नहीं हैं। यदि यथार्थ विकृत, अमानवीय और विरूपाक्ष है तो बिम्ब के स्थान पर कलाकार पराकल्पना (फैंटैसी) पशुपक्षीकथा तथा प्रतीकों आदि का प्रयोग कर सकता है।

कला और साहित्य में प्रकृति और परिवेष का मूर्तीकरण होता है और मानवीय सारतत्व[1] और गुप्त लय या भीतरी संरचनाओं को नहीं पकड़ा जा सकता अतः अडोल्फो एस. वी. का मत है कि न छायाचित्रात्मक यथार्थवाद आश्वस्तिकारी होता है, न भविष्य का मनमाना कल्पनावैभव। स्तालिनयुग का यथार्थवाद वस्तुतः "समाजवादी-आदर्शवाद" था। शोलोखोव को अपवाद माना जा सकता है क्योंकि उसने साम्यवादियों और उनके विरोधियों के द्वन्द्व में दोनों के भले-बुरे पक्षों को प्रामाणिक वस्तुगतता के साथ प्रदर्शित किया है।

अडोल्फो एस. वी. यह भी कहता है कि अमूर्तकला, अतियथार्थवाद, अभिव्यक्तिवाद आदि को 'रूपवाद' कहना ही ग़लत है क्योंकि वे कला-क्षेत्र के आन्दोलन हैं और मानवदशा को नए-नए ढंग से व्यक्त करते हैं।

यह देखा गया है कि ये आन्दोलन, पाश्चात्य देशों में, बूर्ज्वा-रुचि और परम्परावाद के विरुद्ध प्रचलित हुए थे और कई नए कलाकार और लेखक वामपंथी दल के साथ तादात्म्य रखते थे।

अडोल्फो एस. वी., ग्रामशी के इस अभिमत को उद्धृत करता है कि जो व्यक्ति मूलतः कलाकार का व्यक्तित्व रखता है और किसी राजनैतिक दल का सदस्य नहीं बनता, यदि वह कमाकारोचित जीवन जीता है तो राजनैतिक विश्व, उसके जीवन में कोई भूमिका अदा नहीं करता— "That somebody as an artist does not belong to a specific political world and that since his personality is essentially artistic in his intimate life, he actually lives, the political world under discussion plays no role, does not exist."[2]

मायकोवस्की 'भविष्यवाद' के बिना और पाब्लोनेरूदा, अरागों तथा इलुअर्ड अतियथार्थवाद के बिना क्या यह प्रभाव डाल सकते थे, जिनके प्रक्षेपण में वे सफल हुए हैं ?

अडोल्फो एस. वी., जार्ज लुकाच की व्याख्या की भी न्यूनता दिखाता है। लुकाच के लिए कला द्वारा वास्तविकता का प्रतिबिम्बन होता है। यह ठीक है, पर लुकाच की यह राय कि कला वही होगी जो यथार्थवादी हो, अति व्याप्तिपरक है

---

1. Humanization of nature
2. आर्ट एण्ड सोसायटी, पृष्ठ 35 पर उद्धृत ग्रामशी का मत

क्योंकि काफ्का जैसे लेखक वर्णनात्मक यथार्थवाद के वृत्त से बाहर रह जाते हैं। लुकाच काफ्का का विरोध करता है जबकि अडोल्फो एस. वी. के अनुसार काफ्का के "ट्रायल" उपन्यास में "व्यवस्था" का अधिक प्रभावक विरोध है। अतः अडोल्फो एस. वी. का कथन है कि वह गॅरोडी की यह बात मानता है कि यथार्थ या वास्तविकता की कोई सीमा नहीं मानी जा सकती और इसलिए यथार्थवाद के घेरे में कला घिर कर नहीं रह सकती—

"Art refuses to be enclosed within the limits of raelism."[1]

वह अमूर्तकला का भी समर्थन करता है क्योंकि आकार, आन्तरिक सारतत्त्व की पकड़ में बाधक होता है—

"The real external figure is an obstacle that must be overcome if realism is to be more that mere representation,"[2]

दरअसल, हिन्दी में यह समझ अडोल्फो एस. वी. के बहुत पहले आ गई थी। तभी मुक्तिबोध की पराकल्पनाविधि की प्रशंसा हुई और नए प्रयोगों को अपनाकर चलने वाले लेखकों-कवियों को "नवप्रगतिवादी" या प्रयोगशील प्रगतिवादी या "नवप्रगतिशील" कहा गया।

सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कलाकृति, स्वयं अपनी सत्ता रखती है। उसमें अंतर्वस्तु और रूप की एकता होती है।

कोरे विचारधारात्मक और समाजस्त्रीय दृष्टिकोण में, कला और समाज के विषम सम्बन्ध और कला के अपने कानून और नियमों की उपेक्षा की जा जाती है फलतः प्रचार और कला में अन्तर गायब होने लगता है अतः सौन्दर्यशास्त्रीय विधि अनिवार्य है। किन्तु पुराने प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) के आधार पर विकसित सौन्दर्यशास्त्र हमें वास्तविकता और उसकी गतिको काट देगा अतः मार्क्सवादके आधार पर विकसित सौन्दर्यशास्त्र से प्रेरणा लेनी होगी।

हिन्दी में इस सन्दर्भ में डा० रमेशकुन्तल मेघ के "अथातो-सौन्दर्य जिज्ञासा" तथा "साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक" इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अन्तर्वस्तु और रूप की एकता के सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त की पूरी खैरख़बर लेने पर भी यह याद रहे कि प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र में, बाह्य यथार्थ की चिन्ता नहीं रह जाती।

जो बाह्य यथार्थ की चिंता नहीं करते, उनकी दशा एमुअल कांट की उस–पक्षिणी की तरह होती है, जिसके विषय में वह सोचता था कि यदि 'हवा का प्रतिरोध न होता तो वह चिड़िया (Dove) मुक्त होकर उड़ जाती!"

---

[1] वही, पृ. 38

[2] वही, पृ. 39

प्लेखानोव आदि में कला को 'बिम्बों में चिन्तन' (Thinking in Images) कहा गया था, परन्तु कला और साहित्य मात्र बिम्बात्मकता तक सीमित नहीं हैं। यदि यथार्थ विकृत, अमानवीय और विरूपाक्ष है तो बिम्ब के स्थान पर कलाकार पराकल्पना (फैंटैसी) पशुपक्षीकथा तथा प्रतीकों आदि का प्रयोग कर सकता है।

कला और साहित्य में प्रकृति और परिवेष का मूर्तीकरण होता है और मानवीय सारतत्व[1] और गुप्त लय या भीतरी संरचनाओं को नहीं पकड़ा जा सकता अतः अडोल्फो एस. वी. का मत है कि न छायाचित्रात्मक यथार्थवाद आश्वस्तिकारी होता है, न भविष्य का मनमाना कल्पनावैभव। स्तालिनयुग का यथार्थवाद वस्तुतः "समाजवादी-आदर्शवाद" था। शोलोखोव को अपवाद माना जा सकता है क्योंकि उसने साम्यवादियों और उनके विरोधियों के द्वन्द्व में दोनों के भले-बुरे पक्षों को प्रामाणिक वस्तुगतता के साथ प्रदर्शित किया है।

अडोल्फो एस. वी. यह भी कहता है कि अमूर्तकला, अतियथार्थवाद, अभिव्यक्तिवाद आदि को 'रूपवाद' कहना ही गलत है क्योंकि वे कला-क्षेत्र के आन्दोलन हैं और मानवदशा को नए-नए ढंग से व्यक्त करते हैं।

यह देखा गया है कि ये आन्दोलन, पाश्चात्य देशों में, बूर्ज्वा-रुचि और परम्परावाद के विरुद्ध प्रचलित हुए थे और कई नए कलाकार और लेखक वामपंथी दल के साथ तादात्म्य रखते थे।

अडोल्फो एस. वी., ग्रामशी के इस अभिमत को उद्धृत करता है कि जो व्यक्ति मूलतः कलाकार का व्यक्तित्व रखता है और किसी राजनैतिक दल का सदस्य नहीं बनता, यदि वह कमाकारोचित जीवन जीता है तो राजनैतिक विश्व, उसके जीवन में कोई भूमिका अदा नहीं करता— "That somebody as an artist does not belong to a specific political world and that since his personality is essentially artistic in his intimate life, he actually lives, the political world under discussion plays no role, does not exist."[2]

मायकोवस्की 'भविष्यवाद' के बिना और पाब्लोनरूदा, अरागों तथा इलुअर्ड अतियथार्थवाद के बिना क्या यह प्रभाव डाल सकते थे, जिनके प्रक्षेपण में वे सफल हुए हैं ?

अडोल्फो एस. वी., जार्ज लुकाच की व्याख्या की भी न्यूनता दिखाता है। लुकाच के लिए कला द्वारा वास्तविकता का प्रतिबिम्बन होता है। यह ठीक है, पर लुकाच की यह राय कि कला वही होगी जो यथार्थवादी हो, अति व्याप्तिपरक है

---

1. Humanization of nature
2. आर्ट एण्ड सोसायटी, पृष्ठ 35 पर उद्धृत ग्रामशी का मत

क्योंकि काफ्का जैसे लेखक वर्णनात्मक यथार्थवाद के वृत्त से बाहर रह जाते हैं। लुकाच काफ्का का विरोध करता है जबकि अडोल्फो एस. वी. के अनुसार काफ्का के "ट्रायल" उपन्यास में "व्यवस्था" का अधिक प्रभावक विरोध है। अतः अडोल्फो एस. वी. का कथन है कि वह गैरोडी की यह बात मानता है कि यथार्थ या वास्तविकता की कोई सीमा नहीं मानी जा सकती और इसलिए यथार्थवाद के घेरे में कला घिर कर नहीं रह सकती—

"Art refuses to be enclosed within the limits of raelism."[1]

वह अमूर्तकला का भी समर्थन करता है क्योंकि आकार, आन्तरिक सारतत्त्व की पकड़ में बाधक होता है—

"The real external figure is an obstacle that must be overcome if realism is to be more that mere representation,"[2]

दरअसल, हिन्दी में यह समझ अडोल्फो एस. वी. के बहुत पहले आ गई थी। तभी मुक्तिबोध की पराकल्पनाविधि की प्रशंसा हुई और नए प्रयोगों को अपनाकर चलने वाले लेखकों-कवियों को "नवप्रगतिवादी" या प्रयोगशील प्रगतिवादी या "नवप्रगतिशील" कहा गया।

सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कलाकृति, स्वयं अपनी सत्ता रखती है। उसमें अंतर्वस्तु और रूप की एकता होती है।

कोरे विचारधारात्मक और समाजस्त्रीय दृष्टिकोण में, कला और समाज के विषम सम्बन्ध और कला के अपने कानून और नियमों की उपेक्षा की जा जाती है फलतः प्रचार और कला में अन्तर गायब होने लगता है अतः सौन्दर्यशास्त्रीय विधि अनिवार्य है। किन्तु पुराने प्रत्ययवाद (आइडियलिज़्म) के आधार पर विकसित सौन्दर्यशास्त्र हमें वास्तविकता और उसकी गतिको काट देगा अतः मार्क्सवादके आधार पर विकसित सौन्दर्यशास्त्र से प्रेरणा लेनी होगी।

हिन्दी में इस सन्दर्भ में डा० रमेशकुन्तल मेघ के "अथातो-सौन्दर्य जिज्ञासा" तथा "साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक" इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अन्तर्वस्तु और रूप की एकता के सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त की पूरी खैरख़्वर लेने पर भी यह याद रहे कि प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र में, बाह्य यथार्थ की चिन्ता नहीं रह जाती।

जो बाह्य यथार्थ की चिंता नहीं करते, उनकी दशा एमुअल कांट की उस-पक्षिणी की तरह होती है, जिसके विषय में वह सोचता था कि यदि 'हवा का प्रतिरोध न होता तो वह चिड़िया (Dove) मुक्त होकर उड़ जाती!"

---

1. वही, पृ. 38
2. वही, पृ. 39

विपरीत हवा (यथार्थ) का प्रतिरोध है, यही तो कला के लिए चुनौती है कि वह कला भी हो और यथार्थ का प्रतिबिम्बन और रूपांतरण भी करे। उसमें विचार-धारात्मक तत्व तो हो, पर वह कला पर हावी न हो जाये, उसमें जीवन और समाज का सत्य तो हो, पर कृति में मात्र सत्य न हो, सत्य तथा सौन्दर्य की अन्विति हो।

जिस प्रकार सृष्टि मात्र में परमाणु द्वन्द्व की संगति या अन्विति है, उसी प्रकार कलाकृति में, विचारधारात्मक तत्व, भावनाओं-संवेदनाओं और मूल्यों आदि की अन्विति होती है अतः सौन्दर्यशास्त्रीय विधि में मात्र घटकों की प्रासंगिकता ही को नहीं बल्कि घटकों की संगति को देखा जाना चाहिए।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र, सौन्दर्य के नियमों को मानता है परन्तु वह सौन्दर्य को, देश कालातीत, अमूर्त्त, अविश्वसनीय परमतत्व या चरम प्रत्यय से न जोड़कर, वास्तविक जीवन संदर्भ (प्रेक्सिज़) से जोड़ता है। मार्क्सवाद द्रष्टा और दृश्य, वस्तु और व्यक्ति,ज्ञाता और भोक्ता,भोक्ता और समाजमें सह-सम्बन्ध स्थापित करता है और इसी रिश्ते में सौन्दर्य का स्रोत मानता है। सौन्दर्य, मनुष्य द्वारा प्रकृति और वास्तविक मानव सम्बन्धों के मानवीकरण में निहित होता है, किसी दिव्य सत्ता में नहीं। सौन्दर्य भी मनुष्य की एक आवश्यकता है और सुन्दरता के नियमों का पालन करके ही हम इस आवश्यकता को सन्तुष्ट कर सकते हैं।

मार्क्स के विचारों में यह सत्य निहित है कि सौन्दर्यसृष्टि में सभी वर्ण्य पदार्थ, कलाकार के स्व के वस्तुगत रूप में प्रतीत होने लगते हैं और इससे उसके "व्यक्तित्व" का साक्षात्कार और सम्पुष्टि होती है।[1] कलाकार स्वयं पदार्थमय हो जाता है, और पदार्थ कलाकारमय। स्व और पर का भेद मिट जाता है, द्रष्टा और दृश्य की संगति बन जाती है।

सुन्दर वस्तु में वर्ण्य और वर्णनकर्त्ता एक सौन्दर्यात्मक सम्बन्ध में संघट्ट पा जाते हैं। आर्थिक अभाव दूर हो तो सौन्दर्यप्रियता बढ़े और सौन्दर्यके प्रति जानकारी भी बढ़ाई जाये क्योंकि जो संगीत नहीं समझता, उसके लिए संगीत व्यर्थ का शोर है।

पूंजीवादी समाज में, अभाव और अलगाव (एलियनेशन) से पीड़ित कलाकार कला द्वारा अलगाव का अतिक्रमण करता है और अभाव को सहता है क्योंकि कला या साहित्य उसके लिए आन्तरिक आवश्यकता है। वह उसकी मुक्ति है, स्वाधीनता है।

परन्तु कला की मुक्ति अलगाव के अतिक्रमण में नहीं, शोषण, दमन, अभाव और वैषम्य के कारण पूंजीवादी के अतिक्रमण और समतापरक सहयोगी समाज के

---

[1] All objects become for him the objectfication of himself, become objects which confirm and realize his individuality become his objects ''

निर्माण में है। मार्क्स के सौन्दर्यबोध में यह सामाजिक सौन्दर्यबोध भी शामिल है कि समाज संरचना का बदलाव ही कला और साहित्य के लिए असीम सम्भावनाओं को खोल सकता है क्योंकि पूंजीवाद में तो जनसाधारण जीवन संघर्ष से ही छुट्टी नहीं पाता।

मार्क्स के सौन्दर्यशास्त्र का मूलमंत्र यह है कि सौन्दर्य मनस्तत्व, आत्मा (साइकी) चेतना या परमात्मा में नहीं, वह मनुष्य और उसके संसार (प्रकृति:समाज) के सह–सम्बन्ध में निहित है। अतएव, सौन्दर्य का मूल्य भी मानवीय सन्दर्भ में निश्चित होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार, आर्थिक मूल्य, मानव संदर्भ में तै होता है।

मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र, संदर्भ का सौन्दर्यशास्त्र है जबकि प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र मानवसंदर्भातीत परब्रह्म या आत्मा की अवधारणा पर टंगा हुआ है।

अलथूसर, अडोल्फो एस. वी., लूसियाँ गोल्डमान आदि नव मार्क्सवादी व्याख्याकारों के अभिमतों में यक़ीनन सामान्य ज्ञान, समझदारी, उदारता और व्याप्ति अधिक है पर मुझे यह लगने लगता है कि बहुत विशदीकरण और व्याप्ति से, उस संघर्षशील साहित्य और कला की कुछ हानि भी होने लगती है, जिसमें कच्चा पन और ताज़े दूध की सुगंध होती है, जिसमें अन्तर्वस्तु और रूप की परिपूर्ण संगति तो नहीं होती परन्तु जो अपनी प्रामाणिक और अनुभूत अन्तर्वस्तु की समृद्धि से पाठक का मन मोह लेती है। कई जगह नवमार्क्सवादी व्याख्याकारों की व्याख्याओं से मूल मार्क्सीय कोटियाँ धुँधली होने लगती हैं।

अतएव मैं समझता हूँ कि अन्तर्वस्तु और रूप की एकता के निष्कर्ष को लागू करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि ऐसी परिपूर्ण एकता एक आदर्श ही है। अधिकतर रचनाओं में कोई न कोई कमी होती है तथापि वे प्रभावित करती हैं और आत्म-शिल्पन भी।

बहरहाल, मार्क्स के उक्त नवीन व्याख्याकारों के विश्लेषणों पर विचार होना चाहिए, वादे-वादे जायते तत्वबोधः।

भक्तिकाल-पुनर्मूल्यांकन : प्रासंगिकता

कुछ विद्वान भक्तिकाल को, विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त और पराजित भारतीयों की निराशा की अभिव्यक्ति मानते हैं किन्तु भक्ति वस्तुत: और विकास-वैषम्यग्रस्त भारतीय समाज की एक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति थी। भक्तिकाल के पूर्व इसके दो सोपान साफ़-साफ़ दिखाई पड़ते हैं, प्रथम, यों तो वेदों में भी भक्ति या वैष्णवभक्ति के स्रोत मिलते हैं पर वैष्णवआगमों या संहिताओं में पांचरात्र या सात्वत भक्तों की विचारधारा में, वर्णवादी समाज में मान्य कर्मकाण्ड के विरुद्ध ईश्वरप्रेम पर आधारित उपासना का विधान किया गया था अतएव वर्णवादी आचार्यों ने पांचरात्रों को "पंक्तिबाह्य" कर दिया था। पुराणों के युग में पांचरात्र वैष्णवों को उच्च वर्णों द्वारा स्वीकृति मिल सकी थी।

द्वितीय, दक्षिणभारत में सातवीं-आठवीं और नवीं शताब्दी में आड़वार भक्ति आंदोलन चला पर यह भक्तिप्रवाह भी वर्ण और जाति-उत्पीड़न के विरुद्ध मानव प्रेम पर आधारित था। नम्मालवार, तिरुमंगै और अन्दाल आदि निम्न जाति के भक्त थे, जिन्होंने नारायण के प्रति भक्ति-भाव में विभोर होकर मानवमात्र के प्रेम की घोषणा की थी और भेदभावों का विरोध किया था।

उच्चजातियों के रंगनाथमुनि (824–924) यामनुनाचार्य तथा उनके शिष्य रामानुजाचार्य ने, आड़वारभक्तों की प्रेमोदारता से प्रेरित होकर, जनसाधारण के लिए भक्ति के द्वार खोले। सामाजिक दृष्टि से भक्ति आन्दोलन ने एक कट्टर समाज में उदारवादी जनान्दोलनों की शुरूआत की और उच्च जाति के संवेदनशील आचार्यों और भक्तिकवियों के प्रयत्नों से यह उदारतावाद उच्च वर्गों में प्रतिष्ठित होता गया। इससे जातिपाँति का भेदभाव शिथिल हुआ और भक्ति के क्षेत्र में जनसाधारण को साधना का अधिकार प्राप्त हो गया।

अतएव भक्तिधर्म को, जनता के लिए मात्र अफ़ीम के रूप में नहीं देखना चाहिए। यक़ीनन धर्म, धार्मिक-व्यक्ति के अ-लगाव (Alienation) को प्रकट करता है, प्रतिकूल स्थितियों से उसके कल्पनालोक में पलायन को भी किन्तु धर्म के माध्यम से मनुष्य अपना, अपने समुदाय का दु:ख भी प्रकट करता है और उस दु:ख के विरुद्ध प्रतिरोध भी होता है—

"Religious distrass is at the same time the expression of real distrass and also the protest against real distress. Religion is the sigh of the oppreassed creature, the heart of a heartless world, just as it is the spirit of spiritless conditions. It is the opium of the people.[1]

भक्ति कालीन कविता में ग़म-ग़लत करने के लिए, भगवान की दिव्यलीलाओं में निमग्नता अवश्य है, बैकुंठ और लीलाधाम की फंतासियाँ हैं किन्तु भक्तिकालीन रचनाओं में मात्र इतना ही नहीं है। उनमें भारतीय विषमसमाज की उत्पीड़नजन्य आह भी है, हृदयहीन परिवेश के मध्य सहृदयता की सृष्टि भी है।

'दर्शन-दिग्दर्शन' के लेखक म० पंडित राहुल ने इस दृष्टि से भक्तों और भक्ति के आचार्यों, रामानुज आदि को नहीं देखा। उनके अनुसार केवल बौद्धसाधक प्रगतिशील थे, शंकर, रामानुज आदि ने प्रतिक्रियावादी वर्गों का समर्थन किया, ईश्वर-आत्मा आदि अंधविश्वासों का प्रचार किया। किन्तु राहुल जी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि सामाजिक-क्रान्तियाँ ईश्वर के माध्यम से होती रहीं हैं। भक्ति के आचार्यों निम्बार्क, रामानुज, रामानंद मध्व और बल्लभाचार्य ने कठोर वर्णाश्रमी-व्यवस्था को उदार बनाया। यह प्रगतिशील कार्य था प्रतिक्रियावादी नहीं पर यह भी सच है कि ब्राह्मण परम्परा के इन आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में ही निम्नवर्गों को अधिकार दिये, सामाजिक संरचना और व्यवहार में वर्णवाद का ही समर्थन किया। इस दृष्टि से भक्तिकालीन सन्त कवियों नामदेव, कबीर आदि की सामाजिक दृष्टि क्रान्तिकारिणी थी जबकि **ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित तुलसीदास मात्र उदारवादी थे।** वस्तुतः निर्गुणभक्ति-प्रधान वैष्णवों में प्रारम्भ से ही, वर्णाश्रम-व्यवस्था को चुनौती दी गई थी। यहाँ भी निर्गुण-ब्रह्म के माध्यम से सामाजिक संघर्ष किया गया था। चक्रधर द्वारा प्रवर्तित महाराष्ट्र का महानुभाव पंथ ऐसा ही था। वारकरी सम्प्रदाय के नामदेव (1270-1350) और चक्रधर ने वर्णवाद का घोर विरोध किया था।

उत्तर भारत पर आक्रमण के पूर्व इस प्रकार भक्ति का प्रवाह दक्षिण और महाराष्ट्र में प्रभावित हो रहा था। उसकी आलोचना और खंडन का लक्ष्य, भारतीय समाज की विषम संरचना और तज्जन्य अमानवीय व्यवहार था।

यह भी ग़ौर करने योग्य तथ्य है कि ब्राह्मणवादी वर्णजातिपरक समाज-संरचना के विरुद्ध खड़े होने वाले आंदोलनों के सिद्ध-सन्त-नाथ और भक्त कवि अपने को "ना हिन्दू ना मुसलमान" कहते थे। नाथपंथ और उससे प्रेरित कबीर जैसे सन्त, "ब्राह्मण-मुल्ला" दोनों पुरोहित वर्गों पर प्रहार करते हैं क्योंकि वे साफ़-साफ़ देख

---

1. —"Contributian to the critique of Hegel's Philosophy of Law.
—Marx

रहे थे कि अमानवीय दम्भ और पाखण्ड का आधार सीढ़ीदार समाज हैं जो हिन्दू-मुसलमान, दोनों में प्रतिष्ठित है और उसी से करोड़ों लोगों को दलित-दमित होना पड़ता है। भक्ति के माध्यम से इस हीनभाव और उक्त हेय समाज की बुनावट पर प्रहार पर प्रहार किए गए।

यह भी देखा जाना चाहिए कि सिद्धों-नाथों और सन्त कवियों (कबीर, नानक, दादू) में पुनरुत्थानवादी स्वर नहीं मिलते जबकि ब्राह्मणवादी स्मार्त्तपरम्परा के भक्तकवियों में वे मिलते हैं। तुलसीदास स्मार्तवैष्णव थे अतः उनमें भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता और अस्तित्व की चिंता अधिक है। वह मानस में, जिस मनोराज्य या युटरोपिया की रचना करते हैं, वह सवर्णहिन्दू समाज का आदर्श बन गया किन्तु उसमें वर्ण व्यवस्था का पारम्परिक विन्यास बिलकुल स्पष्ट है। वह स्मृतियों पर आधारित है अतः नारी और शूद्र के प्रति, रामचरित मानस तथा अन्यत्र, स्मार्त दृष्टि ही बुनी गई है। भक्ति के क्षेत्र में सुविधा देकर भी तुलसीदास, समाज के वास्तविक आधार और व्यवहार में नारी और श्रमिक वर्ग को निम्न स्थान ही देते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने ऐसी चौपाइयों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है, वह प्रामाणिक नहीं है क्योंकि उन्होंने यह नहीं देखा कि स्मार्त-वैष्णव तुलसीदास, सामाजिक क्षेत्र में स्मृतियों के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। तुलसी के राम भीलों और निषादों के प्रति उदार अवश्य थे पर वे वर्ग-व्यवहार में उन्हें बराबरी नहीं दे सकते थे।

अतएव यह दिलचस्प चीज़ है कि रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा रामविलास शर्मा, भिन्न विचारधारा के पक्षधर होने पर भी, ब्राह्मणवादी-वर्णवादी भारतीय समाजव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने वाले सिद्धों-नाथों और सन्तकवियों को वह महत्व नहीं देते जो हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव और समकालीन वामपंथी विचारक देते हैं।

भक्तिकालीन उक्त दो धाराओं की सामाजिक दृष्टि से टकराव के अतिरिक्त उसकी एक भूमिका सामासिक-संस्कृति (कम्पोज़िट कल्चर) की रचना से भी सम्बन्धित है। मानवप्रेम ही नहीं, जीवमात्र के प्रति प्रेम और अहिंसा के पक्षधर होने के कारण सभी सन्त और भक्त कवि, आक्रान्ता विदेशियों की कठोरता और बर्बरता के विरुद्ध उन्हें प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं। और उन्हें "म्लेच्छ" समझने वाले उच्चवर्णों को सर्ववाद के आधार पर अपनाने की पेशकश करते हैं। इस एकता और अपनत्व का वातावरण बनाने में कृष्णभक्तों, सूफ़ियों एवम् सन्तकवियों की भूमिका प्रशंसनीय है। यों समानान्तर साँस्कृतिक धाराओं और विश्वासों की टकराहट और घृणा को कम करते हुए, परस्पर विरोधी समुदायों, आक्रान्तों और आक्रान्त को निकट लाकर, एक मिलीजुली संस्कृति के निर्माण के ऐतिहासिक महत्व के कार्य में हमारे सन्त-भक्ति कवियों ने अद्भुत योगदान किया है।

इस सन्दर्भ में कृष्णभक्तों, विशेषकर सूरदास के सामाजिक योगदान को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पूरी तरह पसन्द नहीं कर सके। कृष्णभक्तिमार्ग में जो प्रेम की तल्लीनता थी, उसका प्रभाव मुस्लिम समाज पर मर्यादावादी राम-भक्ति की तुलना में, अधिक था अतः संगीत और भक्ति के समन्वय की परम्परा आजतक मुसलमान गायकों में चली आ रही है। राधाकृष्ण या गोपीकृष्ण के मुक्त-प्रेम को जीव और आत्मा का प्रतीक मानकर, सूफ़ी और अन्य साधकों तथा कवियों में मानव-प्रेम के गायन का सिलसिला अभी भी अटूट है।

दो राष्ट्रों के भ्रामक और संकीर्ण सिद्धान्तों ने इस सामासिक-संस्कृति पर कुठाराघात किया और देश का विभाजन हो गया किन्तु विभाजन के बाद भी जन-साधारण, सूफ़ी साधकों और भक्तों में अभी भी भविष्य के समाजवादी समाज की संरचना का आधार यही सामासिक-साँस्कृतिक नैरन्तर्य बनेगा।

इस प्रकार भक्तिकाल को हमें साँस्कृतिक पुनर्जागरण (रिनेसाँ) के रूप में देखना चाहिए, जिसमें वर्णजातिवादी, पृथकतावादी रुझानों के विरुद्ध एक देशव्यापी विराट जन-आन्दोलन हुआ, जिसमें संस्कृत और फ़ारसी की जगह देषभाषाओं को इस मानवतावादी (Humanist) भाव-स्पन्दन का माध्यम बनाया गया और कला, साहित्य, संगीत और स्थापत्य में समानान्तरता के स्थान पर सामासिकता या मिले-जुलेपन का प्रयोग हुआ।

आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के विकास से मनुष्य मिथकीय-धार्मिक संसार से मुक्त होकर बौद्धिक-वैज्ञानिक संसार में आया और धर्मनिरपेक्ष-समाजवादी जनतंत्र के विकास की नींव पड़ी। यह आधुनिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पारम्परिक धर्मानुमोदित विश्वासों और मूल्यों से टकराता है। पुनरुत्थानवादी या कंज़र्वेटिव विचारधाराओं के विरुद्ध वैज्ञानिक समाजवादी विश्वबोध का द्वन्द्व आज तीव्र हो रहा है।

प्रश्न यह है कि धर्म और ईश्वर पर आधारित भक्तिकाल की समाजवैज्ञानिक संदर्भ में क्या प्रासंगिकता है?

एक तो, सामासिक संस्कृति के निर्माण का बिन्दु भक्तिकाल की प्रासंगिकता सिद्ध करता है, दूसरे पूँजीवाद के अभ्युदय और विकास के सन्दर्भ में जो आज सर्वत्र व्यावसायिकता और उपभोग का वातावरण वन रहा है; मानवमूल्यों का जो ह्रास हो रहा है; मनुष्य और उसका सृजन, जिस प्रकार क्रय-विक्रय का पण्य बन रहा है, उसके विरुद्ध हमारे मूल्यगत संघर्ष में भक्तिकालीन उच्चकोटि का मानव-प्रेम, आदर्शप्रियता और परोपकार, त्याग एवम् उत्कृष्टता के विचार और व्यवहार हमारी मदद कर सकते हैं।

यह ग़ौरतलब बात है कि आदर्शच्युत, उपभोक्ता-समाज (Consumer Society) में मूल्यगत अराजकता का आना अनिवार्य है अतएव ग़लत और ग़लीज़ आधुनिकता के नाम पर आज के पूंजीवादी समाज में, जो रीतिकालीनता बढ़ रही

है, उसके विरोध के लिए हमारे भक्तिकालीन ऊँचे मूल्य स्वयंमेव प्रासंगिक और समकालीन हो जाते हैं। अब यह हम पर है कि भक्तिकालीन विश्वासों को उसके धर्मनिरपेक्ष मानव-मूल्यों से विलग कर मानवीय सहृदयता, उदारता, प्रेम, सद्भावना और सहिष्णुता जैसे मूल्यों का अपने व्यवहार में प्रयोग करें और अपनी कला और साहित्य में उनका विनियोग करें तो भक्ति काल की वर्तमानता सिद्ध हो सकती है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने जिस शवसाधना की ओर संकेत किया था, वह यही है कि हम अपने उज्ज्वल भूतकाल के अंधविश्वासों और मज़हबी मानसिकता को छोड़ कर, उसका श्रेष्ठ और वरेण्य अंश अपनाएँ और इस तरह व्यक्तिवादी और सामंतवादी-पूँजीवादी समाज और मूल्यों का ढाँचा तोड़कर, समाजवादी समसमाज का निर्माण करें, जिसमें मूल्य मनुष्य का हो, पूँजी, शोषण, संग्रह और दमन का बहिष्कार हो।